ॐ

परमात्मने नमः ।

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. 26

योगसार प्रवचन

(भाग-२)

श्रीमद् योगीन्द्रदेव विरचित योगसार शास्त्र पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ६९ से १०८ तक)

हिन्दी अनुवाद व सम्पादन :
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, विलेपार्ले, मुम्बई के अवसर पर दिनांक 17 मई से 22 मई 2015 तक)

ISBN No. : 978-81-907806-7-4

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
ए-4, बापू नगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर कुन्दकुन्द कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

(द्वितीयावृत्ति)

अनन्त कालचक्र के प्रवाह में अनादि काल से अनुत्पन्न-अविनष्ट ऐसे अनन्त जीव, भव दु:ख से पीड़ित हैं। आधि-व्याधि, उपाधि से त्रस्त और शारीरिक तथा मानसिक दु:ख से दु:खित आत्माओं को सच्चा सुख और दु:ख-मुक्ति का उपाय प्राप्त नहीं हुआ है - एक ओर यह परिस्थिति है, जबकि दूसरी ओर इसी दु:ख से छूटने का उपाय शोधनेवाले अनेक सन्त भी कालचक्र के प्रवाह में होते आये हैं। जिनके द्वारा प्रतिपादित सच्चे सुख का मार्ग अंगीकार करके अनेक जीव शाश्वत् सुख को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

दोषरूप विभावभावों के साथ दु:ख और मलिनता का होना अनिवार्य परिस्थिति है। दोषरूप विभावभावों का मूल कारण खोजकर ज्ञानी-धर्मात्माओं ने उसे मिटाने का उपाय ढूँढ़कर निष्कारण करुणा से उसे जगत् के समक्ष रखा है। ऐसे ही कालचक्र के प्रवाह में वर्तमान शासन नायक अन्तिम तीर्थादिनाथ भगवान महावीर के शासन में होनेवाले दिगम्बर आचार्य, मुनि-भगवन्त एवं ज्ञानी-धर्मात्माओं ने इस मार्ग को अपनी अनुभवपूर्ण सशक्त लेखनी द्वारा ग्रन्थारूढ़ किया है।

प्रस्तुत प्रवचन के ग्रन्थ रचयिता श्रीमद् भगवत् योगीन्द्रदेव लगभग 1400 वर्ष पहले हो गये हैं। ग्रन्थ रचयिता आचार्य भगवान का विशेष इतिहास उपलब्ध नहीं है परन्तु उनकी कृतियों के अवलोकन से इतना नि:सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य भगवान प्रचुर स्वसंवेदन में झूलनेवाले अध्यात्मरसिक महासन्त हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा पूज्यपाद आचार्य आपके प्रेरणास्रोत रहे हों, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीमद् योगीन्द्रदेव की अन्य कृति परमात्मप्रकाश भी अध्यात्मरस से भरपूर है, जिसमें उनका अतीन्द्रिय स्वसंवेदन का रस झलक रहा है। आपश्री के द्वारा रचित अन्य कृतियाँ - नौकार श्रावकाचार, अध्यात्म सन्दोह, सुभाषिततन्त्र, तत्त्वार्थटीका भी सर्व मान्य है। इन सबमें योगसार ग्रन्थ महत्वपूर्ण माना जाता है।

योगसार ग्रन्थ में संसार परिभ्रमण से भयभीत जीवों को सम्बोधन करने के लिए ग्रन्थ रचना की गयी है, जो रचनाकार प्रारम्भ में ही बतलाते हैं। तत्पश्चात् शास्त्र के अन्तिम भाग में अपनी भावना के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने का सौभाग्य ब्रह्मचारी पण्डितश्री शीतलप्रसादजी ने प्राप्त किया है। जीव, संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर स्व-स्वरूप का अवलम्बन ग्रहण करे, इस मुख्य उद्देश्य को प्रकाशित करते हुए

प्रत्येक दोहे की रचना की गयी है। जिसमें अन्तरात्मा, बहिरात्मा, परमात्मा का स्वरूप; आत्मज्ञानी ही निर्वाण का पात्र है; तप का स्वरूप; परिणामों से बन्ध-मोक्ष; पुण्यभाव का निषेध; मूल आत्मस्वरूप का अस्ति-नास्ति से वर्णन; सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र का महत्त्व इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों को दर्शाते हुए इन दोहों की रचना की गयी है।

अतीन्द्रिय आनन्द की कलम और शान्तरस की स्याही से लिखे गये अमृत से भरपूर इन ग्रन्थों के वचनों का रसपान करानेवाले, इन आगमों में समाहित गूढ़ अध्यात्मरहस्यों का उद्घाटन करनेवाले, मूल मोक्षमार्ग-प्रकाशक, निष्कारण करुणामूर्ति, सिंहवृत्तिधारक, उन्मार्ग का ध्वंस करनेवाले और जैनधर्म के प्रणेता, विदेहीनाथ सीमन्धर भगवान का दिव्य सन्देश लाकर भरत के जीवों के तारणहार बनकर पधारे इन दिव्यदूत, दिव्यपुरुष, सुषुप्त चेतना को जागृत करनेवाले अनन्त गुण से दैदीप्यमान गुणातिशयवान्, मंगलकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अनेक दिगम्बर सन्तों द्वारा रचित शास्त्रों पर प्रवचन किये हैं। उनमें योगसार ग्रन्थ भी एक है। योगसार ग्रन्थ संक्षिप्त में लिखा होने पर भी उसमें मूल परमार्थ किस प्रकार रहा है, उस पर पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश डालकर हम सब पर अनन्त उपकार किया है।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के शब्दों में कहें तो पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का अचम्भा / आश्चर्य है! पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारों का वर्णन मर्यादित कलम शक्ति में समाविष्ट हो सके - ऐसी सामर्थ्य नहीं है। रूपी द्वारा अरूपी का कितना वर्णन हो! जड़ द्वारा चैतन्य की कितनी महिमा हो! अतः पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचनों को हृदयंगम करके, उनके द्वारा दर्शाये गये मार्ग पर चलना ही उनके प्रति यथार्थ उपकार व्यक्त किया कहलायेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रवचन अक्षरशः प्रकाशित हो - ऐसा प्रस्ताव हमारे समक्ष आने पर हमने सहर्ष स्वीकार किया और शीघ्र प्रकाशित करने की भावना के साथ - ऐसा निर्णय लिया गया कि पूज्य गुरुदेवश्री के जितने प्रवचन हुए हैं, वे सब अक्षरशः ग्रन्थारूढ़ करना है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में अनेक जिनमन्दिर हुए, प्रतिष्ठाएँ हुईं, प्रवचन हुए और जैनधर्म का मूल में से उद्योत हुआ। पामर में से परमेश्वर होने का मार्ग, दोष पर विजय प्राप्त करके, जैन होने का मार्ग जयवन्त रहे तथा पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी शाश्वत् रहे ऐसी हमारे ट्रस्ट की भावना तथा मुख्य उद्देश्य के साथ योगसार प्रवचन, भाग-2 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

योगसार ग्रन्थ में कुल 108 गाथाएँ हैं और उन पर पूज्य गुरुदेवश्री के 45 प्रवचन हुए हैं। प्रस्तुत योगसार प्रवचन, भाग-2 में 21 प्रवचन अवतरित किये गये हैं। जिनमें गाथा 69 से 108 तक का समावेश होकर ग्रन्थ पूर्ण होता है। प्रारम्भ के 24 प्रवचन योगसार प्रवचन, भाग-1 में प्रकाशित किये गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की मूल वाणी तथा भाव यथावत् प्रकाशित रहे तदर्थ सी.डी. में से अक्षरशः उतारकर, जहाँ आवश्यकता लगी वहाँ कोष्ठक भरकर वाक्य रचना पूर्ण की गयी है। जहाँ स्पष्टरूप से सुनाई नहीं दिया वहाँ डॉट (.....) करके रिक्त स्थान छोड़ा गया है। प्रवचनों का सम्पादन कार्य पूर्ण होने के बाद प्रवचनों को सी.डी. के साथ मिलाने का कार्य चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा किया गया है। इन प्रवचनों का हिन्दीभाषी मुमुक्षु समाज भी अधिक से अधिक लाभ ले तथा पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन सुनते समय इस प्रकाशन का उपयोग कर सके। इस भावना से इस प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। तदर्थ संस्था आपका सहृदय आभार व्यक्त करती है। इसी द्वितीय संस्करण में, पूर्व प्रकाशन में रही हुई अशुद्धियों को यथासम्भव दूर कर दिया गया है; फिर भी यदि कोई अशुद्धि ज्ञात हो तो सूचित करने का अनुरोध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः योगसार अर्थात् निजस्वरूप के साथ जुड़ान करना, उसका सार। ऐसे नवनीत समान, भव्य जीवों के लिए प्रकाशस्तम्भ समान, प्रस्तुत प्रवचनों का मुमुक्षुजीव रसास्वादन करके भवसागर से पार हो जायें – इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

सम्पादकीय

परम पूज्य श्रीमद् योगीन्द्रदेव द्वारा रचित योगसार शास्त्र पर, अध्यात्ममूर्ति जीवनशिल्पी अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस से भरपूर योगसार प्रवचन का शब्दश: हिन्दी प्रकाशन साधर्मीजनों को स्वाध्याय हेतु समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वीतरागी सन्तों की पावन परम्परा में हुए श्रीमद् योगीन्द्रदेव, अध्यात्म के ख्याति प्राप्त आचार्य हैं, किन्तु स्वरूपगुप्त आचार्य के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट उल्लेख के अभाव में उनके जीवन के सन्दर्भ में उनके अन्तरंग के अतिरिक्त उनकी कृतियाँ ही एकमात्र सहारा हैं। जिनके परिशीलन एवं अन्य सन्दर्भों के आधार पर श्रीमद् योगीन्द्रदेव का समय ईसा की छठवीं शताब्दी ज्ञात होता है। आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थों की रचना तत्कालीन अपभ्रंश भाषा में करके उन्हें जनसामान्य के लिए अधिक उपयोगी बनाया है।

आचार्य योगीन्द्र कृत परमात्मप्रकाश, योगसार एवं नौकार श्रावकाचार (अपभ्रंश) तथा अध्यात्म संदोह, सुभाषिततन्त्र व तत्वार्थ टीका (संस्कृत) सर्वमान्य रचनाएँ हैं, साथ ही दोहापाहुड़ (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) तथा निजात्माष्टक (प्राकृत) – ये तीनों रचनाएँ भी आपके नाम पर प्रकाश में आयी हैं, किन्तु इन तीनों के रचनाकार ये ही योगीन्द्र हैं या अन्य कोई – यह अभी तक शोध–खोज का विषय है।

प्रस्तुत योगसार ग्रन्थ 108 दोहों की संक्षिप्त किन्तु सारभूत रचना है। आचार्यदेव के अनुसार जो जीव भवभ्रमण से भयभीत हैं, उनके लिए इस ग्रन्थ की रचना की है; साथ ही अन्तिम दोहे में आत्मसम्बोधन हेतु दोहे रचना का उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों की सरल भाषा में अभिव्यक्ति की गयी है। वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा चर्चित अध्यात्म के अनेक विषयों का इसमें स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है।

पुण्य–पाप की एकता के सन्दर्भ में पुण्य को भी पाप कहनेवाला कोई विरला ही होता है (दोहा 71) – यह उल्लेख पुण्यभाव में धर्म माननेवाले अज्ञानी जीव को सही दिशा बोध देता है।

इस ग्रन्थ में आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन, श्री पूज्यपादस्वामी के समाधितन्त्र का एवं अन्य आध्यात्मिक विषयों का समावेश भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का योगीन्द्रदेव पर प्रभाव परिलक्षित करता है।

जिन्होंने इस कलिकाल में लुप्त प्राय: आध्यात्मिक विद्या को अपने सातिशय दिव्यज्ञान एवं अध्यात्म रस झरती मंगलवाणी से पुनर्जीवित किया है – ऐसे निष्कारण करुणामूर्ति स्वात्मानुभवी सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सन् 1966 में इस ग्रन्थ पर अत्यन्त भाववाही 45 प्रवचन किये हैं, जिनका संकलनरूप प्रकाशन 'हूँ परमात्मा' तथा 'आत्म सम्बोधन' नाम से प्रकाशित हुआ है।

वर्तमान समय में परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के 9200 प्रवचन श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई के सत्प्रयत्नों से सी.डी./डी.वी.डी. में उपलब्ध हैं और देश-विदेश के अनेक मुमुक्षु मण्डलों में सामूहिक तथा व्यक्तिगतरूप से भी अनेक साधर्मी इन प्रवचनों का रसपान करते हैं। विगत कुछ दिनों से इन प्रवचनों के शब्दश: प्रकाशन की उपलब्धता ने इस कार्य को गति प्रदान की है और सभी लोग सरलता से पूज्यश्री की वाणी का अर्थ समझ रहे हैं। अत: योगसार प्रवचन सुनते समय सबके हाथ में यह प्रवचन ग्रन्थ रहे और सभी जीव गुरुवाणी का भरपूर लाभ लें – इस भावना से प्रस्तुत प्रकाशन किया जा रहा है।

इस प्रकाशन में ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाइप में दिया गया है; आवश्यकतानुसार पैराग्राफ का प्रयोग किया गया है। यदि कहीं वाक्य अधूरा रह गया हो तो उसे कोष्टक भरकर अथवा डॉट (..........) का निशान बनाकर प्रस्तुत किया है। यदि आप इस ग्रन्थ को सामने रखकर सी.डी. प्रवचन सुनेंगे तो आपको निश्चित ही कई गुना लाभ होगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के अनुवाद का उत्तरादायित्व प्रदान करने हेतु प्रकाशक ट्रस्ट के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले—**'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञान -दीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ—यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी

श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे ! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से

2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। 2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। 3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। 4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। 5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। 6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। 7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। 8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। 9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। 10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दोहा नं.	दिनांक	पृष्ठ नं.
25	69 से 71	04.07.1966	1
26	71 से 74	05.07.1966	21
27	74 से 75	06.07.1966	40
28	76 से 77	07.07.1966	61
29	77 से 80	08.07.1966	80
30	80 से 82	09.07.1966	99
31	82 से 83	10.07.1966	119
32	84 से 85	12.07.1966	138
33	85 से 86	13.07.1966	159
34	86 से 87	14.07.1966	179
35	88 से 89	15.07.1966	200
36	89 से 90	16.07.1966	220
37	91 से 92	17.07.1966	241
38	93	19.07.1966	260
39	93 से 94	20.07.1966	279
40	95 से 96	21.07.1966	299
41	97 से 98	22.07.1966	319
42	99 से 100	23.07.1966	339
43	100 से 103	24.07.1966	359
44	104 से 106	26.07.1966	380
45	106 से 108	27.07.1966	399

ॐ

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

योगसार प्रवचन

(भाग - दो)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के योगसार पर हुए धारावाहिक प्रवचन

जीव सदा अकेला है

उक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भंजइ इक्कु।
णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

जन्म-मरण एक हि करे, सुख-दुःख वेदत एक।
नरक गमन भी एक ही, मोक्ष जाय जीव एक॥

अन्वयार्थ - **(इक्क उपज्जइ मरइ कु वि)** जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है **(इक्कु दुहु सुहु भुजंइ)** अकेला ही दुःख या सुख भोगता है **(इक्क जिय णरयहं जाइ वि)** अकेला ही जीव नरक में ही जाता है **(तह इक्कु णिव्वाणहँ)**तथा अकेला जीव ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण २, सोमवार, दिनाङ्क ०४-०७-१९६६
गाथा ६९ से ७१ प्रवचन नं. २५

योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि भरतक्षेत्र में बहुत सैंकड़ों वर्ष पूर्व हुए, उन्होंने यह

'योगसार' बनाया है। योगसार, अर्थात् ...इस आत्मा का शुद्ध स्वभाव, पवित्र अनादि है, उसमें एकाकार होना, वह धर्म का सार है। कुछ समझ में आया? आत्मा... देखो! ६९ में यह आता है - **जीव सदा अकेला है।**

उक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भंजइ इक्कु।
णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

देखो! क्या कहते हैं? **जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है।** अकेला जीव मरता है, देह छूटती है तो स्वयं को अकेले को ही मरना पड़ता है। कोई स्वजन, परिवार साथ नहीं आ सकता और अकेला जन्मता है। जन्म में भी कोई साथ नहीं है। पूर्व के कोई कुटुम्बी, उनके लिए पाप किये हों तो साथ कोई आता है? नरक में जन्म ले, पशु में जन्म ले; स्वयं अकेला जन्मता है और अकेला मरता है, कोई साथ में नहीं है।

इक्क जिप णरयहं जाइ - जैसे भाव किये हों, वैसे अपने भाव लेकर नरक में जाता है। अकेला नरक में जाता है, कोई कुटुम्ब-परिवार साथ नहीं आता। मैंने तुम्हारे लिए पाप किये, हमारे साथ तो चलो! और **इक्क णिव्वाणहं - तथा अकेला जीव फिर निर्वाण पाता है।** अपना शुद्धस्वरूप, परमानन्द परमस्वरूप, उसकी एकत्वबुद्धि / दृष्टि एकान्त निर्मल करके, अपने स्वभाव में स्थिर होकर आत्मा अपने से स्वयं से अकेला मोक्ष में जाता है। कहो, समझ में आता है? कोई गुरु भी साथ में नहीं आते, केवली भी साथ में नहीं आते, शास्त्र साथ में नहीं आते, संघ साथ में नहीं आता; अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसको पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके, निज स्वरूप में एकत्व करके अपना आत्मा ही अपने को निर्वाण प्राप्त कराता है, उसमें किसी की मदद-सहायता नहीं है। कहो, समझ में आता है?

यहाँ एकत्व भावना का विचार किया गया है। इस श्लोक में एकत्व भावना - मैं अकेला हूँ - (उसका विचार किया है।) **इस जीव को अकेले.. जन्मना और अकेले ही मरना पड़ता है। प्रत्येक जन्म में माता-पिता, भाई-बन्धु इत्यादि मित्रों और अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों का संयोग होता रहा और छूटता रहा है।** अनेक जन्मों में कुटुम्ब का संयोग हुआ और संयोग छूट गया, स्वयं तो अकेला ही रहा, कोई साथ नहीं आया - ऐसा जानकर अपने स्वरूप का अन्तर साधन करना - यह कहते हैं। योगसार

है न ? समझ में आया ? **इस जीव को अकेले ही सबको छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ा। एक पाप-पुण्य कर्म ही साथ रहा।** जैसा पुण्य और पाप किया, वे साथ आये, दूसरा तो कोई साथ आता नहीं।

कर्मों का बन्ध अकेला ही भोगता है। समझ में आया ? शास्त्र में-कथा में-एक दृष्टान्त है कि छोटे भाई के लिये बड़े भाई ने बहुत पाप किये थे। छोटा भाई रोगी था, बड़ा भाई उसे माँस, अण्डे लाकर खिलाता, उसे पता नहीं कि यह माँस है, फिर बड़ा भाई मरकर नरक में गया और छोटा भाई जम, परमाधामी हुआ। दोनों सगे भाई, जिसके लिये पाप किये थे वह मरकर परमाधामी हुआ, पाप करनेवाला नारकी हुआ। (परमाधामी उसे) मारता है। अरे... ! भाई ! परन्तु मैंने तेरे लिये किया था न ! मेरे लिये (करने का) कौन कहता था ? तुम्हारे लिये मैंने पाप किये थे और तेरे लिये कुपथ्य / अण्डा लाकर दिये थे, माँस, लाकर दिया, मछली का माँस दिया, यह हलुआ है – ऐसा कहकर मैंने दिया था। (तो परमाधामी कहता है) मुझे तो पता नहीं, तूने ऐसा क्यों किया ? मैं तो परमाधामी हुआ हूँ, इसलिए मैं तो मारूँगा। समझ में आया ? यह पुण्य और पाप जैसे शुभाशुभ (भाव) किया है (वे) अकेले को भोगना पड़ते हैं।

परिवार के लिये करे तो कहते हैं **नरक आयु का बन्ध पड़ता है तो यह जीव अकेले ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ता है। कोई कुटुम्बीजन उसके साथ नहीं आ सकता।** आ सकता है कोई ? और **अपने साथ कोई मित्र-स्त्री, पुत्र को नहीं ले जा सकता।** भाई ! चलो, तुम मेरे अत्यन्त नजदीकी मित्र थे, साथ तो आओ, साथ तो आओ ! हम तो पचास-साठ-साठ वर्ष साथ रहे, स्त्री-पत्नी साठ-सत्तर वर्ष साथ रहे, लो ! चलो मैं जाता हूँ, तुम भी साथ आओ। **हर एक जीव की सत्ता निराली है।** किसी की सत्ता किसी के साथ (मिली हुई) नहीं है। जिसने जैसे भाव किये वैसा वह (भोगता) है।

कर्मों का बन्ध निराला है भावों का पलटना निराला है... समस्त जीवों का कर्मबन्धन निराला और भावों का (पलटना) भी निराला और **साता और असाता का भोगना निराला है।** ठीक है, रतनचन्दजी ! सबका निराला ? पत्नी पचास-साठ-सत्तर वर्ष साथ रहे तो भी (निराला) ?

मुमुक्षु : सब साथ होकर भोगेंगे ?

उत्तर : सब साथ होकर भोगेंगे या नहीं? ऐ...ई... धूल में भी नहीं भोगते, सब अपने राग को भोगते हैं, भिन्न-भिन्न राग करके भोगते हैं, पैसा कहाँ भोगते हैं? पैसा कोई खा जाता है? आहा...! देखो।

चार भाई हों तो एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। चार भाईयों का दृष्टान्त दिया है। है? इसमें? **चार भाई हों तो एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगता है।** देखो, सांसारिक सुख भोगता है अर्थात् दु:ख (भोगता है)। **एक निर्धन होकर कष्टपूर्वक जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान् होकर देश प्रसिद्ध हो जाता है...** विद्वान् होवे तो देश में प्रतिष्ठा होती है। उसमें क्या? **एक मूर्ख रहकर सबसे निरादर पाता है।** चार भाई के चार (प्रकार)। श्रेणिक, अभयकुमार, एक साथ जीमते थे। बहुत प्रीति थी, श्रेणिक राजा को अभयकुमार के प्रति बहुत प्रीति थी और वह तो दीवानपने का काम करता था और बहुत बुद्धिमान। अभयकुमार की बुद्धि हो ऐसा बनिये लिखते हैं या नहीं? बहियों में लिखते हैं।

मुमुक्षु : ग्राहक को सम्हालना आता है?

उत्तर : सम्हालना क्या आता है? वह बुद्धिवाला था तो यह कहे हमको बुद्धि दो। किसकी बुद्धि? तुम्हें ऐसे मिल जाती होगी?

कहते हैं, उस अभयकुमार के प्रति कितनी प्रीति थी। अभयकुमार स्वर्ग में गया, श्रेणिक राजा नरक में गया। समझ में आया? एक साथ भोजन करते थे। एक नरक में गया-एक स्वर्ग में गया, कोई मोक्ष में गया। समझ में आया? दूसरे राजकुमार साथ में थे, वे मोक्ष में गये। जैसी अपनी पर्याय करते हैं, वैसा उसका फल मिलता है। एक साथ भोजन करनेवाले... शास्त्रपाठ भेद ऐसा है। एक साथ भोजन करनेवाले भी शास्त्रपाठ में भेद, एक नरक में जाते हैं और एक मोक्ष में जाते हैं - ऐसा देख। मांगीरामजी! क्या कहते हैं? देखो! कहते हैं, तू अपने परिणाम सुधार और अपना आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है - ऐसी दृष्टि करके आत्मा का ध्यान अनुभव कर, यही मोक्ष का उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया?

जब रोग आता है, तब इस जीव को उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है।

पास में बैठनेवाला भी इस वेदना को नहीं भोग सकता है। पास में बैठे हो न? हाथ फेरे, हाथ। रोग का थोड़ा भाग वह ले या नहीं? कौन ले? समझ में आया? **संसार के कार्यों में भी इस जीव को अकेला ही वर्तना पड़ता है।** संसार में भी अकेला ही वर्तता है न? **सब ही संसारी जीव अपने-अपने स्वार्थ के साथी हैं। स्वार्थ न सधने पर स्त्री-पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते हैं।** स्वार्थ न हो तो छोड़ देते हैं। नहीं, उसमें कुछ है नहीं। कमाते थे, तब तक ठीक है, अब कमाते नहीं। ठीक है या नहीं? मांगीरामजी!

मुमुक्षु : ....

उत्तर : सब होवे तो सबको ऐसा ही है। तुमको एक को 'महासुख' को छोड़े तो क्या हो गया? उसे भी अन्दर में तो ऐसा ही होता है। कहो, समझ में आया... आहा...हा...!

दूसरों के असत्य मोह में पड़कर पापकार्य नहीं करना चाहिए...। नौका में पथिकों के समान सर्व संयोगों को छूटनेवाला अस्थिर मानना चाहिए। एक नौका में सब बैठे हों, सब पथिक अपने-अपने घर चले जाते हैं, अपने गाँव में चले जाते हैं। साथ बैठे हों वे सब एक गाँव में जाते हैं, ऐसा है? एक नौका में बैठे हों तो एक व्यक्ति एक गाँव में जाता है, दूसरा दूसरे गाँव में जाता है, तीसरा तीसरे में; ऐसे ही एक घर में पच्चीस व्यक्ति आये एक जाता है नरक में, एक जाता है स्वर्ग में, एक जाता है मोक्ष में। जैसा अपना आत्मा का पुरुषार्थ करे वैसा उसका फल मिलता है। किसी का साथ -सहायक नहीं है। समझ में आया?

इसलिए राग-द्वेष-मोह न करके समभाव में रहना चाहिए। ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें दया-दान आदि विकल्प भक्ति-यात्रा का (भाव) आवे वे सब पुण्यभाव हैं, वे धर्मभाव नहीं हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, वह पाप है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, यात्रा पुण्य है। दोनों राग से अपना आत्मा भिन्न है – ऐसा जानकर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ध्यान करना, वही अपनी शुद्धि की वृद्धि का कारण है। वही मोक्ष का कारण है। कहो, समझ में आया?

यदि रत्नत्रयधर्म का सम्यक् प्रकार से आराधना करे तो आप ही अकेला

निर्वाण पा सकता है। संसार के समस्त परिवारी नरक में जायें, चार गति में जाये, भले जाओ, आत्मा - अपना शुद्धस्वरूप चैतन्यमूर्ति है। समझ में आया? अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है — ऐसी उसकी रुचि / दृष्टि करके, आत्मा का ज्ञान करके आत्मा में ही लीन होना, वही रत्नत्रय एक ही मोक्ष का कारण है। वह रत्नत्रय स्वयं से होता है; किसी दूसरे से नहीं होता। अपने आत्मा के आश्रय से होता है, उसमें किसी की सहायता नहीं है; भगवान — देव-गुरु-शास्त्र भी उसमें मदद नहीं करते। समझ में आया?

एक व्यक्ति भगवान के मन्दिर में माला जपता था। 'सनोसरा' वाले अमरचन्दभाई थे न? अमरचन्दभाई थे, उमराला रहते थे न? अमरचन्दभाई विसाश्रीमाली, वे वहाँ मन्दिर में माला जपते थे, वहाँ मर गये। इसलिए ऐसा कि ओ...हो...! मन्दिर में मरे। मन्दिर में (मरे) तो क्या हुआ? माला जपते हों तो शुभभाव है, उससे पुण्य है। समझ में आया? वह धर्म-वर्म है नहीं। लोग कहते हैं ओ...हो...! बहुत भाग्यशाली हैं! ऊपर से मुर्दा उतारा। वहाँ भगवान के मुख्य मन्दिर में मर गये थे। माला जपते थे, वहीं देह छूट गयी। यह 'सनोसरा' के थे न? अमरचन्दभाई थे, विसाश्रीमाली, मन्दिरमार्गी। वहाँ रहते और मकान यहाँ था। हमारे उमराला में मकान बनाया, यहाँ आते थे। उन्हें लेकर 'सनोसरा' गये थे, ऊपर से मुर्दा उतारा तो लोग कहते हैं, ओ...हो...! सिद्धगिरि में रखे। सिद्धगिरि में (मरे परन्तु) नरक में जाये, उसमें क्या है? सिद्धगिरि में मरे और नरक में जाये। धीरूभाई! और साधारण शुभभाव होवे तो पुण्य बाँधे, उसमें कहीं कल्याण हो जाये, जन्म-मरण का अन्त आवे - (ऐसा नहीं है।) भगवान के समक्ष बैठा हो तो भी जैसा राग करे वैसा बन्ध पड़ता है। समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव से मेरी चीज भिन्न है। मेरी चीज ही भिन्न है — ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करे तो उसे रत्नत्रय प्रगट होने पर उसकी मुक्ति होती है, दूसरे किसी उपाय से मुक्ति नहीं है।

प्रत्येक जीव का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे जीव से निराला है। ठीक है? क्या कहा? प्रत्येक जीव-प्रत्येक जीव, उसका द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न और भाव भिन्न है। **प्रत्येक जीव परम शुद्ध है।** लो, उतारा है सही, कहीं दूसरा उतारा होगा, ठीक है। उसमें उतारा है, सत्तर में उतारा है — द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव उतारा है। प्रत्येक जीव

का परमधर्म शुद्ध है। **प्रत्येक जीव परम शुद्ध है, न उसे आठ कर्मों का संयोग है, न शरीर का संयोग है, न विभावभावों का संयोग है।** पुण्य पाप के दया-दान के भाव ये भी संयोगी चीज है; आत्मा की नहीं। वे सब विभाव परभाव हैं। ऐसे अपने अकेले स्वभाव की दृष्टि करके विचारना और **मैं सिद्ध के समान शुद्ध-निरञ्जन और निर्विकार हूँ।** इस प्रकार अपने को अकेला जानकर **अपने स्वभाव में मग्न रहना चाहिए।** श्रद्धा -ज्ञान करके स्थिर रहना, वही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई धर्ममार्ग नहीं है।

अन्त में भी कहा है, देखो! 'वृहद् सामायिक' पाठ है न? बड़ी सामायिक का पाठ है। **तू मूढ बनकर यह मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूँ, रूपवान हूँ, मजबूत शरीर हूँ, पतला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुंसक हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ।**

तू अपने आत्मा को नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी,... (है) भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभाव, चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द **सर्व दुःखरहित अविनाशी द्रव्य है।** नाश न हो ऐसा पदार्थ है, ऐसे पदार्थ की अन्तरदृष्टि करके रत्नत्रय प्रगट करना, वह स्वयं का स्वतन्त्र कारण है। उसमें किसी की सहायता नहीं है।

☆ ★ ☆

निर्मोही हो आत्मा का ध्यान कर

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि॥ ७०॥

यदि जीव तू है एकला, तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाय॥

अन्वयार्थ - **(जइ एक्कुलउ जाइसिहि)** यदि तू अकेला ही जायेगा **(तो परभाव चएहि)** तो राग, द्वेष, मोहादि परभावों को त्याग दे **(णाणमउ अप्पा झायहि)** ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर **(लहु सिव-सुक्ख लहेहि)** तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पाएगा।

☆ ★ ☆

७०, **निर्मोही होकर आत्मा का ध्यान कर।**

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि॥ ७०॥

यदि तू अकेला ही जायेगा... हे आत्मा! तू अकेला देह, परिवार सबको छोड़कर जायेगा **तो राग-द्वेष-मोहादि परभावों को त्याग दे।** भगवान! पर में राग-द्वेष, पुण्य -पाप के भाव और पर में मोह छोड़कर अपना शुद्ध स्वभाव... योगसार है न! अपना शुद्ध पवित्र स्वभाव का अन्दर ध्यान कर। उसमें लौ लगा दे तो परभाव छूट जायेंगे। **ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर।** भगवान आत्मा ज्ञायक..., ज्ञायक..., ज्ञायक..., जाननेवाला..., जाननेवाला..., जाननेवाला..., जाननेवाला... यह जाननेवाला चैतन्य वह मैं हूँ। इसके अतिरिक्त कोई रागादि, (वह मैं नहीं हूँ)। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ मैं; जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ मैं नहीं। रागादि, दया-दान-भक्ति-व्रत, यात्रा का विकल्प उत्पन्न होता है, वह आत्मा नहीं है, वह तो राग है। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ आत्मा। जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं तो राग में यह ज्ञान नहीं है; (इसलिए वह मैं नहीं हूँ) समझ में आया? यह पुण्यपरिणाम है, वह ज्ञान नहीं है। जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई! आत्मा... आत्मा।

भाई! आत्मा तो चैतन्य ज्योत है न! चैतन्यज्योत है। जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा है; और जहाँ-जहाँ रागादि उत्पन्न होते हैं, वहाँ चैतन्य नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा अपना चैतन्यमय स्वरूप, रागादि अचेतन से अत्यन्त भिन्न है - ऐसा जानकर अपने स्वरूप की एकाग्रता करना, उसका नाम योगसार है। कहो, समझ में आया? **तो तू शीघ्र ही मोक्ष का सुख प्राप्त करेगा।** लो, **आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! यदि तुझको यह निश्चय हो गया है कि तू एक दिन मरेगा, तब तुझे परलोक में अकेला ही जाना पड़ेगा; कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जायेंगे। जिनसे तू राग करता है, वे सब यहाँ ही छूट जायेंगे,...** जिनसे तू राग करता है कि यह मेरे पिता, मेरी माता, मेरी स्त्री, मेरा परिवार, मेरा पुत्र, मेरा मकान, मुनीम (वे सब) जिनके प्रति तू राग करता है, वे सब छूट जायेंगे। समझ में आया? **तब तेरा**

उनसे राग करना वृथा है। जिनके प्रति तू राग करता है, वे वस्तुएँ तो छूट जायेंगी, तेरे साथ तो आयेंगी नहीं, इसलिए तेरा राग वृथा है। तेरे साथ तो वे परपदार्थ आते नहीं हैं। **ऐसे क्षणभंगुर पदार्थों से राग करना, शोक व दुःख का कारण है।** ठीक लिखा है।

इसलिए तू अब ऐसा काम कर कि जिससे तुझे स्थिरता प्राप्त हो... ध्यान, ध्यान कहा न? ऐसा कर कि जिसमें आत्मा अपनी ज्ञानभूमिका में आ जाये। समझ में आया? ऐसा काम करो कि चैतन्य भगवान आत्मा अपनी ज्ञानभूमि में आ जाएगा। राग -विकल्प आदि भूमि आत्मा की नहीं है। समझ में आया? **अविनाशी मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त हो...** इत्यादि बहुत लिखा है। **मृत्यु आने से पहले ही तू ऐसा प्रयत्न कर ले, वह तेरे लिये योग्य है।** तुझे योग्य है कि देह छूटने से पहले यत्न कर! देह छूटेगी उस समय यत्न नहीं होगा। घर जलेगा तब कुएँ में से पानी निकालूँगा, नहीं निकलेगा; घर जल जायेगा। देह छूटने का अवसर आया, अब धर्म करो। क्या धर्म करे?

मुमुक्षु : मरने से पहले बसीयतनामा कर लेना?

उत्तर : मरने से पहले आत्मा का यत्न करना। बसीयतनामा क्या करे? मर जाये वसीयत में घुस जाना है इसे? मरने से पहले आत्मा का यत्न करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

मानव शरीर से ही शिवपद मिल सकता है। देव, नारकी, पशु के शरीर में रहकर कभी भी शिवपद प्राप्त नहीं हो सकता। यह अवसर गँवाना योग्य नहीं है। वह उपाय यही है कि जो-जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपने नहीं हैं, उन्हें पर समझकर उन सबसे राग हटा ले। क्या कहते हैं? देखो! अपने से परद्रव्य भिन्न, परक्षेत्र भिन्न, परदशा भिन्न, परभाव भिन्न है, तो जो अपने से परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है; ऐसा समझकर सबसे राग उठा ले। इन देव-शास्त्र-गुरु की ओर से भी राग उठा ले – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है? पानी में 'गुणवन्त' अकेला मरा होगा, तब फूलचन्दभाई को पुकार किया होगा? कि फूलचन्दभाई नहीं मिलते, अरे...! यहाँ कोई बापू नहीं मिले, अकेले जाना? आहा...हा...! अकेले अन्दर में घुस कर अकेला ध्यान करे तो कोई विघ्न करे ऐसा है? है? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान... लो! 'सेठिया' कहते हैं न? सेठिया नहीं? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा जाननेवाला है, वह जाननहार स्वरूप

भूमिका मेरी है। जितने रागादि उत्पन्न होते हैं, वह मेरी भूमिका नहीं है। मेरे स्थिरता की वह जगह नहीं है। आहा...हा...! बाहर तो स्थिरता करने का नहीं है, अन्दर में भी दया, दान, व्रत, भक्ति के तप के भाव आते हैं, उसमें ठहरने की भूमिका नहीं है; वह तो उसमें से निकलने की भूमि है। अपना शुद्धस्वरूप ज्ञानभगवान, जिसमें महान परम शान्ति और आनन्द भरा है। ऐसे प्रभु आत्मा में रुचि-दृष्टि करके उसे स्थिरता की भूमि जानकर उसमें स्थिरता करना, वह स्वयं से अकेले से होती है (उसमें) किसी की सहायता-मदद नहीं है। ओहो...! (सब ओर से) राग उठा ले।

केवल अपने ही ज्ञानस्वरूपी आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को अपना जानकर उसमें ही परम रुचिवान हो जा।

अब इसका खुलासा करेंगे, हाँ! **उसका ही प्रेमी हो जा, उसमें ही मग्न रहने का, उसके ही ध्यान का अभ्यास कर, आत्मा का रस पीने का उद्यम कर..** बाद में खुलासा करेंगे। **मेरा आत्मा अखण्ड अभेद एक द्रव्य है।** देखो, यह द्रव्य। मैं अभेद अखण्ड पदार्थ आत्मा हूँ, वह मेरा द्रव्य / वस्तु। द्रव्य अर्थात् पैसा? ऐ...इ...! **असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र है...** असंख्य प्रदेश, वह मेरा क्षेत्र है; बाहर के मकान, मकान का क्षेत्र (मेरा नहीं है)। 'राणपुर' का क्षेत्र, 'इन्दौर' का क्षेत्र, 'लाडनू' का क्षेत्र...! रतनलालजी! यह क्षेत्र किसका है? वह तो पर का है, अपना क्षेत्र असंख्य प्रदेश है। असंख्य प्रदेश अपना क्षेत्र है। अपना अखण्ड द्रव्य वह अपना द्रव्य है।

और **समय परिणमन काल है।** अपनी एक समय की परिणमन दशा वह अपना काल है। दिवस, पहर, रात्रि, वह कोई अपना काल नहीं है। समझ में आया? द्रव्य की अपनी वर्तमान परिणति – अवस्था, एक समय की दशा, वह अपना काल है; दूसरा अपना काल नहीं है। **ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि शुद्धभाव हैं...** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लिये। मुझमें ज्ञान-दर्शन आनन्दादि त्रिकालभाव हैं। वह शुद्धभाव मेरा भाव है। शुद्धभाव मेरा भाव है, वर्तमान अवस्था मेरा काल है; असंख्य प्रदेश मेरा क्षेत्र है, अखण्ड द्रव्य मै वस्तु हूँ, समझ में आया? **यही मेरा सर्वस्व है।** लो, **कर्म-संयोग से होनेवाले राग, द्वेष, मोह, भाव सङ्कल्प-विकल्प-विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब**

पर हैं। कर्म के संयोग से दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध (भाव हों), वे सब भाव मेरे आत्मा से भिन्न है – ऐसे श्रद्धा, ज्ञान करना। सङ्कल्प-विकल्प और विभाव मतिज्ञानादि चार,... लो ! इस ओर हैं न ? भाई ! कुछ समझ में आया ? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि, मन:पर्यय भी एक समय की पर्याय विशेष है। सामान्य स्वभाव त्रिकाल से वह भिन्न है। **जिन-जिन भावों में पुद्गल का निमित्त है, वे सब भाव मेरे निज स्वभाविकभाव नहीं हैं...** लो ! जिस भाव में कर्म का निमित्त है, वह मेरा स्वभावभाव नहीं है, सब पर है। आहा... ! राग-द्वेष तो पर; पुण्य-पाप, दया-दान का भाव पर, परन्तु निमित्त की अपेक्षा रखकर क्षयोपशम ज्ञानादिक हैं, वे भी पर हैं। मैं त्रिकाल ज्ञान -चिदानन्दस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि करना, ऐसी श्रद्धा करना और उसका ज्ञान करना, वही अपना स्वभाव है। समझ में आया ? **मैं तो एकाकार परम शुद्ध स्वसंवेदनगोचर एक अविनाशी द्रव्य हूँ।** भगवान आत्मा स्वसंवेदन – अपने ज्ञान से ज्ञान में जानने में आता है। ज्ञान अपने ज्ञान से ज्ञान जानने में आता है – ऐसा स्वसंवेदन-स्व से प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष होनेवाला मैं आत्मा हूँ, उसका नाम आत्मा। रागादि पर है उनके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। ओ...हो... ! समझ में आया ?

समयसार का दृष्टान्त दिया है। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकतारूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है...** एक ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हैं। भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यभाव शुद्ध उसका अन्तर सम्यग्दर्शन, उसका निर्विकल्प ज्ञान, उसकी वीतरागी पर्याय (हो) वह एक ही मोक्षमार्ग है। दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। **जो कोई अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भाव में ठहरता है, उसी को निरन्तर ध्याता है। उसको चेतता है, उसी में निरन्तर विहार करता है... वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।**

☆ ★ ☆

पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई॥ ७१॥

पाप तत्त्व को पाप तो, जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहें अनुभवी बुध कोई॥

अन्वयार्थ - **(जो पाउ वि सो पाउ मुनि)** जो पाप है उसको पाप जानकर **(सव्वु इ को वि मुणेइ)** सब कोई उसे पाप ही मानते हैं **(जो पुण्णु वि पाउ भणइ)** जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है **(सो बुह को वि हवेइ)** वह बुद्धिमान कोई विरला ही है।

☆ ★ ☆

अब, ७१ (गाथा) बड़ा विवाद है। **पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है।** उपोद्घात यह बाँधा है। शरीर, वाणी, मन तो पर है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, कमाना, वह भाव पाप है परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, यात्रा का भाव होता है, वह पुण्य (भाव है), वह पुण्य भी पाप है। है या नहीं अन्दर ? है ?

मुमुक्षु : खुल्लम खुल्ला है ?

उत्तर : खुल्लम खुल्ला है ? श्लोक है न ? इसका गुजराती क्या है ? है ?

पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है कहे अनुभवी बुध कोई॥

वस्तु हो ऐसी कहेंगे न ! कहो, समझ में आया ?

जो पाप है, उसे तो पाप जानकर सब कोई उसे पाप ही जानते हैं। हिंसा का भाव, झूठ का भाव, चोरी का भाव, भोग का भाव, कमाने का भाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, भाव को तो सब कोई पाप कहते हैं परन्तु **'पुण्णु वि पाउ वि भणइ'** – वे बुद्धिमान कोई विरले हैं। **कोई पुण्य को भी पाप कहते हैं...** आहा...हा... ! समझ में आया ? यह दया, दान, भक्ति शुभभाव है। भगवान शुभभाव को छोड़कर केवली हुए हैं; शुभभाव को साथ रखकर नहीं हुए हैं। शुभभाव भी निश्चय से अपने शुद्ध पवित्र धर्म की दृष्टि की अपेक्षा से, वह पुण्यभाव भी पाप ही है। आहा...हा... ! चिल्लाते हैं, वर्तमान में तो अभी पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता, वह धर्म। नगिनभाई ! जाओ एक यात्रा करी, ९९वें यात्रा करी, वह धर्म। धूल में भी धर्म नहीं है। ९९वें क्या ? सूख जाये

नहीं वहाँ अनन्त बार, वह शुभभाव है, हाँ शुभभाव है। आत्मा के स्वभाव से पतित होता है, इसलिए पाप है।

'बुह' शब्द पढ़ा है न? देखो! बुध - ***बुह***। ज्ञानी उसे पाप कहते हैं – मूल पाठ में तो ऐसा कहते हैं। अज्ञानी, पाप को पाप तो सब कोई कहते हैं परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। आहा...हा...! यह तो 'योगीन्द्रदेव' दिगम्बर मुनि ८०० वर्ष पहले भरतक्षेत्र में हुए हैं। यह अभी का कथन नहीं है, पहले का पाठ है।

मुमुक्षु : यात्रा करने नहीं जाना?

उत्तर : जाने, नहीं जाने की (बात नहीं है), वह शुभभाव हो, परन्तु वह शुभ पुण्य बन्धन है, उसे पुण्य गिनना और निश्चय से उसे पाप गिनना। व्यवहार से पुण्य, निश्चय से पाप। लो! आहा...हा...! बहुत कड़क। वे कहते हैं – भगवान के दर्शन करे तो मोक्ष हो जायेगा। हे प्रभु! शिवपद हमको देना। देना, देना रे महाराज! शिवपद हमको देना। वहाँ भगवान के पास तेरा शिवपद होगा?

मुमुक्षु : वह भगवान के पास नहीं होगा तो कहाँ होगा?

उत्तर : इस भगवान के पास है, निज भगवान के पास अपना शिवपद है, अन्तर में शिवपद पड़ा है। बाहर से आनेवाली चीज कहाँ है? भगवान कहाँ देते हैं? और भगवान की भक्ति से क्या मिलता है? पुण्य होता है, शुभभाव होता है। पाप से बचने के लिए शुभभाव होता है। निश्चय से अपना स्वरूप अमृत है। भगवान अमृतस्वरूप है। पुण्य में आना, वह भी अपने स्वरूप से पतित होता है, इस अपेक्षा से ज्ञानी पुण्य को पाप कहते हैं। अज्ञानी को मीठा लगता है, इसलिए उसकी भाषा में मीठा कहते हैं। मीठा किसका? पुण्य का फल जहर है। पुण्य का भाव स्वयं जहर है और उसके फल संयोग मिले और धूल मिले – स्त्री, पुत्र, पैसा मिले, उसमें क्या फल है? वह तो परवस्तु है। पर में कहाँ आत्मा आया? उसका लक्ष्य करके भोग लेना, वह तो राग है, वह तो अशुभराग है। वह अशुभराग तो पाप है ही, जहर है ही। आहा...हा...! परन्तु पुण्य भाव भी जहर है, पाप है – ऐसा ज्ञानी कहते हैं। आहा...हा...! कितने ही तो मुनि

को खोटा ठहरते हैं। कहते हैं नहीं, ऐसा नहीं होता; नहीं बैठे उसे उड़ा दे – नहीं, यह नहीं। यह क्या कहते हैं, देखो ?

जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई। वे ज्ञानी कोई-कोई होते हैं। पुण्य को भी पाप कहते हैं, वे ज्ञानी कोई होते हैं। अज्ञानी तो पाप को पाप कहता ही है, ज्ञानी भी पाप को पाप कहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं। आहा...हा... ! अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर जितने ये शुभ-अशुभ विकल्प उठते हैं, परमार्थ से-पवित्रता की अपेक्षा से – वे अपवित्रभाव हैं; निश्चय की अपेक्षा से अपने अमृत आनन्द को लूटनेवाला वह शुभभाव है। आहा...हा... ! मदद करनेवाला नहीं। आहा...हा... ! अज्ञानी कहते हैं कि वह शुभभाव है तो उससे क्षायिक समकित होता है। शुभभाव से क्षायिक समकित होता है, शुभभाव से ऐसा होता है। अरे... भगवान!

यहाँ तो कहते हैं शुभयोग तो – अपना अमृत-चैतन्य प्रभु, अमृत का सागर पड़ा है, उसमें से बाहर निकलना, वह शुभराग – अपने अमृत से विरुद्धभाव है; (इसलिए) ज्ञानी उसे पाप कहते हैं। पड़ते हैं, पड़ते हैं, निजस्वरूप में से बाहर निकलते हैं। आहा...हा... !

मुमुक्षु : पहला क्या करना ?

उत्तर : पहले इस स्वरूप की दृष्टि करना। पहले पुण्य और पाप के राग की रुचि छोड़कर अपना शुद्ध भगवान आत्मा पवित्र है उसकी दृष्टि करना, वह पहले में पहला सम्यग्दर्शन प्रगट करना। ज्ञानचन्दजी ! क्या करना पहले ? आहा...हा... ! भेद करना। समयसार में नहीं आया था ? पहले क्या करना ? आया था न ? सब थे न ? 'वंशीधरजी' (थे, तब कहा तो) खलबलाहट हो गया। हाय... हाय... ! यह क्या कहते हैं ? देखो ! यह क्या कहते हैं ? इसमें क्या लिखा है ? देखो ! **आत्मा और बन्ध को प्रथम तो उनके निश्चय-स्वलक्षण के ज्ञान से सर्वथा छेदना।** 'प्रथम' शब्द पड़ा है। पहले में पहला भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' सन्त केवली कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और बन्ध में राग-पुण्य, दया, दान सब बन्धभाव है। **प्रथम तो आत्मा और बन्ध, उनके नियत-निश्चय स्वलक्षण...** राग का बन्ध स्वलक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञानलक्षण से विराजमान भिन्न है, उन्हें सर्वथा छेदना – ऐसा शब्द यहाँ पड़ा है। संस्कृत टीका है। थोड़ा सा भी राग का अंश मुझे मदद करेगा – ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : सुनने का किस प्रकार?

उत्तर : यह करे। (बाकी) सब तो अनन्त बार सुना है। उसमें क्या किया उसने?

देखो! पहले अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने **'जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं'** उसमें से निकाला है। बन्ध को छेदना, उस बन्ध को छेदना। पुण्य-पाप के परिणाम, वे बन्धरूप स्वरूप हैं। भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। दो को पहले भिन्न करना, ये पहले में पहला आत्मार्थी का कर्तव्य है। समझ में आया? इसको छूटना है या नहीं? छूटना है या नहीं? या बँधना है? बँधना है तो अनादि से बँधता है। अब छूटना हो तो पहले क्या करना चाहिए? पुण्य-पापभाव और आत्मा भिन्न है। – ऐसी पहले दृष्टि करना।

मुमुक्षु : पापभाव तो पाप है परन्तु पुण्य किस प्रकार पाप है।

उत्तर : वह पुण्य अर्थात पवित्र आत्मा। पुण्य पाप के विकल्प, दोनों पाप है; बन्ध है; दुख के कारण है; दोनों जहरीले भाव है। भगवान आत्मा अमृत स्वरूप है। दोनों का सर्वथा भेद करना – ऐसा पाठ पढ़ा है। देखो! फिर कहते हैं – रागादि जिसका लक्षण है, **उस समस्त बन्ध को छोड़ना**। देखो! राग किसका लक्षण है? शुभभाव राग का लक्षण है या आत्मा का लक्षण है? प्रथम में प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं। **तावत,** प्रथम। समझ में आया? २९५ गाथा।

पहले में पहले तुझे आत्मा का कर्तव्य करना हो अथवा मोक्ष का / छूटने का उपाय करना हो तो पुण्य-पाप के भाव-विकल्प बन्ध का लक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से भिन्न विराजता है। दो का सर्वथा भेद, छेद करना, वही उसका प्रथम कर्तव्य है। पुण्य -पाप के भाव से भगवान आत्मा का भेदज्ञान करना, भेदज्ञान करना, वही उसका प्रथम आचरण है, वही पहला कर्तव्य है। वह कर्तव्य अनन्त काल में जीवों ने नहीं किया है, बाकी सब अनन्त बार किया है। जैन मुनि दिगम्बर होकर नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। उसमें क्या हुआ? शुभभाव की क्रिया की, शुक्ललेश्या हुई तो स्वर्ग में गया।

मुमुक्षु : शुक्ललेश्या में तो वहाँ सुख भोगा न।

उत्तर : सुख कहाँ? धूल में सुख था? इकतीस सागर दुख भोगकर आया। सुख कब (था), सुख तो आत्मा में है। आहा...हा...! सुख तो आत्मा में है। उस पुण्यभाव से

स्वर्ग मिला तो पुण्यभाव दु:ख है और (उसके फल में) स्वर्ग मिला वह भी दुख है। धूल में कहाँ सुख था? ओ...हो...हो... आत्मा में सुख है, यह बात अभी सुनते हैं। एक व्यक्ति कहता था। आत्मा में सुख है, आत्मा में सुख है यह कहाँ सुना था? आत्मा में सुख है। तुमने कहा था न? कल सायं किसी ने कहा था। उसने कहा था। ठीक! भाई ने कहा था, सच्ची बात है। उसने शाम को कहा था कि आत्मा में सुख है यह सुना ही पहली बार है। उन पुण्य-पाप के भाव में भी सुख नहीं है, उनके बन्धन में भी सुख नहीं है, उनके फल में भी सुख नहीं है।

भगवान केवलज्ञानी परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव की वाणी में हुकम आया है कि हे आत्मा! आनन्द तेरे स्वरूप में है। पुण्य-पाप के भाव में आनन्द नहीं है, पुण्य-पाप से बन्धन पड़ता है, उनमें आनन्द नहीं है। यह तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध पड़े, उसमें आनन्द नहीं है, जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है, उस भाव में आनन्द नहीं है और प्रकृति का फल समवसरण मिले, उसमें आनन्द नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहा..आहा... अद्भुत काम, भाई! ऐ... मांगीरामजी! बेचारे कितने ही साधु तो ऐसे धूज उठते हैं, हाँ! अरे..रे..रे...! ऐसा मार्ग! मार्ग तो ऐसा है। मान या मत मान मार्ग दूसरा नहीं होता। आहा..हा...हा...।

वास्तव में आत्मा और द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना... प्रथम शब्द लिया है, उस दिन वहाँ भटके थे। किस साल? (संवत २००२ साल) दूसरे साल। २० वर्ष हुए माघ महीने में साढ़े बीस वर्ष हुए। आहा...हा...हा...। व्याख्यान में गाथा ठीक यह २९५ वीं आई। उसमें आया... प्रथम क्या करना? धर्मदृष्टि करनेवाले को प्रथम क्या करना? प्रथम पुण्य-पाप का राग बन्धस्वरूप से भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसा प्रथम पर से सर्वथा भेदज्ञान करना। सर्वथा पर से (भेदज्ञान करना)। सर्वथा (कहा है), कथञ्चित राग की मदद और कथञ्चित (ज्ञान की मदद) – ऐसा नहीं है। शशीभाई! सर्वथा जैन शासन में होता है? सर्वथा होता है? कथञ्चित् होता है। यहाँ तो (कहते हैं) सर्वथा छेदना। चिल्लाते हैं, अनेकान्त.... अनेकान्त है। सर्वथा छेदना, एक अंश लक्ष्य में रखना नहीं उसका नाम अनेकान्त है। विमलचन्दजी! लो, अब युवकों को बैठ जाता है न! उन्हें नहीं बैठता बड़े, उल्टे पढ़-पढ़कर पढ़े हैं।

मुमुक्षु : विपरीत पढ़े न किन्तु।

उत्तर : वे भी पढ़े हैं, नहीं पढ़े ? आहा...हा...हा... ! अरे भाई ! पहले तेरे निर्णय का भी ठिकाना नहीं है तो तेरा मार्ग कहाँ से निकलेगा ? आत्मा का मार्ग तो रागरहित है, उसमें से निकलेगा या राग में से निकलेगा ? आहा..हा... !

सम्पूर्ण वीतराग मार्ग-सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग, तीर्थङ्कर का मार्ग (यह है कि) पुण्य-पाप दोनों राग बन्ध का कारण है। भगवान अबन्धस्वरूपी चैतन्य लक्षण है। दोनों को अन्तर में भिन्न करना, सर्वथा भिन्न करना... दया रखे बिना। अरे रे ! अनादि से मैंने पुण्य किया है। मेरे पास है तो थोड़ा रखूँ – (ऐसा अभिप्राय नहीं रखते हुए)।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि अरे... ! अनादि का बन्धु, कर्म और राग साथ में आये, बन्धु को निर्दय होकर मार डाला। साथ में आए हैं न ? हमेशा साथ रहते थे। अनादि से पुण्य-पाप के भाव साथ रहते थे और जड़कर्म भी साथ रहते थे। निर्दयी होकर बन्धु का छेद कर डाला। परमात्मप्रकाश में योगीन्द्रदेव (कहते हैं)। ये भी योगीन्द्रदेव हैं। योगीन्द्रदेव कहते हैं, मुनि-सन्त-धर्मात्मा ऐसे हैं कि अपने बन्धु को ही मारते हैं, बन्धु को ही उड़ाते हैं। बन्धरूप बन्धभाव-बन्धुरूप अनादि से साथ में है, उसे उड़ाया, छोड़ा। मेरा भाव नहीं है। मेरा चैतन्य भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। इस प्रकार बन्धभाव को छेदकर अपने स्वभाव की दृष्टि करके अपने आत्मा को ग्रहण करके आत्मा का अनुभव करना ही धर्मी का प्रथम कर्तव्य है। जहाँ तक स्थिरता न हो, वहाँ तक बीच में शुभभाव होते हैं। भक्ति, पूजा, दया, दान, यात्रा का भाव होता है परन्तु वह भाव, बन्ध का कारण है। मोक्ष का कारण और धर्म का किञ्चित् कारण नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं, **जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं...** देखो ! बुद्ध कहा न ? बुद्धिमान को ही विरले हैं। पुण्य को पाप कहनेवाले बुद्धिमान हैं, उन्हें बुद्धिमान कहते हैं। पुण्य को पुण्य कहे, वह तो साधारण जनता भी कहती है। आहा...हा... ! परन्तु बुद्ध-बुद्धिमान, ज्ञानवन्त, भगवान की आज्ञा स्वीकार करनेवाले पुण्य को भी पाप कहकर छोड़ना चाहते हैं। **जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं तथा इन्द्रिय**

सुख चाहते हैं। सामान्य रीति से यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है और पुण्य से सुख होता है। यह साधारण लोग इस चर्चा में पड़ते हैं।

जब धर्म की चर्चा होती है, तब यही विचार किया जाता है कि पापकर्म मत करो पुण्यकर्म करो। पुण्य से उत्कृष्ट कर्म बँधते हैं। देखो! पुण्य से ऊँचे कर्म बँधते हैं। **धन, कुटुम्ब, पुत्र, पत्नी, राज्य और अनेक विषय भोगों की सामग्री का लाभ एक पुण्य से ही होता है। इन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद और नारायण और प्रतिनारायण, कामदेव या तीर्थङ्कर का पद आदि महान-महान पद पुण्य से ही मिलते हैं।** संसार में चर्चा होवे तब यह होती है। कहते हैं, यह पुण्य करो, पुण्य करने से ऐसी पदवी मिलेगी, ऐसी पदवी मिलेगी।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो संसार के भोगों के लोभ से पुण्य को ग्रहण योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। वह पुण्यभाव ग्रहण करने योग्य है, पुण्यभाव आदर करने योग्य है, पुण्यभाव ठीक है, भोग की इच्छा करनेवाले प्राणी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। कहो, रतनलालजी! है या नहीं? श्लोक मे है, देखो!

मुमुक्षु : पुण्य और पाप को एक तथ्य कर डाला।

उत्तर : पुण्य और पाप एक हो गये, आस्रव।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पाप की तरह पुण्य को भी बन्धन जानता है...आहा...हा...! श्रद्धा का ठिकाना नहीं, ज्ञान का ठिकाना नहीं, उसे धर्म कहाँ से होगा? आहा...हा...! कहो, समझ में आया? **वे पुण्य को भी पाप कहते हैं।** पुण्य को भी बन्धन जानते हैं और पुण्य को भी पाप कहते हैं। धर्मी तो पुण्य को भी बन्धन जानते हैं तो बन्धन के कारण से उसे पाप कहते हैं। **जिससे संसार में रहना पड़े, जिसे भोगों में फंसना पड़े, वह स्वाधीनता घातक पुण्य भी पाप ही है।** स्वाधीनता का घातक पुण्य भी पाप है। पुण्य स्वाधीनता का घातक है। आहा...हा...! यहाँ तो अभी पुण्य की मिठास (वेदते हैं) कि पैसा मिले और फिर देव होऊँगा और फिर धूल होऊँगा। है? अरे...रे...! अरे भगवान! वह भी आत्मा है न! उल्टा पड़े तो भी वह है न! तीर्थङ्कर का समझाया न समझे और अनन्त परीषह पड़े तो भी समकिती डगमगाए नहीं। इसमें दोनों ताकत हैं। आहा...हा...!

वज्र के, अग्नि के, ऊपर से प्रहार पड़े तो भी धर्मी अपने स्वरूप से नहीं डिगता। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, दूसरी वस्तु मैं नहीं हूँ। देव आकर मार-फाड़ करके टुकड़े कर डालें (और कहें) पुण्य में धर्म है – ऐसा मान; पुण्य धर्म का कारण है – ऐसा मान; नहीं तो मार डालूँगा। कौन मारे ? किसे मारे ? क्या है ? हम तो पुण्य-पाप से रहित अपने स्वभाव की दृष्टि में धर्म मानते हैं, दूसरे में धर्म नहीं मानते। समझ में आया ?

ज्ञानी को एक आत्मा का आनन्द ही प्रिय है। पुण्य प्रिय नहीं है। धर्मी जीव को पुण्यभाव प्रिय नहीं है। आहा...हा...। **उसका पूर्ण लाभ और अनन्त काल तक निरन्तर लाभ तभी होता है....** किसका ? आत्मा का, आनन्द का। आत्मा का आनन्द प्रिय है उस आनन्द का पूर्ण निरन्तर लाभ कब मिलता है ? **जब यह जीव संसार से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जाए, पुण्य से पाप से रहित हो जाए इससे ज्ञानी जीव पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा से समान जानता है**। पुण्य-पाप दोषों को, ऐसा। पुण्य-पाप दोषों को, शुभ और अशुभभाव दोनों दोषों को...दोष कहा है न प्रतिक्रमण के अधिकार में लिया है। दोनों शुभ-अशुभभाव दोष हैं। **पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा समान जानता है। आहा...हा...!**

दोनों के बन्ध का कारण कषाय का मलिनता है। दोनों के बन्ध का कारण (कषाय की मलिनता है)। पुण्य से भी बन्धन होता है और पाप से भी बन्धन होता है। बाहर का वेश पलटता है परन्तु आत्मा नहीं पलटती। पुण्य बन्धता है तो स्वर्ग मिलता है वहाँ तो वेश पलटा उसमें आत्मा कहाँ पलटता ? समझ में आया ? शुभभाव से पुण्य बँधा पुण्य बन्ध से स्वर्ग मिला, धूल की सेठाई मिली वह तो बाहर का वेष पलटा अन्दर क्या पलटता। समझ में आया।

मन्दकषाय से पुण्य व तीव्रकषाय से पाप बँधता है। कषाय आत्मा के चारित्र गुण के घातक हैं। दोनों का स्वभाव पुद्गल है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म है। दोनों की कर्मवर्गणाएँ आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न है।

पुण्य का अनुभव सुखरूप है, पाप का अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं। सुख...सुख। कैसा मिला पुण्य का फल मीठा कहते हैं दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं। भगवान अतिन्द्रिय आनन्द, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख के अनुभव से पुण्य पाप के भाव अत्यन्त विभाव विरुद्ध भाव है। विरुद्ध भाव है उसमें एक ठीक है और दूसरा अठीक है। ऐसा नहीं आता। अद्भुत बात, भाई! कल आया था न? विरला सुने तत्व को, इस बात को कोई विरला सुनता है। सुननेवाला कहे नहीं, नहीं ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। कुछ पुण्य चाहिये। पुण्य से यह होता है ऐसा सुननेवाले बेचारे झुण्ड के झुण्ड हैं। पुण्य और पाप दोनों बन्धनरूप, दुःखरूप, आत्मा के अनुभव से विरुद्ध, स्वभाव से विभावरूप भिन्न हैं। ज्ञानी उन्हें लाभदायक नहीं मानते हैं। आहा...हा...!

दोनों अनुभव कषाय की कलुषिता का स्वाद है। दोनों का स्वाद (कलुषित है) **शुद्धात्मा में रमणता का घातक है। दोनों ही अनुभव कषाय का कलुषिता का स्वाद है।** पुण्यभाव का स्वाद कषाय का, पापभाव का स्वाद कषाय का। कषाय समझे? विकार। दोनों में विकार का स्वाद है।

मुमुक्षु : विकार कम ज्यादा होता है।

उत्तर : कम ज्यादा, जाति एक है न? दोनों दुःख की जाति हैं। **पुण्य और पाप दोनों ही नए बन्ध के कारण हैं। दोनों में तन्मय होने से कर्म का बन्ध होता है।** ठीक लिखा है। पुण्य और पाप दोनों भाव में तन्मय होने से बन्ध होता है। **यह बन्ध मोक्षमार्ग में विरोधी है।** यह पुण्य परिणाम मोक्षमार्ग का विरोधी है। पुण्य-पाप आत्मा के धर्म के लुटेरे हैं। शशीभाई! वीतरागमार्ग की बात पामर (जीव) नहीं झेल सकते। आहा...हा...! **ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पाप की तरह पुण्य को भी अच्छा या ग्रहण योग्य नहीं मानते वे शुभ और अशुभ दोनों भावों से विरक्त रहते हैं, कर्म का क्षय करनेवाला और आत्मा को आनन्दित देनेवाला ऐसे एक शुद्धोपयोग को भी मान्य कहते हैं।** आहा...हा...!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता** – प्रमाण वचन गुरुदेव।)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ३, मंगलवार, दिनाङ्क ०५-०७-१९६६
गाथा ७१ से ७४ प्रवचन नं. २६

यह योगसार शास्त्र चलता है। इकहत्तर वाँ श्लोक है। क्या कहते हैं? **पुण्य को भी पाप जाने, वही ज्ञानी है।** पाप को तो पाप सब कहते हैं। आत्मा में जो अशुभभाव – हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना के पाप को तो पाप सब कहते हैं परन्तु धर्मी जीव अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि होने से मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है – ऐसे श्रद्धा में ज्ञान में लिया है, इस कारण से धर्मी जीव तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का जो शुभभाव होता है, उसे भी पाप मानते हैं। समझ में आया? उस पुण्यभाव को भी धर्मी पाप मानते हैं, क्योंकि पुण्य है, वह बन्ध का कारण है। जैसे पापभाव बन्ध का कारण है, वैसे ही पुण्यभाव भी बन्ध का ही कारण है; दोनों जहर हैं, दोनों आकुलता है। आहा...हा...! देखो!

धर्मी **शुभ और अशुभ दोनों भावों से विरक्त रहता है...** धर्मी जीव उसे कहते हैं कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप से भगवान भण्डार आत्मा भरा है, उसकी श्रद्धा और दृष्टि होने से आत्मा के स्वभाव से विपरीत जितने शुभ या अशुभभाव हैं; अशुभभाव जैसे बन्ध का कारण है, वैसे ही शुभ(भाव) बन्ध का ही कारण है। समझ में आया? एकान्त है। ए... देवानुप्रिया! एकान्त होता है, कहते हैं। देखो!

कर्मों का क्षय करनेवाला और आत्मा को आनन्द देनेवाला... कर्मक्षयकारक आत्मानन्ददायक **एक शुद्धोपयोग को ही मान्य करता है।** आहा...हा...! समझ में आया? आत्मा पवित्र आनन्द शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। जैसा सिद्धस्वभाव, परमात्मा का जैसा सिद्धस्वभाव है, वैसा आत्मा का स्वभाव अन्दर पूर्ण शुद्ध है। उसकी दृष्टि करके धर्मात्मा एक रागरहित, पुण्य-पाप के भावरहित अपने शुद्धस्वरूप के शुद्ध आचरण को ही हितकर मानते हैं। समझ में आया?

वह कर्मक्षयकारक और आत्मा आनन्ददायक है। पुण्य-पाप के भाव बन्धकारक है तो भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप का उपयोग – शुद्धोपयोग, वह कर्म का क्षयकारक है। पुण्य-पाप का भाव बन्धकारक है तो अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का शुद्धोपयोगरूपी आचरण – व्यापार कर्म-क्षयकारक है। शुभ और अशुभभाव दुःखदायक है, दुःखदायक है तो आत्मा आनन्द और शुद्ध भावस्वरूप, उसका शुद्धोपयोग, वह आनन्ददायक है। उपयोग आनन्ददायक है, समझ में आया? उपयोग आनन्ददायक है। अपने आत्मा में पुण्य-पाप से रहित शुद्धोपयोग करना (वह आनन्ददायक है) क्योंकि पुण्य-पाप का भाव बन्धकारक है तो आत्मा का स्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान का शुद्धोपयोग, वह कर्मक्षयकारक है। शुभाशुभभाव दुःखदायक है तो आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका अन्दर शुद्ध व्यापार, शुद्ध उपयोग आनन्ददायक है। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें?

मुमुक्षु : दो नाम पड़े हैं तो दोनों के फल अलग हैं न?

उत्तर : दोनों के फल अलग कहे न! एक का पाप और एक का पुण्य, परन्तु दोनों ही बन्धन हैं, दोनों ही दुःखरूप हैं; एक मन्द आकुलता और एक तीव्र आकुलता (स्वरूप है) इतना अन्तर है परन्तु दोनों दुःखरूप हैं।

तत्पश्चात् थोड़ा स्पष्टीकरण किया है। **सम्यग्दृष्टि अविरति होने पर भी...** धर्मी जीव, जिसे अपने शुद्ध चैतन्यमूर्ति की रुचि, दृष्टि और परिणमन है। मैं शुद्ध आनन्द हूँ, उसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि पुण्य-पाप पर नहीं है। तो कहते हैं कि **गृहस्थ में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधन में अनुरक्त होने पर भी सब ही शुभ-अशुभ कार्यों को चारित्रमोहनीय उदय के आधीन होकर करता है...** अर्थात् होने हैं, ऐसा, **परन्तु इस सर्व काम को अपना आत्मिक हितरूप नहीं मानता...** धर्मी जीव को शुभ-अशुभभाव आते हैं, होते हैं परन्तु उसमें अपना हित नहीं मानते। समझ में आया?

वह तो यही मानता है कि निरन्तर आत्मिक बाग में रमण करूँ... धर्मी की दृष्टि तो शुद्धात्मा पर दृष्टि है। आत्मा आनन्दस्वरूप सिद्धसमान है, उसकी दृष्टि हुई – ऐसा धर्मी, अपने आत्मा के आनन्द में रमण करूँ – ऐसी उसकी भावना होती है। पुण्य -पाप भाव होते हैं, परन्तु उनमें रहूँ, टिकू – ऐसी भावना नहीं होती। मैं **वीतरागता का**

ही सेवन करूँ... क्या कहते हैं ? देखो ! आत्मा तो त्रिकाल वीतरागस्वरूप ही है, उसमें एकाग्र होकर मैं वीतरागभाव की सेवा करूँ, पुण्य-पाप की सेवा न करूँ। पुण्य-पाप होते हैं (परन्तु वे) सेवा करने योग्य, रखने योग्य, हित करने के योग्य नहीं है। **सिद्ध भगवन्तों से ही प्रेम करूँ।** देखो, भाषा! अपने सिद्धस्वरूप में ही प्रेम करूँ। अपना सिद्ध समान (पद) है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' आत्मा का सिद्धस्वरूप, शुद्ध द्रव्यस्वभाव, त्रिकाल शुद्ध है। उसमें प्रेम करूँ और पुण्य-पाप में प्रेम नहीं करूँ – ऐसी दृष्टि होती है।

(आत्मा का पुरुषार्थ अल्प होने से) कषाय का उदय सहन नहीं कर सकता। क्या कहते हैं ? कषाय का उदय आता है तो अपने पुरुषार्थ की मन्दता से शुभाशुभभाव होते हैं, शुभ-अशुभभाव होते हैं परन्तु वह आत्मवीर्य की कमी से होते हैं। **गृहस्थयोग्य सभी कार्य करता है परन्तु उसमें आसक्त या मग्न नहीं होता। पूजा -पाठ परोपकार दानादि कार्य करके वह पुण्य का बन्ध और सांसारिक इन्द्रियसुख को नहीं चाहता है।...** अज्ञानी तो पुण्य करके इन्द्रियों का सुख चाहता है। पुण्य का फल मिले, स्वर्ग मिले यह पैसा धूल मिले। धर्मी की दृष्टि अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप पर है; पुण्य होने पर भी पुण्य का बन्ध और पुण्य के फल की चाहना नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

वह तो कर्मरहित दशा का ही उत्साही और उद्यमी रहता है। यद्यपि शुभभावों का फल पुण्य का बन्ध है। शुभभाव होते हैं – दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा आदि के शुभभाव का फल पुण्य-बन्ध है। **तथापि ज्ञानी उसे भी पाप के समान बन्ध ही जानता है।** लो ! अपना शुद्धस्वरूप... जिससे बन्धन में आ जाये – ऐसे भाव को हितरूप कैसे माने, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप में भण्डार भरे हैं। उसकी शुद्धता एकाकार प्रगट करके उसे हितरूप माने। पुण्य-पाप के भाव को हितरूप क्यों माने ? दु:खदायक को, बन्ध के कारण को हितकर क्यों माने ? समझ में आया ?

धर्मी निर्वाण के पथिक हैं... ओहो... ! ज्ञानी, आत्मा के शुद्धस्वरूप के दृष्टिवन्त, रुचिवन्त तो मुक्ति के पथिक है, बन्ध के-संसार के पथिक नहीं है। संसार का पन्थ लेनेवाले नहीं हैं। अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि के कारण वे तो मोक्ष के पथिक हैं, स्वरूप

में एकाग्र होकर बन्ध से छूटने के पथिक हैं, बन्धन करने के पथिक नहीं हैं। समझ में आया? **मात्र निश्चयरत्नत्रय स्वभावमय धर्म को अथवा स्वानुभव को ही उपादेय ग्रहण योग्य मानते हैं।** लो! **पुण्य को भी पाप समान ही जानकर वे छोड़ना चाहते हैं।** शुभभाव आता है परन्तु जैसे पाप छोड़ने योग्य है, वैसे धर्मी पुण्य को भी छोड़ने योग्य मानते हैं। जगत् को बहुत कठिन पड़ता है। धर्म करना परन्तु धर्म कैसे हो? उसका भी पता नहीं है।

मुमुक्षु : तीसरा था ही कहाँ, दो ही वर्ग थे?

उत्तर : दो ही वर्ग थे पाप और धर्म; पुण्य; तीसरा था ही कब? पुण्य वह धर्म; पाप वह अधर्म, बस!

समयसार का दृष्टान्त दिया है। **मोक्षार्थी को सर्व ही कर्म त्यागना चाहिए।** जिसे आत्मा का पवित्रधर्म प्रगट करना है और जिसे पूर्णानन्द मोक्ष की भावना है, उसे तो सर्व पुण्य-पापभाव छोड़ने योग्य है। **सर्व ही कर्म का त्याग आवश्यक है, तब वहाँ पुण्य-पाप की क्या कथा है? ऐसे ज्ञानी में सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभावसहित और कर्मरहित भाव में तन्मयरूप शान्तरस से पूर्ण मोक्ष का कारण – ऐसा आत्मज्ञान स्वयं विराजता है।** धर्मी की दृष्टि में तो आत्मा का ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान, स्वरूप का ज्ञान (है)। राग, पुण्य-पाप, वह कहीं आत्मा का ज्ञान नहीं है। इकहत्तर में (यह कहा है)। ज्ञानी पुण्य को भी पाप मानते हैं। कहो, समझ में आया? यहाँ तो अभी पुण्य का भी ठिकाना न हो और माने... ओ...हो...! बहुत धर्म किया!

☆ ★ ☆

पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुणणम्मिय जाणि।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि॥ ७२॥

लोह बेड़ी बन्धन करे, यही स्वर्ण का धर्म।
जानि शुभाशुभ दूर कर, यह ज्ञानी का मर्म॥

अन्वयार्थ - **(बुह)** हे पण्डित! **(लोहम्मिय णियड तह सुण्णम्मिय जाणि)** जैसे लोहे की बेड़ी है वैसे ही सुवर्ण की बेड़ी है ऐसा समझ **(जे सुह असुह परिच्चयहि)** जो शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते हैं **(ते वि हु णाणि हवंति)** वे ही निश्चय से ज्ञानी हैं।

☆ ★ ☆

अब, **पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है।** ७२, पुण्यभाव सोने की बेड़ी है। स्वर्ण है... स्वर्ण। पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की बेड़ी है; दोनों बेड़ी है। सोने की बेड़ी में तो अन्दर फँसे रहते हैं, लोहे की बेड़ी तो कैद में हो तो वहाँ तक रहती है। यह तो हमेशा उत्साह से ऐसी की ऐसी रखते हैं। गहने और पैर में बँधी बेड़ी है या क्या? है? उत्साह से पहनते हैं, उत्साह से दिखाते हैं, देखो! पाँच हजार का हार है, सोने का हार है, कण्ठी है, कड़े में यहाँ सोने का मुँह है, सिंह के मुँह में हीरे टाँगे हैं, हीरे लगाये हैं, यह तो बेड़ी पहनकर प्रसन्न होता है। लोहे की बेड़ी पहने तो यह नहीं, यह नहीं। यह तो कहते हैं, पुण्य सोने की बेड़ी है, वह नहीं मानता। बेड़ी में — पुण्य के बन्धन में आ जाता है। आत्मा तो भगवान पुण्य-पाप रहित है, इसकी उसे खबर नहीं है।

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि॥ ७२॥

हे पण्डित! 'बुह' आचार्य महाराज योगीन्दुदेव वनवासी दिगम्बर सन्त हैं। वनवासी दिगम्बर सन्त कहते हैं, हे पण्डित जीव! हे जीव पण्डित! ऐसा कहकर बुलाया है। पण्डित तो उसे कहते हैं कि..... समझ में आया...! **जैसे लोहे की बेड़ी है, वैसी ही सोने की बेड़ी है, ऐसा...** समझ, तो तू पण्डित है, विवेकी है, तब तू जीव है। समझ में आया। पाप का भाव लोहे की बेड़ी है, पुण्य का भाव सोने की बेड़ी है; दोनों का बन्धन है, वे जीव -स्वरूप नहीं हैं। जीव-स्वरूप को माननेवाले धर्मी को कहते हैं कि, हे धर्मी! हे पण्डित! हे जीवस्वरूपी आत्मा! तुझे तो पुण्यभाव और पापभाव दोनों बन्धन में समान हैं। समझ में आया?

जो शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते हैं... पहले ऐसा कहा

कि ऐसा समझ। समझ में लेता है कि पुण्य और पाप दोनों बन्ध के कारण हैं, मेरा आत्मास्वभाव ही शुद्ध आनन्द का कारण, मुक्ति का कारण है। फिर छोड़ दे... शुभाशुभभाव छोड़ और शुद्धभाव में आ जा। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आत्मा से तो भरपूर है, उसमें आ जा; शुभभाव को छोड़ दे। '**परिच्चयहि**' कहा न? '**ते वि हवंति हु णाणि**' उसे ज्ञानी कहा जाता है। कहो, दृष्टि में दोनों को छोड़े तो ज्ञानी कहलाता है। पुण्य ठीक है और पाप अठीक है – ऐसा जब तक मानता है, वहाँ तक वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? अद्‌भुत बात, पुण्य बात बहुत कड़क। एक तो पैसा और प्रतिष्ठा और शरीर ठीक (होवे तो) ऐसा मीठा लगता है...! ज़हर मीठा लगता है। स्त्री, पुत्र और पैसा, परिवार... ओ...हो...! महल-मकान, मकान। दुनिया में ठाठ तो पुण्य का है न? दुनिया में ठाठ तो पुण्य का ही होता है न? धूल में दुनिया में... धर्मी का ठाठ तो अन्दर आत्मा की श्रद्धा -ज्ञान और चारित्र करना, वह धर्मी का ठाठ है। आहा...हा...! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ऐसा फरमाते हैं कि भगवान! तेरी चीज में तो आनन्द और शुद्धता पड़ी है न! उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र – रमणता करना, वही तेरा ठाठ है, सब तो अर्थी है। ठाठ की हो गयी अर्थी। समझ में आया। अर्थी मस्तिष्क में आयी तो 'गुणवन्त' याद आया। कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं कि शुभ-अशुभभाव का त्याग... आहा...हा...! शरीर तो जड़, कर्म जड़, वह तो ज्ञेय है – ज्ञान का विषय है। पुण्य-पाप के भाव वे भी वास्तव में अपनी चैतन्यजाति से भिन्न अचेतन है। पुण्य-पाप के भाव में चैतन्य के तेज-नूर का उनमें अभाव है। समझ में आया? भगवान परमेश्वर-तीर्थङ्कर फरमाते हैं, अरे...! धर्मी! यदि तुझे आत्मा का स्वभाव प्रीति और रुचिकर हुआ है तो पुण्य-पाप को दृष्टि में से छोड़ दे। पुण्य हितकर है और पाप अहितकर है – ऐसा छोड़ दे। आहा...हा...! समझ में आया?

पुण्य और पाप कर्म दोनों ही बन्धन हैं, पुण्य को सोने की तथा पाप को लोहे की बेड़ी कह सकते हैं। दोनों ही कर्म संसारवास में रोकनेवाले हैं। समझ में आया? **जब दोनों बेड़ियों का विघटन होता है...** 'तोड़ना होता है' – ऐसा चाहिए। **तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुख को पाता है।** पुण्य और पाप का दोनों का विघटन

अर्थात् एक ही होकर टूट जाये, अकेला भगवान आत्मा शुद्ध रहे, तब स्वाधीन होकर आत्मा की मुक्ति होती है। **इसीलिए ज्ञानी को पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के बन्धनों को हेय समझना उचित है।** पुण्य और पाप दोनों भाव को ज्ञानी हेय समझे। उसमें एक उपादेय और एक हेय – ऐसा नहीं है।

मन्दकषाय के भावों को शुभोपयोग... मन्दकषाय होती है, दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा, वाचन, श्रवण में शुभभाव होता है, वह मन्दकषाय है। **हिंसा, झूठ आदि तीव्र कषाय के भावों को अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों से बन्ध होता है, चार घातिकर्म अथवा बन्ध दोनों उपयोग से होता है।** दोनों उपयोग से होता है। क्या कहते हैं? जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान (आदि) अशुभ उपयोग से घातिकर्म – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय बँधते हैं। ऐसे ही शुभ उपयोग से भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय मोहनीय बँधते हैं। समझ में आया? जैसे पापपरिणाम से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय बँधते हैं; वैसे ही पुण्यपरिणाम से भी चार घाति (कर्म) बँधते हैं। आहा...हा...! शुभभाव से ज्ञानावरणीय बँधता है, शुभभाव से दर्शनावरणीय बँधता है, शुभभाव से मोहनीय बँधता है। समझ में आया? चारित्रमोहनीय बँधता है या नहीं? और अन्तराय भी (बँधता है) जैसे अशुभभाव से घाति (कर्म) का बन्ध है, वैसे शुभभाव से भी घाति (कर्म) का बन्ध है ही; अघाति में थोड़ा अन्तर पड़ता है, वह तो भेष में अन्तर पड़ा। अशुभ से अघाति में पाप बँधता है और शुभ से अघाति में पुण्य बँधता है। वह अघाति, अर्थात् संयोग में अन्तर पड़ा। इसके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। ओहो...हो...!

लोगों को बाहर की मिठास (महिमा इतनी है)। वस्तुत: तो जब तक अतीन्द्रिय सुख की मिठास नहीं लगे तब तक इन्द्रिय-विषय के सुख की मिठास उसे नहीं छोड़ती और उस इन्द्रियसुख की मिठास में शुभपरिणाम की मिठास रहती है। समझ में आया? शुभपरिणाम की मिठास, उसका फल बन्ध, उसका फल संयोग और उसका फल इन्द्रिय के विषय। अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि सम्यग्दर्शन में हो तो उसे इन्द्रिय के विषयों में सुख बुद्धि उड़ जाती है। इन्द्रिय-विषय के सुख का कारण – ऐसे पुण्यभाव में से भी रुचि उड़ जाती है। समझ में आया? आहा...हा...! फिर थोड़ी लम्बी बात की है, बन्ध की बात।

पुण्य के फल से प्राप्त विषयभोगों के भीतर फँस जाने से विषयी मनुष्य, नरकादि निगोद में चला जाता है। लो, यह पुण्य का फल! परमात्मप्रकाश में कहा है – पुण्य से वैभव, वैभव से अभिमान, अभिमान से नरक... समझे! योगीन्द्रदेव आचार्य ने कहा है कि पुण्य से वैभव (मिलता है)। यह पुण्य बाँधे तो उससे वैभव-धूल मिलती है; यह धूल... धूल...! पैसा और प्रतिष्ठा, मकान और गहने और ठाठ-बाट, हाथी, बैल और घोड़ा... मोटर तो फिर अब हो गयी है। है? हाथी, घोड़ा, बैल... ओ...हो...! पुण्य के फल में यह मिलते हैं, फिर अभिमान (करता है कि) मेरे है, तुम्हारे नहीं। धूल की चीज मेरे है, तुम्हारे नहीं। अभिमान से नरक मिलता है। जाओ, नीचे उतरो। समझ में आया?

देव गति में भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और दूसरे स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय में जन्म ले लेते हैं। देखो! आहा...हा...! पुण्य के फल में इन्द्र का, देव का पद मिले और देव मरकर एकेन्द्रिय में जाये। तृष्णा में पुण्य की इच्छा है, पुण्य का फल भोगने की भावना है – ऐसा मिथ्यादृष्टि, ऐसा कहते हैं। वह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष या अमुक वैमानिकदेव...। समझ में आया? एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पति में उत्पन्न होता है। दो-दो सागर की स्थिति हों, असंख्य अरब वर्ष की स्थिति छोड़कर पृथ्वी में जाता है। पुण्य की अभिलाषा और उसके फल की अभिलाषा में मिथ्यादृष्टि मरकर एकेन्द्रिय में जाता है। दूसरे देवलोक का देव, इन्द्र नहीं। समझ में आया? पानी में जाता है, वनस्पति उत्पन्न होता है।

बारहवें स्वर्ग तक के देव पञ्चेन्द्रिय पशु तक में जन्म ले सकते हैं। पुण्य के फल की इच्छा और इन्द्रियसुख की इच्छावाला मिथ्यादृष्टि भले ही पुण्य के फल में बारहवें स्वर्ग में चला जाये, वहाँ भी इन्द्रिय के विषय में लोलुपता है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि नहीं है तो वह भी मरकर पशु में जाता है। बारहवें स्वर्ग का देव पशु में उत्पन्न होता है। समझ में आया? बारहवें अर्थात् वह आठवाँ देवलोक जो श्वेताम्बर का (कहना) है, वह यहाँ बारहवाँ कहलाता है। समझ में आया?

नौवें ग्रैवेयक तक के देव मनुष्यरूप से जन्मते हैं। वे देव मनुष्य में आते हैं, कहते हैं।

विषयभोगों की आकुलता वह तृष्णारूपी रोग है। उसे तृष्णा रोग हुआ, पुण्य की अभिलाषा से पुण्य बँध गया। पुण्य अर्थात् शुभभाव हुआ, बँध गया (और) स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक तक चला गया। वहाँ से मरकर मनुष्य होकर तृष्णा का रोग हुआ क्योंकि पुण्य की इच्छा हुई आत्मा के आनन्द की दृष्टि नहीं थी। नौवें ग्रैवेयकवाले लिये हैं। मिथ्यादृष्टि है न? इनकी बात करते हैं, हाँ! मिथ्यादृष्टि को तृष्णा रोग लागू पड़ा है। 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं' वह भ्रान्ति, आत्मा को भूलकर इन्द्रिय के सुख में और पुण्य में प्रीति (होना), वही बड़ी भूल और भ्रान्ति है। नौवें ग्रैवेयक में शुभभाव से गया, वहाँ से निकलकर मनुष्य हुआ तो वह मिथ्यादृष्टि है। इन्द्रियसुख की रुचि है तो तृष्णा का रोग चालू है। तृष्णा का रोग लागू हुआ है। आत्मा की भावना तो है नहीं, पुण्य की-पाप की भावना है। तृष्णा का बड़ा रोग लागू पड़ा है। यह बड़े चक्रवर्ती आदि तृष्णा में रोगी हैं - ऐसा कहते हैं। पैसेवाले तृष्णा के रोगी हैं, चारों ओर भटका करते हैं, यह... पैसा, यह... पैसा, यह... पैसा। इन्द्रियसुख के फल भोगने की इच्छा में तृष्णा का रोग लागू पड़ा है। भटकते रहते हैं। जैसे गरीब मनुष्य भटकता है, ऐसे यह भिखारी होकर लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... (करता है)। फिल्म में से पैसा लाओ, दूसरा क्या? नाटक में से लाओ, मकान में से लाओ, भाड़े में से लाओ। भाड़ा समझते हो? भाड़ा को क्या कहते हैं? किराया, उसमें से लाओ। तृष्णा का रोग लगा है। भगवान आत्मा आनन्द का घर है, उसकी तो दृष्टि है नहीं, तो उसे पुण्यपरिणाम की रुचि है; तृष्णा का रोग लागू हुआ है, क्षय लागू हुआ है, क्षयरोग। आत्मा की शान्ति को क्षयरोग लागू हुआ है।

रोग से पीड़ित प्राणी घबराकर विषयभोगों में तृष्णा के शमन के लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उस समय पाकर फिर और अधिक तृष्णा को बढ़ा लेता है, दुःखों के साधनों में जो आकुलता है, वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोग के बढ़ने में होती है। दोनों को समान लगाया है। ठीक लिखा है। कहते हैं कि जैसे, दुःखों के साधन में आकुलता होती है, हथियार सामने आवे, रोग सामने आवे और दुःखी होता है, ऐसा **(वैसी ही) आकुलता तृष्णारूपी रोग की वृद्धि में होती है।** इस तृष्णारूपी रोग में आकुलता बढ़े, वह बड़ा रोग है - ऐसा कहते हैं। क्या कहा? दुःख का

साधन जैसे सिंह, बाघ, हथियार, रोग आवे और आकुलता होती है; उसी प्रकार आकुलता तृष्णारूपी रोग के बढ़ने में होती है। तृष्णारूपी रोग बड़ा उसमें आकुलता बढ़ती है, वह आकुलता बड़ी। समझ में आया?

इस जीव ने बार-बार देवगति तथा मनुष्यगति में पाँच इन्द्रियों के विषयभोग भोगे हैं... अनन्त बार स्वर्ग के भोग भोगे, नरक का दु:ख सहन किया, मनुष्य के राजपाठ में भी अनन्त बार जन्मा और भोग, भोगे (परन्तु) तृप्ति नहीं हुई। **तृष्णा की दाह शमन न हो सकी।** क्योंकि आत्मा के आनन्द की रुचि के बिना वह तृष्णा की दाह शमन नहीं होती। **ज्ञानीजन विषय सुख को हेय समझते हैं।...** धर्मी जीव पाँच इन्द्रिय के विषय सुख को हेय - ज्ञेयरूप हेय समझते हैं, छोड़नेयोग्य समझते हैं। **और विषयसुख के कारणरूप पुण्यकर्म को हेय जानते हैं।** ऐसा कहना है न वापस! समझ में आया? उस विषयसुख को धर्मी जीव हेय जानते हैं, तब **विषयसुख के कारणभूत ऐसे पुण्यकर्म को हेय जानते हैं। इसीलिए पुण्यबन्ध के कारणरूप शुभोपयोग को भी हेय समझते हैं।**

तीन बोल लिये हैं। धर्मी उसे कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय के विषयसुख को छोड़ने योग्य जाने। पाँच इन्द्रिय के विषयों को हेय जानें तो उनके कारणरूप बन्ध को भी हेय जानें; बन्ध को हेय जानें, समझ में आया? तो पुण्यबन्ध का कारण ऐसे शुभोपयोग को भी हेय जानें। तीनों ही हेय हो गये। जिसे विषयतृष्णा इन्द्रियसुख में प्रीति है, उसे पाप में प्रीति है, उसके फल में प्रीति है, तो उसकी प्रीति कर्मबन्धन में है और जिसे इन्द्रिय-विषयसुख का प्रेम है, उसका बन्ध पुण्य हो तो भी ठीक मानता है और पुण्यभाव को भी ठीक मानता है। इन्द्रिय विषयसुख को हेय मानता है, उसे पुण्यबन्ध भी हेय है और उसका कारण शुभभाव भी हेय है। क्या कहा? छह बोल हुए।

इन्द्रियविषय को सुखरूप मानता है, उसे इन्द्रियविषय के कारण जो बन्ध है, उसे सुखरूप मानता है, उसके कारणरूप भाव को भी सुखरूप मानता है। इन्द्रियविषय को सुखरूप नहीं मानता, हेय मानता है तो इन्द्रियविषय सुख का कारण जो बन्ध, उसे भी हेय मानता है और बन्ध के कारणरूप शुभभाव को भी हेय मानता है। आहा...हा...! समझ में

आया ? बाह्य पदार्थ और बाह्य फल, वह जिसकी बुद्धि में अधिक दिखता है, अधिक दिखता है तो उसे फल की प्रीति आयी तो बन्धन के कारण को भी अपने आत्मा के स्वभाव से अधिक माना और बन्ध के कारण शुभभाव को भी अपने स्वभाव से भी अधिक माना। आत्मा को हीन माना। समझ में आया कुछ ? क्या कहा ?

भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, ऐसी जिसे रुचि नहीं है, उसे इन्द्रिय के फल विषय में रुचि है, प्रेम है, तो उसका बन्ध पड़ा, पुण्यबन्ध पड़ा, उसका भी प्रेम है और उसका कारण, शुभभाव में भी प्रेम है और आत्मा के प्रति उसे अप्रेम है। जिसे आत्मा के प्रति प्रेम है, उसे इन्द्रिय विषय के प्रति हेयबुद्धि है। तो उसके बन्ध में भी हेयबुद्धि है और बन्ध के कारण में भी हेयबुद्धि है। समझ में आया ?

(ज्ञानी) मात्र शुद्धोपयोग की भावना करता है, जिससे तिर्यञ्च में भी अतीन्द्रियसुख होता है। देखो, क्या कहते हैं ! अरे... ! पशु में भी आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और शुद्धोपयोग होता है तो उसे भी आनन्द आता है। पशु को खाने के लिये एक टुकड़ा नहीं मिले, अनाज का कण नहीं मिले... समझ में आया ? और चार-चार पहर रात्रि में आहार का त्याग। रात्रि में कोई पानी नहीं मिलता। चिड़िया का छोटा बच्चा हो, सुबह से शाम तक पानी की बूँद नहीं, अनाज का कण नहीं और स्थान परिवर्तन नहीं (ऐसे) तीन (नहीं)। स्थान भी वही, वहाँ आसन लगा दिया, **चकला** कहते हैं न ? चकला... चिड़िया है, मोर है, पक्षी है। देखो, एक स्थान में बारह घण्टे-तेरह घण्टे (रहते हैं)। रात बड़ी हो तो चौदह-चौदह घण्टे (रहते हैं)। आहार की कण नहीं, पानी की बूँद नहीं, समझ में आया ? परन्तु कहते हैं कि उस स्थान में भी, यदि आत्मा शुद्ध चिदानन्द की रुचि और अनुभव है तो उसे शुद्धोपयोग का आनन्द है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसी स्थिति में भी... आहा...हा... ! पशु है न ? मेंढ़क होता है, वह भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। आत्मा है या नहीं ?

भगवान के समवसरण में पशु आदि सब जाते हैं, छोटा मेंढ़क भी जाता है, बड़े-बड़े मगरमच्छ भी जाते हैं और बड़े-बड़े सिंह-बाघ, नाग भी जाते हैं। बड़ा जहरीला नाग हो, वह रात में तो भोजन के लिए घूमता है परन्तु यह नहीं फिरता, फिर रात्रि भोजन नहीं

करता। समझ में आया? जिसे आत्मा का भान हुआ और सम्यग्दर्शन आदि हुए और किसी नाग को पञ्चम गुणस्थान होता है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान उपरान्त शान्ति बढ़ जाती है वह नाग चार पहर तो बिलकुल नहीं लेता, बाहर नहीं जाता, उसमें भी उसे निर्दोष आहार मिले एकेन्द्रियादि (वह लेता है) और अन्दर शुद्धोपयोग में आनन्द मानता है। ओहो...हो...! समझ में आया!

यह चक्रवर्ती आदि और अरबोंपति सेठिया आदि को अपने शुद्धस्वरूप का भान नहीं, श्रद्धा और ज्ञान की रुचि नहीं, वे पुण्य-पाप में प्रेम और रुचि करते हैं तो अकेली आकुलता को वेदते हैं। अरबोंपति सेठ आकुलता को (वेदता है)। मेढ़ी में... ऊपर की मंजिल कहते हैं? कमरे में बैठे-बैठे झूला झूलें, सोने की साँकल है, अकेली आकुलता (भोगते हैं) क्योंकि आत्मा अखण्डानन्द की रुचि तो है नहीं; पुण्य-पाप की रुचि में अकेली आकुलता का वेदन करते हैं। उस महल में विराजकर आकुलता वेदते हैं। वे पक्षी वृक्ष की डाल पर दो पैर से (लटके / बैठे हुए) पूरी रात अन्तर में शुद्ध प्रभु आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्य प्रभु की अनुभव दृष्टि हुई है और पुण्य-पाप के भाव को विकार, दुःखरूप देखकर छोड़ने योग्य मानते हैं। स्वभाव ही आदर करने योग्य मानकर शुद्ध व्यापार अन्दर करते हैं तो वह पशु भी आनन्द को भोगते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

नरक में भी समकिती को आनन्द है। 'बाहिर नारक कृत दुःख भोगे' यह आता है न? अन्दर सुख की गटागटी... नारकी को गटागटी...। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... बाहर संयोग (ऐसे) ओहो...हो...! जन्में तब से सोलह रोग पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... बाहर की। अन्तर में आत्मा की शुद्ध श्रद्धा, भान अनुभव किया है तो कहते हैं कि उस आनन्द में गटागटी करते हैं। उस आत्मा के शुद्धोपयोग की दृष्टि के कारण अतीन्द्रिय आनन्द नरक में (भी) लेते हैं और अज्ञानी ऐसे महल में बैठा हो लगे कि सुखी है (परन्तु) अकेली आकुलता में दुःखी है। समझ में आया?

कर्मों का क्षय होता है और मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। लो, उसे - तिर्यञ्च को शुद्धोपयोग में कर्मों का क्षय होता जाता है, हाँ! मोक्षमार्ग प्राप्त करता है, मोक्षमार्ग बराबर शुद्ध होता जाता है। **शुद्धोपयोग में स्थिरता की शक्ति न होने से ज्ञानी जीव शुभोपयोग**

में वर्तता है परन्तु पुण्य की इच्छा नहीं रखता। लो, समझ में आया। ओहो...हो... ! कहाँ पशु ज्ञानी और कहाँ मिथ्यादृष्टि सेठ और मिथ्यादृष्टि देव !

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी...

उत्तर : द्रव्यलिङ्गी साधु। समझ में आया ? जिसे आत्मा के आनन्दस्वभाव की रुचि नहीं है और पुण्यभाव की प्रीति-रुचि है, वह नौवें ग्रैवेयक में होने पर भी आकुलता का वेदन करता है। आकुलता... आकुलता... आकुलता... । नीचे सातवें नरक में नारकी पड़ा है, नौवें ग्रैवेयक और सातवाँ नरक। नारकी पड़ा है, कोई बड़ा राजा-महाराजा मरकर गया तो भान हो गया कि ओहो...हो... ! सन्तों ने हमें कहा था कि स्वभाव का साधन करने में तू स्वतन्त्र है, बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। तेरा धर्म करने में पैसे का व्यय, शरीर का नाश, किसी बलवान पुरुष की मदद की कोई आवश्यकता नहीं है। (तब) नहीं माना। (अब) मैं यहाँ नरक में आया ऐसी वेदना का ख्याल छोड़कर शान्तस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर सातवें नरक में नारकी समकिती आनन्द लेता है और नौंवे ग्रैवेयक में मिथ्यादृष्टि जीव दुःख भोगता है। उसका कारण-हेतु स्वभाव की दृष्टि, अनुभव हुआ, शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, बस ! उस अनुभव में आनन्द है और अज्ञानी को पुण्य की प्रीति पड़ी है, वह भले ही स्वर्ग में जाये तो भी अकेली आकुलता का वेदन करता है।

प्रवचनसार की बात की है। पुण्य है अवश्य ऐसा। परन्तु उस पुण्य के कारण से दुःखी है। **देवादि तृष्णा के कारण से दुःखी होते हैं**। पुण्य का फल है, पुण्य का अस्तित्व है, उसका फल भी है परन्तु तृष्णा में दुःखी है।

☆ ★ ☆

भावनिर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है

जइया मणु णिग्गथु जिय तइया तुहुँ णिग्गथु।
जइया तुहुँ णिग्गंथं जिय तो लब्भइ सिवपंथु॥ ७३॥

यदि तुझ मन निर्ग्रन्थ है, तो तू है निर्ग्रन्थ।
जब पावे निर्ग्रन्थता, तब पावे शिवपन्थ॥

अन्वयार्थ – **(जिय जइया मणु णिग्गंथु)** हे जीव! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ **(जइया तुहुँ णिग्गंथु)** तब तू सच्चा निर्ग्रन्थ है **(जिय जइया तुहुँ णिग्गंथु)** हे जीव! जब तू निर्ग्रन्थ है **(तो सिवपंथु लब्भइ)** जो तूने मोक्षमार्ग पा लिया।

☆ ★ ☆

७३, भावनिर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है। भावनिर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है।

जइया मणु णिग्गथु जिय तइया तुहुँ णिग्गथु।
जइया तुहुँ णिग्गंथं जिय तो लब्भइ सिवपंथु॥ ७३॥

हे आत्मा! **यदि तेरा मन निर्ग्रन्थ है...** उस मन में राग की एकता टूट कर ग्रन्थिभेद किया है, आत्मा शुद्ध आनन्द की दृष्टि की है (तो) **तेरा मन निर्ग्रन्थ है।** बाहर में भले ही कैसे भी पड़ा हो, कहते हैं। समझ में आया? पहले सम्यग्दर्शन में, हाँ! मुनिदशा में तो बाहर से भी छूट जाता है। यहाँ निर्ग्रन्थ पद का विशेष वजन दिया है।

हे आत्मा! तेरा मन निर्ग्रन्थ है (अर्थात्) अन्तर में से राग-पुण्य-पाप की एकता छूटकर तेरी शुद्ध चैतन्य की सम्पदा के साथ एकता हुई और विशेष एकता हुई, भाव से निर्ग्रन्थ है, तब तू सच्चा निर्ग्रन्थ है, सच्चा निर्ग्रन्थ है। बाहर से नग्न हुआ, वस्त्र छोड़कर नग्न हुआ वह कोई सच्चा निर्ग्रन्थ नहीं है। समझ में आया?

हे जीव! यदि तू निर्ग्रन्थ है, यदि तेरा अन्तरस्वभाव पवित्र भगवान आत्मा में प्रीति लग गयी है और तुझे पुण्य-पाप की प्रीति राग की गाँठ की प्रीति छूट गयी है, ऐसा जो निर्ग्रन्थ है तो तूने मोक्षमार्ग प्राप्त कर लिया है। उसने मोक्षमार्ग प्राप्त कर लिया है। **'सिवपंथु लब्भई'** मोक्ष का पंथ तुझे प्राप्त हो गया। बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं है। भगवान आत्मा पूर्ण शिवस्वरूप प्रभु और रागादि दुःखरूप, उन दोनों का विवेक करके भेदज्ञान कर लिया और विशेष आत्मा में स्थिरता जम गई तो तू निर्ग्रन्थ है। भाव निर्ग्रन्थ है तो भले बाहर में निर्ग्रन्थ द्रव्यलिङ्ग आता ही है परन्तु भाव निर्ग्रन्थ है तो तूने शिवपन्थ प्राप्त कर लिया है। समझ में आया? बाहर में अकेला निर्ग्रन्थ होकर भाव निर्ग्रन्थ न हो तो आत्मा को कभी लाभ नहीं होता, यहाँ यह बताते हैं।

निर्ग्रन्थ पद ही साधु पद है। संयम का साधन साधु ही कर सकता है क्योंकि वही आरम्भ परिग्रह को त्यागकर अहिंसादि पाँच महाव्रतों का यथार्थ पालन कर सकता है। ठीक (लिखा है)। मूल तो यहाँ मन में निर्ग्रन्थ है, वह त्यागी है। ऐसा वास्तव में कहना है। वह सम्यग्दृष्टि भी मन का राग का त्यागी है। समकित अपेक्षा से वह भी निर्ग्रन्थ है, समझ में आया? धर्मी जीव अनुभव में अपने वीतराग स्वभाव की रुचि रखता है, उसकी राग के प्रति प्रीति है ही नहीं, वह निर्ग्रन्थ हुआ। भगवान आत्मा राग रहित स्वभाव, उसकी जिसे अनुभव में प्रीति, अनुभव में परिणति जम गयी (तो वह) भाव निर्ग्रन्थ है। समझ में आया?

जहाँ तक वस्त्र का ग्रहण है तब तक परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं है। विशेष सिद्ध करते हैं। **अन्तरङ्ग में मन को ग्रन्थरहित करना चाहिए।** लो, अन्तरङ्ग में मन को ग्रन्थरहित करना चाहिए। दया, दान का विकल्प जो उत्पन्न होता है, वह भी राग की गाँठ है। वह ग्रन्थ है, भगवान निर्ग्रन्थ आत्मा है। आता है न 'णिगंथो' 'नियमसार में' 'शुद्धभाव अधिकार में' नहीं आता? 'णिदंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो' वह आत्मा की बात की है, आत्मा निर्ग्रन्थ है। त्रिकाल निर्ग्रन्थ ही है। पुण्य-पाप के विकल्प से रहित निर्ग्रन्थ भगवान आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा अपना परमात्मस्वरूप... अ... हो...! जिसकी महिमा में अपनी अल्प पर्याय के विकास की भी महिमा नहीं रहती तो उसमें पुण्य परिणाम और पाप परिणाम की महिमा कहाँ आ सकती है, समझ में आया?

ज्ञान में, अपना पूर्ण पवित्र परमात्मा का स्वयं का निज शुद्ध स्वभाव जहाँ ज्ञान में जम गया (तो वह) निर्ग्रन्थ आत्मा है। वस्तु निर्ग्रन्थ है तो उसकी दृष्टि करनेवाला भी, भाव से निर्ग्रन्थ है। आहा...हा...! समझ में आया? बाहर में नग्नादि हो परन्तु अन्तर में निर्ग्रन्थ भाव न हो तो एक भी भव घटने का लाभ नहीं है। लो, समझ में आया? आहा...हा...!

अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग होना चाहिए। उसके नाम दिये हैं, ठीक है। कहते हैं **मन में से सर्व ममता का, राग-द्वेष का मैल निकाल देना चाहिए। परम वीतराग समदर्शी सर्व प्राणीमात्र पर करुणाभाव, परम सन्तोषी, आत्मरस के पिपासु और विषयरस में विरक्त होना ही भाव निर्ग्रन्थ पद है।** समझ में आया? फिर कहते हैं,

अनाज के ऊपर का मोटा छिलका निकाले बिना अन्दर का पतला छिलका दूर नहीं हो सकता। कोई ऊपर का छिलका ही निकाले और अन्दर का न निकाले तो उसे शुद्ध चावल नहीं मिलते... चावल होते हैं न? चावल, उसमें छिलका होता है। छिलका निकालने पर ही लालिमा होती है न? लालिमा। लालिमा को क्या कहते हैं? लालिमा। तुम्हारी भाषा में क्या कहते हैं? ललाई, चावल के ऊपर की ललाई। ललाई को न छोड़े और छिलके को छोड़े उसे चावल का लाभ नहीं होता। ऐसे बाहर से वस्त्र-पात्र आदि छोड़ दे, परिवार छोड़ दे परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि नहीं छोड़े तो ललाई तो छुटती नहीं। आहा...हा...!

बाहर में निर्ग्रन्थ हुए बिना अन्तरङ्ग में निर्ग्रन्थ नहीं हुआ जा सकता। बाहर से निर्ग्रन्थ हो जाये परन्तु अन्दर से निर्ग्रन्थ न हो, अन्दर में राग रहित स्वरूप की अनुभव दृष्टि न हो, वीतरागस्वभाव का अन्दर सावधानीपूर्वक आदर न किया हो तो समदर्शी नहीं होता। आत्मानन्दरसिक नहीं होता, सच्चा निर्ग्रन्थ नहीं। बाहर से निर्ग्रन्थ हो गया, नग्न हो गया, परन्तु अन्दर से निर्ग्रन्थ न हो, पुण्य परिणाम से भिन्न पड़कर भगवान आत्मा का अनुभव न किया हो, वीतरागी न हो, विशेष स्थिरता आदि न हो, समदर्शी न हो, पुण्य-पाप दोनों एक है और स्वभाव भिन्न है। आत्मानन्द रसिक न हो और पुण्य का रसिक हो, वह सच्चा निर्ग्रन्थ नहीं है।

भाव निर्ग्रन्थ ही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है, केवल व्यवहार-चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। पञ्च महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण और नग्नपना वह केवल व्यवहार क्रियाकाण्ड है, मोक्षमार्ग है ही नहीं। आहा...हा...! वे वहाँ ठहराते हैं, गजब किया है! लोग ऐसे झेलनेवाले, दिगम्बर जैन धर्म, सनातन सत्य प्रवाह आता है, उसमें ऐसे निषेध करनेवाले कोई निकले... ऐसा सनातन वीतरागमार्ग सन्तों ने सरल कर दिया है, स्पष्ट कर दिया है। भगवान तेरी चीज तो पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है न! तेरा निर्ग्रन्थस्वरूप है न! उसके अनुभव के बिना तुझे स्थिरता कहाँ से होगी और स्थिरता के बिना चारित्र नहीं होता। बाहर का लाख क्रियाकाण्ड कर, बाहर पञ्च महाव्रत पाल (परन्तु) मुनि है ही नहीं। समझ में आया? **रत्नत्रय, अन्तरङ्ग स्वानुभवरमणरूप निश्चयचारित्र है, यही**

यथार्थ शिवपंथ है, उस पर ही चलकर ज्ञानी मोक्ष नगर में पहुँच जाते हैं। फिर तो उनकी बात की है।

☆ ★ ☆

देह में भगवान होता है

जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहँ वडु वि हु जाणु।
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय पहाणु॥ ७४॥

ज्यों बीज में है बड़ प्रगट, बड़ में बीज लखात।
त्यों ही देह में देव वह, जो त्रिलोक का नाथ॥

अन्वयार्थ - (जं वडमज्झहँ बीउ फुडु) जैसे बरगद **(बड़)** के वृक्ष में उसका बीज स्पष्टपने व्यापक है **(बीययं बडु वि जाण)** वैसे बरगद **(बड़)** के वृक्ष को भी जानों **(तं देहउ वि मुणहि)** तैसे इस शरीर में उस देव को भी अनुभव करो **(जो तइलोय-पहाणु)** जो तीन लोक में प्रधान है।

☆ ★ ☆

अब, ७४। इस देह में भगवान विराजमान हैं, ऐसा निश्चित करना चाहिए। तेरा भगवान तुझसे दूर नहीं है। आहा...हा...! तू पूर्ण भगवान है। दृष्टान्त देते हैं। कल आया था न!

जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहँ वडु वि हु जाणु।
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय पहाणु॥ ७४॥

जैसे, बरगद के वृक्ष में उसका बीज स्पष्टरूप से व्यापक है, वैसे बरगद के बीज में बरगद का वृक्ष भी व्यापक जानो। बीज में बड़ और बड़ में बीज। समझ में आया? बड़ में बीज स्पष्टरूप से पड़ा है और बीज में भी बड़ स्पष्टरूप से पड़ा है। 'तं देहहँ देउ वि मुणहि' इस शरीररूपी बड़ में तेरा यह भगवान आत्मा अन्दर विराजता है। देह नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं यह पुण्य-पाप के विकल्प, राग वह भी नहीं, उनसे रहित तेरी चीज भगवान देह-देवालय में; जैसे, बीज में बड़ है, बीज में जैसे बड़ है, ऐसे यह आत्मा

स्वयं परमात्मस्वरूप है। कैसे बैठे ? मैं परमात्मा ? मैं भगवान ? भाई ! तू भी भगवान, वस्तु से भगवान नहीं हो तो पर्याय में भगवान कहाँ से होगा ? वस्तुपने भगवान न हो तो अवस्था में भगवानपना कहाँ से आयेगा ? बाहर से आता है ? आहा...हा... ! क्या है श्लोक ?

ज्यों बीज में है बड़ प्रगट, बड़ में बीज लखात।
त्यों ही देह में देव वह, जो त्रिलोक का नाथ॥

तीन लोक में भी यह आत्मा देव जैसा प्रधान कोई आत्मा दूसरा नहीं है, ऐसा कहते हैं, दूसरे परमेश्वर भी इस देव के परमात्मा नहीं हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? तीन लोक में तेरा आत्मादेव वह प्रधान है, ऐसा कहते हैं। भगवान अरहन्त और भगवानदेव तेरे लिए नहीं हैं। आहा...हा... !

ज्यों बीज में है बड़ प्रगट, बड़ में बीज लखात।
त्यों ही देह में देव वह, जो त्रिलोक का नाथ॥

शरीर में देव का अनुभव करो। शरीर में देव का अनुभव करो, भगवान आत्मादेव तू ही। ओ...हो... ! समझ में आया ? वस्तु है न ? आत्मा पदार्थ है न ? पदार्थ है न आत्मा ? पदार्थ है तो पूर्ण ज्ञानदर्शन आनन्द से पूर्ण भरा है। जैसे परमात्मा पर्याय में पूर्ण है, यह वस्तु से पूर्ण है। पूर्ण परमात्मा स्वयं अपने को जब तक नहीं मानता तब तक उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती। समझ में आया ? शरीरवाला तो नहीं मानना, कर्मवाला नहीं मानना, रागवाला नहीं मानना, अल्प अवस्थावाला नहीं मानना। आहा...हा... ! अल्प अवस्था समझते हो ? प्रगट पर्याय जितनी अल्प है, वह कहीं वस्तु नहीं, वस्तु नहीं, वस्तु एक समय में 'वस्तु बहोरजो रे, दोशिणा ने हाटे' ऐसा आता है न ? वह विवाह में आता है, वह वस्तु अन्दर पड़ी है। ए... फूलचन्दजी ! आता है या नहीं ? समझ में आया ? विवाह में गाते हैं। यह विवाह सजाया है, कहते हैं।

भाई ! तू बड़ा वर है, हाँ ! सब समय में उसे वर बनाते हैं या नहीं ? परन्तु वह थोड़ी देर। यहाँ तो त्रिकाल त्रिलोक प्रधान तीन लोक में तेरा आत्मादेव, उसके सिवाय तेरे लिये कोई देव नहीं है। आहा...हा... ! यह उस दृष्टि में स्वीकार... समझ में आया ? भरोसे भगवान चढ़ गया, ऐसा भगवान पूर्णानन्द प्रभु वह मैं स्वयं ही देव, मेरा देव, मैं तीन लोक

में प्रधान मेरे लिये मैं ही हूँ, मेरे लिये कोई दूसरा तीन लोक में प्रधान नहीं है। ओ...हो...! देखो कितना रखा है! समझ में आया? **जो तीन लोक में प्रधान है।**

अपना आत्मा अपने शरीर में व्यापक है। यहाँ पर व्यापक है न? बीज में जैसे बड़ व्यापक है न? बीज में बड़ है ऐसा पसर कर रहता है, ऐसे भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानदर्शनादि से व्यापक है। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण प्रभुता आदि अनेक शक्तियों का पिण्ड भगवान एक समय में पूर्ण परमात्मा ही व्यापक है। समझ में आया? **शरीर प्रमाण है।** शरीर प्रमाण आकार में शरीर में है। शरीर प्रमाण के आकार भी, शरीर प्रमाण शरीर से भिन्न, अपने आकार से है। जैसे, बरगद में... बरगद में... ऐसी भाषा ली है, हाँ! बरगद, ऐसा कहते हैं न? बड़ को ऐसा कहते हैं न?

बड़ में बीज और बीज में बड़ व्यापक है। बीज में बड़ व्यापक है और बड़ में बीज व्यापक है। ऐसे पूरे बड़ में ही एक ही बीज व्यापक है क्योंकि मूल बीज जो है, वह सर्वत्र व्याप्त है न? बड़ का वृक्ष है न? मूल बीज है न? एक मूल बीज व्यापक है, सम्पूर्ण ठेठ पत्तों में, ठेठ उसके फल में वह सर्वत्र व्याप गया है। भगवान आत्मा अपने आत्मा में देव-भगवान विराजता है और भगवान में स्वयं आत्मा विराजता है, स्वयं का स्वयं भगवान, स्वयं का स्वयं बीज, और स्वयं का स्वयं भगवान। आहा...हा...! अनन्त मोक्ष केवलज्ञान आदि का बीज तो आत्म द्रव्य है। समझ में आया? उसमें वह मोक्ष और अनन्त केवलज्ञान की पर्याय सर्वत्र व्यापक उसमें पड़ी है। आहा...हा...! समझ आया? जो मोक्षदशा की अनन्त दशायें (प्रगट होती हैं)। वे सभी आत्मा में व्यापकरूप से पड़ी हैं। इसलिए तू तेरा देव है। **आत्मा स्वयं तीन लोक में मुख्य पदार्थ परमात्मादेव है, ज्ञानी को ऐसा विचारना चाहिए कि मुझे आराधना करने योग्य मेरा आत्मा ही है।** लो, मुझे आराधना करने योग्य, सेवा करने योग्य, ध्यान करने योग्य, मेरा आत्मा है। समझे? **यही विचार करो कि जैसा आकार मेरे इस शरीर का है, वैसा ही आकार मेरे आत्म भगवान का है।** आकार आत्मा का है। मैं तो शरीर से भिन्न आकार से हूँ मेरे आकार में अनन्त आनन्दादि पड़ा है। परमात्मस्वरूपी मैं निर्विकल्प आनन्द हूँ इस प्रकार धर्मी को अपने स्वरूप का आराधन करने योग्य है और अपने को प्रभु मानना, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ४, मंगलवार, दिनाङ्क ०६-०७-१९६६
गाथा ७४ से ७५ प्रवचन नं. २७

योगसार अर्थात् क्या? योग अर्थात् जुड़ान ऐसा (अर्थ) होता है। किसमें? यह आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप ध्रुवस्वरूप है। यह देह वाणी वह तो मिट्टी जड़ है, उससे पृथक् भी अन्दर पुण्य-पाप के जो शुभ-अशुभभाव होते हैं, विकल्प (होते हैं) वह विकार है, उससे वह पृथक् तत्त्व है, उस आत्मा में...।

यहाँ पर बड़ का दृष्टान्त दिया है। जैसे, बीज में बड़ है ऐसे इस आत्मस्वभाव में परमात्मस्वरूप पूर्ण पड़ा है। समझ में आया? जैसे, पीपर के दाने में... पीपर-पीपर होती है न? वह पीपर, छोटी पीपर; उस एक पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट अन्दर भरी है। आकार में छोटी, रंग में काली, तथापि उसके अन्दर स्वभाव में चौसठ पहरी चरपराहट भरी है।

मुमुक्षु : दस्ता से आती है?

उत्तर : दस्ता से आवे तो पत्थर नहीं घिस डाले वह घिसे तब चौंसठ पहरी प्रगट होती है या नहीं? कहाँ से आयी? पत्थर घिसने से आवे तो कोयले और कंकड़ घिसना चाहिए। ठीक है या नहीं इसमें न्याय, लॉजिक से? उस पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट भरी है। चौसठ पहरी, वह तो अब सोलह पैसे का रुपया हुआ न? अभी तक तो चौसठ पैसे का रुपया था न? चौसठ पैसा अर्थात् पूर्ण रुपया, सम्पूर्ण अखण्ड। ऐसे पीपर में एक-एक दाने में चौसठ पहरी अर्थात् सोलह आने अर्थात् पूर्ण चरपराहट भरी है। जो पड़ी है, उसकी - प्राप्त की प्राप्ति है; है उसमें से आती है। न हो उसमें से नहीं आ सकती। इसी प्रकार इस देह के रजकणों से भिन्न भगवान आत्मा उसमें चौसठ पहरी अर्थात् पूर्ण ज्ञान और आनन्द उसमें पड़ा है। पीपर का भरोसा किसे आता है क्योंकि वैद्य आदि ने बहुत बार

घिसकर देखा होता है। ऐसे उस पीपर का उतना दाना, कद में छोटा, रंग में काला, अल्प चरपराहट बाह्य व्यक्तरूप से अल्प दिखाई देती है, परन्तु अन्तर के स्वभाव में उसका सत्व जो शक्तिरूप है, वह तो पूरी चौसठ पहरी चरपराहट से भरपूर और जिसमें हरा रंग पूर्ण भरा है। बाहर में भले ही काली (दिखाई दे) परन्तु अन्दर उसका स्वभाव काला नहीं है, उसमें हरा रंग भरा है।

ऐसे भगवान आत्मा इस देह में रहनेवाला तत्त्व भले ही शरीर प्रमाण हो, वही यहाँ कहते हैं, तथापि उसके अन्तर सत्व में, अन्तरशक्ति में जैसे – बीज में पूरा बड़ है, पीपर के दाने में जैसे चौसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग पूरा है, उसी प्रकार यह भगवान आत्मा इसके अन्तरशक्ति के सत्व में, ध्रुवपने में, सत्त्व में ध्रुवपने में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान, पूर्ण व्यापक पड़ा है। उसे कभी उसका भरोसा आया नहीं। जगत् की वस्तु की महत्ता और महिमा उसे दिखाई देती है। समझ में आया ? यह शक्कर होती है न ? क्या कहलाती है वह ? सेक्रिन। छह सौ गुनी (मिठास) कहते हैं न कोई ? छह सौ गुनी मिठास, उसे माने कि यह शक्कर के रजकणों में उसमें अमुक प्रकार के रस की उग्रता होती है, उग्रता होवे तो छह सौ गुनी उसमें होती है। उन रजकणों में रस की ऐसी जाति की ताकत पड़ी है तो छह सौ गुनी (मिठास) उसमें आती है। डली इतनी हो और थोड़ी मिठास हो वह थोड़ी हो और बहुत मिठास हो वह मिठास की दशा की – अवस्था की शक्ति तो उसके रजकण में थी उसमें से प्रगट हुई है।

ऐसे ही यह भगवान आत्मा, मैं कौन हूँ और कैसा हूँ ? ऐसी उसे खबर नहीं है। उसे तो यह शरीर और वाणी और राग और पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव होवे उतना। वह नहीं ऐसा जानने की जो कला अल्पज्ञ वर्तमान दशा दिखती है। अल्प वह पर को जानती है न ? उस अल्पज्ञान का विकास है, उतना वह नहीं। जैसे बीज में पूरा बड़ समाहित है, बीज में बड़ है, न होवे तो आया कहाँ से ? प्रगट कहाँ से हुआ ? कंकण में पानी डाले, कंकण बोये और पानी डाले, बड़ ऊगता होवे तो। उस चीज में बड़ होने की ताकत है, भाई ! ठीक है या नहीं इसमें ? लॉजिक से तो बात है, इसमें न्याय से जरा इसे जानना पड़ेगा। कंकण बोये नहीं, पानी डाले नहीं, दूध डाले नहीं और उसमें निंबोली बोये, क्या बड़ होगा ? उस बड़ के बीज में ही बड़ के होने की ताकत है।

ऐसे भगवान आत्मा देह में रहा हुआ तत्त्व, उसकी वर्तमान प्रगट अवस्था अल्प है। पुण्य-पाप का विकल्प करते हैं, वह विकार है, दुःखरूप है। भगवान अन्तर उसका स्वभाव नित्यानन्दस्वरूप आत्मा, उसके स्वभाव में तो स्थायी आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की पूर्णता से भरपूर वह भगवान आत्मा पूर्ण है। वह पूर्ण है, उसमें से प्राप्त की प्राप्ति होती है। है, कुएँ में होवे तो होज में आये। न हो तो कहाँ से, धूल में से आयेगा? समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा... कहा न? यहाँ तक आया है देखो? **वैसा ही आकार मेरे आत्मभगवान का है**। पहला पैराग्राफ हुआ है। भावार्थ शुरु से लेते हैं।

देखो! **अपनी आत्मा अपने शरीर में व्यापक है**। भगवान आत्मा शरीर प्रमाण परन्तु भिन्न तत्त्व है वे जड़ के आकार, वे तो जड़ हैं। प्रभु! उसमें जैसे पानी का कलश होता है, वह काशी घाट का (होता है) उस कलाश का आकार भिन्न है और अन्दर जल - पानी भरा है, उसका आकार भले ही कलशे जैसा उस पानी का आकार है; परन्तु वह पानी का आकार कलश से भिन्न आकार है। समझ में आया? ऐसे ही यह शरीर कलशघाट का शरीर है न? देखो न यह। यह (शरीर) काशी घाट का कलश है, उसमें भगवान आत्मा चिदानन्द विराजमान है। वह भी उसका आकार, उसकी आकृति भी शरीर प्रमाण भिन्न है। शरीर प्रमाण (होने) पर भी भिन्न है और उसके स्वभाव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन (विद्यमान है)। जिसका स्वभाव जानना, उस जानने के स्वभाव की शक्ति की मर्यादा, माप कैसे होवे? वह स्वभाव बेहद ज्ञान, बेहद दर्शन, अमाप शान्ति, अमाप आनन्द, (शान्ति अर्थात् चारित्र) अमाप अतीन्द्रिय आनन्द का रसकण (अन्दर) आत्मद्रव्य में पड़ा है। समझ में आया?

ऐसे आत्मा को शरीर प्रमाण होने पर भी **यह आत्मा स्वयं तीन लोक में मुख्य पदार्थ परमात्मादेव है**। स्वयं ही परमात्मादेव है। परमात्मा हुए वे अपने स्वरूप से हुए। समझ में आया? वह भी स्वतन्त्र; जैसे लाखों करोड़ों गुनी पीपर होने पर भी, प्रत्येक पीपर में पूरी-पूरी ताकत है और पूरी-पूरी प्रगट होती है। वैसे ही अनेक आत्माएँ हैं तथापि एक -एक आत्मा में परिपूर्ण... बड़ में जैसे बीज या बीज में बड़ है, (वैसे ही) भगवान आत्मा परिपूर्ण शक्ति आनन्द आदि से भरपूर तत्त्व है। समझ में आया?

आत्मादेव को देखें तो इस शरीर से दिखता है परन्तु उसे शरीर से नहीं देखना चाहिए, कहते हैं। समझ में आया? अथवा संयोगी कर्म के कारण भी उसमें विकार या कोई विशुद्धि ऐसी दशा के भेद दिखें उन भेदों को न देखकर अकेला चैतन्यद्रव्य स्वभाव, वस्तु स्वभाव देखें तो अभेद अखण्ड आनन्दकन्द है। उस पर दृष्टि देने से आत्मा को शान्ति होती है, सम्यग्दर्शन होता है और स्वतन्त्र सुख की अन्तर में जो शक्ति पड़ी है, उसमें अन्तर एकाकार होने पर अन्तर के आनन्द की झलक, उसकी श्रद्धा के ज्ञान में अन्तर में ढलने पर होती है। जैसे पीपर को घोंटने पर जैसे पाँच-दस पहरी, पच्चीस पहरी होती है, अन्त में चौंसठ पहरी होती है, अन्त में त्रेसठ है न? त्रेसठ का व्यय, त्रेसठ का अभाव होकर चौंसठ हुई है। उस त्रेसठ में से चौसठ नहीं आयी है। थोड़े में से अधिक नहीं आयी है। त्रेसठ गयी और चौसठ हुई वह चौसठ, अन्दर में से, शक्ति में से आयी है। समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा, अन्तर में यह जो अल्पज्ञान बाहर में प्रगट दिखाई देता है, राग दिखता है, वह राग इसकी वस्तु नहीं है, विकृतभाव है। अल्पज्ञान दिखता है उतना व्यय नहीं है। क्योंकि अन्तर में एकाकार होने पर ज्ञान की शक्ति की व्यक्तता प्रगटता विशेषता दिखती है, तो वह विशेष ज्ञान की दशा दिखती है, वह पूर्व की दशा गयी उसमें से नहीं आती; वह विशेष शक्ति में से अन्दर शक्ति पड़ी है उसमें एकाकार होने पर ज्ञान की कला की उग्रता जो प्रगट दशा में होती है, उस कला का धाम वह चैतन्य द्रव्य और ध्रुव स्वभाव है। उसकी खान में से वह कला प्रगट होती है। समझ में आया?

यह आत्मा कैसा है? इसने कभी अनन्त काल में जाना नहीं है। समझ में आया? 'नरसिंह मेहता' कहते हैं न? 'ज्या लगी आत्मतत्त्व जान्यों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी'। भाई! सुना है न? है? 'जब तक आत्मतत्त्व जाना नहीं, तब तक साधना किसकी? शूं करयो तीर्थने तप करवा थकी?'। तेरे सब व्रत और नियम शून्य है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यात्रा, भक्ति, पूजा, और भगवान के समक्ष घण्टा बजाना... परन्तु यह आत्मा क्या है? ऐसे तत्त्व के सामर्थ्य के अनुभव और प्रतीति के बिना यह सब निरर्थक चार गति में भटकने के लिये है। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा... **द्रव्यदृष्टि से जीव के साथ कर्मों का**

संयोग नहीं दिखता है। इस ओर है भाई! वस्तु दृष्टि से देखें, जैसे उस पीपर को उसकी शक्ति के सत्व से देखें तो वह काली और अल्प चरपराहट उसमें नहीं है, उसमें तो पूर्ण चरपराहट से भरपूर और पूर्ण हरे रंग से भरपूर वह तत्त्व है। ऐसे ही भगवान आत्मा को वस्तु से देखें, उसके पदार्थ के सत्व से देखें तो उसे कर्म के संग से (हुआ) विकार वह उसमें है ही नहीं। ऐसे ही कर्म के घटने से, पुरुषार्थ से कहीं कर्म घटते हैं और विशुद्धि थोड़ी बढ़ती है ऐसे भङ्ग भी जिस अन्तर वस्तु में नहीं हैं, जैसे पीपल में दो पहरी, पाँच पहरी, दस पहरी प्रगट होती है परन्तु वे सब भङ्ग अन्तर में ऐसे नहीं हैं। अन्तर में तो पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण पड़ा हुआ है। शशीभाई!

मुमुक्षु : दृष्टान्त में तो बात बैठ जाती है?

उत्तर : वह दृष्टान्त (किसलिए देते हैं)? दृष्टान्त के लिये दृष्टान्त है? या सिद्धान्त के लिये दृष्टान्त है? सिद्धान्त के लिये दृष्टान्त है या दृष्टान्त के लिये दृष्टान्त है? दृष्टान्त में से अमुक सिद्धान्त निकालने के लिये दृष्टान्त है। समझ में आया?

कहते हैं, यदि भगवान आत्मा को वस्तु दृष्टि से देखें, यथार्थ दृष्टि से अन्तरदृष्टि करने से अन्तर पूर्ण ज्ञान आनन्द से देखें, तो उसे कर्म का संयोग और उसके निमित्त से स्वयं पुरुषार्थ से उलटा विकार, पुण्य-पाप करे और अल्पज्ञपना, यह सब उसमें पूर्ण दृष्टि से देखें तो नहीं है। समझ में आया?

इस दृष्टि से कर्म सापेक्ष हो जाते हैं। कर्मों की अपेक्षा न लेनेवाले द्रव्यार्थिकनय में इस क्षायिकभाव का भी विचार नहीं आ सकता। जरा सूक्ष्म बात है। आत्मवस्तु, उसकी पूर्ण शक्ति का सत्व देखने से उसकी प्रगट अवस्था जो राग का अभाव होकर, कर्म का अभाव करके, पुरुषार्थ द्वारा जो दशा प्रगट होती है; वह दशा भी क्षणिक अवस्था की पूर्णता है, क्षणिक अवस्था की पूर्णता है, सम्पूर्ण पूर्णता नहीं है। समझ में आया? कभी इसने अपनी जाति क्या है? उसे देखा नहीं, बाकी पढ़-पढ़ कर पढ़े सब जगत के व्यर्थ और शास्त्र पढ़े परन्तु शास्त्र में से क्या निकालना है, इसका पता नहीं है।

यह भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शान्ति के, पूर्ण स्वच्छता के, पूर्ण प्रभुता के सामर्थ्य से - स्वभाव से भरपूर वह

पदार्थ है। उस दृष्टि से देखें तो उसे जो नयी दशा प्रगट होती है, उसकी भी जिसके त्रिकाल द्रव्य की दृष्टि में अपेक्षा नहीं रहती। कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं ? मांगीरामजी ! वह तो **अनादि से अनन्त काल तक सर्व वस्तु को अपने मूल स्वभाव में दिखानेवाला द्रव्यार्थिकनय है।** द्रव्य-वस्तु को देखने की दृष्टि से अनादि-अनन्त सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... है... है... है... है... है... है... (जिसकी) आदि नहीं, अन्त नहीं, उत्पन्न नहीं, नाश नहीं। ऐसा जो आत्मपदार्थ ध्रुव सत्, है... है... है... ऐसा उसका ज्ञान-आनन्द है... है... है... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... है। आहा...हा... ! विमलचन्दजी !

इसने कभी आत्मा क्या है ? कैसा, क्यों है ? (वह नहीं देखा)। वह ऐसा कहता है कि अपने को कुछ पवित्रता प्रगट करनी है। ऐसा कहते हैं न ? उसका अर्थ यह हुआ कि उसकी वर्तमान दशा में पवित्रता नहीं है यदि वर्तमानदशा-हालत में पवित्रता होवे तो पवित्रता प्रगट करनी है, यह नहीं रहता। तब इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी दशा में-हालत में वर्तमान में तो अपवित्रता है। अब मुझे पवित्रता करनी है - ऐसा कहनेवाला पवित्रता लायेगा कहाँ से ? जो अपवित्रता है, उसमें से पवित्रता आयेगी ? अपवित्रता जाये, उसमें से पवित्रता आयेगी ? अपवित्रता की दशा जाये और पवित्रता अन्दर में पड़ी है उसमें से आयेगी, भाव में से भाव आता है।

मुझे अपवित्रता मिटाना है और पवित्रता चाहिए; उसका सिद्धान्त यह हुआ कि उसकी दशा में अपवित्रता है, वह नष्ट हो सकती है और उसके स्थान में पवित्रता लायी जा सकती है परन्तु वह पवित्रता कहाँ से आयेगी ? अपवित्रता की दशा गयी, उसमें से आयेगी ? गयी उसमें से वह तो अभाव हो गया। अन्दर में जो भाव है, त्रिकालभाव पवित्रस्वरूप है, उसमें एकाकार करने पर उसकी अपवित्रता मिटकर पवित्रता प्रगट होती है।

यहाँ तो कहते हैं कि पूर्ण पवित्रता प्रगट हो वह भी एक हालत और दशा है। भाई ! आहा...हा... ! जहाँ वस्तु को अन्तर एकरूप चिदानन्द पूर्ण शक्ति का सत्त्व जहाँ देखना है; उसे तो विकारवाला नहीं, शरीरवाला नहीं, यह अल्पविकास हुआ वह नहीं और पूर्ण विकास की दशा तो उसमें से नयी प्रगट हुई उतना भी नहीं, वह तो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, त्रिकालपूर्ण

आनन्द और शान्तरस का कन्द है। समझ में आया? उसे देखने पर दृष्टि में एक ही वस्तु दिखती है, पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... बस! इस दृष्टि से देखने पर आत्मा को सम्यग्दर्शन और शान्ति की दशा प्रगट होती है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया?

इस दृष्टि से देखने पर आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध न कभी था, न है, न होगा। कर्म है परन्तु वस्तुदृष्टि से देखा जाये तो कर्म का सम्बन्ध आत्मा को है ही नहीं। भगवान पूर्णानन्द प्रभु है परन्तु उस दृष्टि का जोर कहाँ से लाना? कर्म का सम्बन्ध होने पर भी नहीं। आहा...हा...! पुण्य-पाप के जैसे भाव करता है - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह शुभभाव है पुण्य है, उससे पुण्य बन्धन होता है, कर्म रजकण (बंधते हैं)। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना वह पापभाव है, उससे पापबन्धन (होता है)। परन्तु वह कर्म रजकण है, वह रजकण है, वह कहीं आत्मा की मूल चीज नहीं है तथा जिस कारण से कर्म बँधा, ऐसा भाव वह भी कृत्रिम विकार है, उसके लक्ष्य से नहीं देखकर वस्तु की दृष्टि से देखो तो उसे कर्म का सम्बन्ध भी नहीं है। कर्म (का सम्बन्ध) था भी नहीं, सम्बन्ध तीन काल में नहीं हैं। यह तो नहीं परन्तु विकार की वृत्ति जो उत्पन्न होती है, वह भी वस्तु की दृष्टि से देखने पर उसमें नहीं है। इतनी दृष्टि के जोर से जब आत्मा का स्वीकार हो, उस दृष्टि के जोर से यह आत्मा परिपूर्ण अखण्डानन्द एकरूप है - ऐसा दृष्टि के जोर से स्वीकार होता है, विकार और कर्म का सम्बन्ध मुझे है ही नहीं ऐसी दृष्टि होने पर उसे अन्तर में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति का अंश, शान्ति का कण अन्तर में से प्रगट होता है।

कौन कहता है (बाहर में सुख है)? धूल में भी सुख नहीं है, सुख तो यहाँ है। मर गया बाहर में, सुख (खोजकर)। वह आत्मा में होता है, या आत्मा का सुख पर में होता है? धूल में सुख होता है? इस शरीर में, मांस में, हड्डियों में, पैसे में, दाल, भात, मौसमी, मक्खन, रेशम के गद्दे, धूल में सुख होगा? इसका सुख वहाँ होगा? इसे खबर नहीं है। आत्मा में इसका अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर वह तत्त्व है, सच्चिदानन्दस्वरूप - सत् शाश्वत्, चिद - ज्ञान और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द परिपूर्ण प्रभु आत्मा है। समझ में आया? इस दृष्टि से देखने पर कर्म के सम्बन्ध के और कर्म के सम्बन्ध से

होनेवाली दशायें, उसकी दृष्टि के विषय में वे नहीं आती है – ऐसी दृष्टि प्रगट करने का नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! कैसा सुख होगा इन पैसों में ? है ? तो किसलिए तुम्हारे (बेटे) वहाँ जाते ? वहाँ हैरान होता है। कहो, (वहाँ जाकर) हैरान होता है। लड़के को अमेरिका में दस हजार का वेतन मिलता है न! हैरान होने गया है, वहाँ हैरान होने। वह स्वयं कहता है, हाँ, वह स्वयं। उसमें धूल में सुख नहीं है। वह बेचारा आवे तब कहता है, उसमें कुछ नहीं। करने का तो यह है ऐसा कहता है। महीने का दस हजार वेतन हो या बीस हजार हो, (उसमें) आत्मा को क्या ? हैरान, आकुलता है। आकुलता... आकुलता... आकुलता... यह आया न, आ गया। विकल्प हाँ! विकल्प, विकल्प की होली है, वह चीज तो यहाँ स्पर्श भी नहीं करती। यहाँ स्पर्श करती है ? पड़ जाती है यहाँ ? आत्मा तो अरूपी भगवान है, उसे रूपी स्पर्श करता है ? वे तो रूपी परमाणु जड़, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाले हैं। विकल्प उठावे, विकल्प! यह मुझे मिला मैंने हटाया – ऐसे विकल्प की वासना उठावे वह दुःखदायक विकल्प है।

जिसे सुख और शान्ति अर्थात् स्वतन्त्रता चाहिए, उसे इस कल्पना से पार चैतन्य भगवान पूर्णानन्द है, उसकी दृष्टि करना चाहिए। उस दृष्टि में स्वतन्त्रता प्रगट होकर शान्ति प्रगट होती है, इसके अतिरिक्त कोई सुख का रास्ता नहीं है। समझ में आया ?

तीन काल में एक स्वरूप में शुद्ध स्फटिक मणि के समान दिखनेवाला यह आत्मा है। जैसे, स्फटिक मणि, शुद्ध स्फटिक मणि, शुद्ध-श्वेत है; उसे वर्तमान में काले, लाल, फूल के निमित्त से अन्दर जो काला, लाल, रंग दिखता है। वह कहीं स्फटिक का मूल स्वरूप नहीं है। ऐसे स्फटिक की मूल चीज से देखो तो काले, लाल फूल में जो काला लाल दाग दिखता है, वह उसका स्वरूप नहीं है। ऐसे ही यह भगवान तो चैतन्यस्वरूप स्फटिक है। वह पत्थर तो जड़ स्फटिक है। चैतन्य स्फटिक, ज्ञानानन्द स्फटिक मूर्ति प्रभु निर्मलानन्द है; इस दृष्टि से देखो तो उसमें पुण्य-पाप के विकार का दाग भी उसके स्वरूप में नहीं है। आत्मा की ऐसी दृष्टि करने का नाम धर्मदृष्टि है और यह धर्मदृष्टि के बिना तीन काल में किसी को धर्म नहीं होता। समझ में आया ? बहुत कठिन पड़ता है ऐसा कितने ही कहते हैं। है ?

धर्म बिना कहाँ सुखी था ? धूल में। सुख कहाँ से आया ? यह बात तो पहले की है कि धर्म के बिना सुख नहीं है। धर्म / सुख वह आत्मा में है। आनन्दकन्द प्रभु सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञाता और आनन्द का भण्डार परिपूर्ण है, पीपर के दाने की शक्ति के दृष्टान्त से उसमें अन्तरदृष्टि देने पर सुख होवे ऐसा है। वरना धूल में कहीं सुख नहीं है। सेठिया और राजा, भिखारी, भिखारी सब दु:खी है। करोड़पति, अरबोंपति जड़ के पति हैं, चैतन्य के पति नहीं। मलूकचन्दभाई ? जड़ का पति ? कल्पना से मानता है, (धूल में कहीं सुख नहीं है।) उसके पास यहाँ (जड़) चीज कब आती है ? आहा...हा... !

भगवान सत्स्वरूप कायम असली वस्तु, जिसकी शक्ति में अकेला आनन्द व ज्ञान और शुद्धता की परिपूर्णता है, कहते हैं कि ऐसी दृष्टि से देखने पर उसे यह नारकी और मनुष्य, देव और राग और द्वेष, इस दृष्टि से देखने पर उसमें नहीं है और वह दृष्टि करना वही आत्मा को हितकर है। समझ में आया ?

पर्याय की दृष्टि से... अवस्था दृष्टि से देखें तो दिखता है। वर्तमानदशा में राग है परन्तु वह दृष्टि तो जानने योग्य है। वह कहीं आदरणीय नहीं है। आदर करने योग्य तो अन्दर त्रिकाल (स्वरूप है)।

विकल्प होने पर भी मेरे स्वरूप में नहीं है ऐसी पूर्णानन्द की दृष्टि का आश्रय करना, वह सुखी होने मार्ग है। कहो, समझ में आया ?

वास्तव में **पर का ग्रहण और स्वगुण के त्याग से रहित है**। अन्तिम (लाइन) है। भगवान आत्मा, राग का भी जिसे स्वभाव में ग्रहण नहीं है और अपने शुद्ध ध्रुव गुण को कभी छोड़ा नहीं है। शुद्ध ध्रुव गुण जो शक्ति, पीपल ने चौंसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग कभी छोड़ा नहीं है और उस शक्ति ने कभी काला रंग ग्रहण किया नहीं है और जो बाहर की कड़करायी होती है न पीपर के ऊपर ? उसे अन्दर के स्वभाव में उसने ग्रहण नहीं किया है। ऐसे ही भगवान आत्मा, उसके ज्ञान आनन्द स्वभाव में, एकाकार में उसने पुण्य-पाप के विकार और अल्पज्ञता अन्दर में ग्रहण नहीं की है और अपना ध्रुव शाश्वत् स्वभाव है, वह कभी उसने छोड़ा नहीं है। समझ में आया ? यह किस प्रकार का धर्म है ?

वह तो मन्दिर बनाना, पूजा करना, भक्ति करना, चलो 'शत्रुञ्जय जा आवें, वहाँ जा आवें तो धर्म हो गया।' धूल में भी धर्म नहीं है। तेरे 'शत्रुञ्जय' जा और लाख बार ऊपर चढ़ और नीचे उतर (तो भी धर्म नहीं है)। समझ में आया? शुभराग हो, पाप से बचने के लिये शुभराग है। धर्म नहीं, धर्म नहीं, धर्म नहीं। समझ में आया? यह सब बहुत बात की है।

जब सर्व को एक समान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है न कोई शत्रु अपने को और सर्व को समान देखने पर राग-द्वेष का पता ही नहीं लगता। भगवान आत्मा अपने शुद्ध ध्रुव स्वभाव को देखने से, जिसमें राग-द्वेष भी नहीं है ऐसा देखने से, जिसमें स्वतन्त्रता प्रगट होती है तो उस प्रकार दूसरी आत्माएँ भी शुद्ध ध्रुव सत्व से भरपूर है, ऐसा देखने पर उनके प्रति राग-द्वेष करने का अवसर नहीं रहता। भाई! समझ में आया? वह आत्मा भी पूर्णानन्द और सच्चिदानन्द ध्रुव शाश्वत् शक्ति में परिपूर्ण है। जैसे अपनी दृष्टि से अपना स्वरूप देखने पर स्वयं को शान्ति और विकाररहित भासता है, इस दृष्टि से दूसरे समस्त आत्माओं को देखो तो वे आत्माएँ भी पूर्णानन्द से भरपूर है। उनके राग-द्वेष आदि न देखे तो यह व्यक्ति मेरा विरोधी है और यह व्यक्ति मेरा मित्र है। यह बात नहीं रहती है। आहा...हा...!

सर्वत्र समभाव और शान्तरस बहता है। भगवान आत्मा, अकेले शुभ-अशुभ विकल्प राग कषायभाव से रहित है - ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने पर अपने को शान्ति आती है और दूसरे आत्माओं को भी इस प्रकार देखने से उनके प्रति अनादर या कलुषितता नहीं होती। उनके स्वभाव पर समभाव, समभाव (रहता है)। भगवान है, वे भी भगवान हैं। जिस दिन अपने को सम्हालेंगे उस दिन भगवान हो जायेंगे। समझ में आया? दूसरा कोई भगवान होने नहीं आयेगा, परमात्म शक्ति उनमें भी पड़ी है।

निर्ग्रन्थ मुमुक्षु को उचित है कि इस तरह समभाव में रमण करके सामायिक चारित्र का पालन करे। सामायिक चारित्र। सामायिक अर्थात् अन्तर समता प्रगट करना। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... ओहो...! जिसका स्वभाव पूर्ण स्वभाव, उस पर दृष्टि जाने पर पूर्ण का स्वीकार करने पर अन्तरदृष्टि में समताभाव प्रगट होता है।

वह समताभाव प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन और धर्म कहते हैं। धर्म कोई ऐसी चीज नहीं है कि ऐसा करें और ऐसी पूजा करें और भक्ति किया और व्रत किया और यह पालन किया और उपवास किया... होली करे! उपवास का विकल्प तो शुभराग है। समझ में आया? यह बात दुनिया से अलग प्रकार की है। **स्वानुभव में लीन होकर सर्व नयों के विचार से रहित आत्मानन्द में मस्त हो जावे।** (फिर) 'समाधिशतक' का दृष्टान्त दिया है।

☆ ★ ☆

आप ही जिन है यह अनुभव मोक्ष का उपाय है

जो जिण सो हउँ सो जि हउ एहुउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥ ७५॥

जो जिन है सो मैं हि हूँ, कर अनुभव निर्भ्रान्त।
हे योगी! शिव हेतु तज, मन्त्र-तन्त्र विभ्रान्त॥

अन्वयार्थ - **(जो जिण सो हउं)** जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूँ **(सो जि हउं)** वही मैं हूँ **(एहउ णिभंतु भाउ)** ऐसी ही शङ्कारहित भावना कर **(जोइया)** हे योगी! **(मोक्खहं कारण अण्णु तंतु ण मंतु ण)** मोक्ष का उपाय यही है और कोई तन्त्र या कोई मन्त्र नहीं है।

☆ ★ ☆

अब ७५, ७५ गाथा है न? **स्वयं ही जिन है...** स्वयं परमार्थस्वरूप है। **यह अनुभव मोक्ष का उपाय है।** देखो,

जो जिण सो हउँ सो जि हउ एहुउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥ ७५॥

७५ गाथा! **जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूँ...** जो पूर्णानन्द वीतरागदशा प्राप्त हुई, जिन्हें आत्मा की शक्ति की पूर्ण विकास परमदशा प्राप्त हुई, वैसा परमात्मा वह मैं हूँ।

क्योंकि मैं स्वयं ही परमात्मा होने योग्य हूँ। एक पीपर की चौसठ पहरी (चरपराहट) प्रगट हो गयी और एक काली पीपर चौसठ पहरी (चरपराहट की) ताकत रखती है। वह तो जड़ है इसलिए उसे पता नहीं है। इसी तरह एक को पूर्णदशा प्रगट हो गयी और यह पूर्ण दशा प्रगट होने की ताकत रखता है। मैं उसके समान हूँ।

जैसे वीतराग परमेश्वर, जिन्होंने आत्मा में से राग-द्वेष नष्ट किया, अल्पज्ञपना नष्ट किया, सर्वज्ञ और वीतरागदशा जिनकी प्रगट हुई; वैसा ही मैं आत्मा हूँ, उनकी जाति में और मेरी जाति में कोई अन्तर नहीं है। समझ में आया? नीचे गेहूँ की दृष्टान्त देंगे। **जैसे हजार गेहूँ के दाने समान आकार और गुणोंवाले हों वे सब समान हैं तो ही सभी दाने अलग-अलग हैं।** गेहूँ के हजार दाने हैं न? प्रत्येक दाने का आकार समान, आटा समान, भाव समान, तथापि वस्तु अलग है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा का भाव-स्वभाव समान तथापि वस्तु अलग है, वस्तु एक नहीं है। समझ में आया?

जो भगवान परमात्मादशा को प्राप्त हुए, उस दशा का धारक शक्तिवान वह में स्वयं ही जिनेन्द्र हूँ। आहाहा! **वह मैं हूँ...** और जरा सी दूसरी भाषा है। **वह ही मैं हूँ...** ऐसे दो हैं। वही मैं हूँ ऐसा, वही मैं हूँ जोर दिया है। वही मैं हूँ, ऐसा अधिक जोर दिया है। जिन्हें पूर्णदशा प्रगट हुई, आत्मा होकर अन्तरशक्ति की व्यक्तता की, जैसे तिल में से तेल निकालकर - जैसे घड़े में शुद्ध पड़ा है, वैसा ही तेल तिल में पड़ा है। इसी प्रकार जिन्होंने अन्दर परमशक्ति थी उसे अनुभवदृष्टि एकाकार होकर प्रगट की है, वैसा ही मैं हूँ, ऐसा अन्तर में दृष्टि से आत्मा का स्वीकार करना, वह सुख को प्राप्त करने का सरल, सीधा मार्ग है।

शशीभाई! यह हाथ आवे नहीं, सुनने मिले नहीं और यह और वह करो, पचास -पचास, साठ-साठ वर्ष चले गये कितने ही को तो सत्तर (पूरे हुए)। यह क्या है उसे सुनने नहीं मिलता। यह करो और यह छोड़ो और यह लो और यह दो, सेवा करो और करुणा करो, धूल करो और यह करो... कौन करता था? धूल! पर की सेवा कौन करे? शरीर में रोग आवे तो मिटा नहीं सकता। स्त्री को रोग आवे तो छुड़ाने का बहुत भाव है, डाक्टर बहुत होशियार हो, स्वयं को रोग होवे तो छूट नहीं सकता, वह तो जड़ की अवस्था

है, तू जड़ को कर सकता है? प्रिय स्त्री मरती हो, स्वयं की चालीस वर्ष की उम्र (होवे) और उसकी पैतीस वर्ष की (होवे)। हाय... हाय...! अब क्या करना? दूसरी (पत्नी) होगी नहीं, यह जवान लड़के विवाह नहीं करने देंगे, जिलाने का बहुत भाव हो, मर जाती है। तेरा भाव वहाँ क्या कारगत होगा? उसकी दशा, उसके शरीर की जिस प्रकार से होनी है, उसे तू क्या कर सकेगा? समझ में आया? परन्तु इसको अभिमान (ऐसा कि) दूसरे का कर दें, ऐसा कर दें, वैसा कर दें। अभी तो बहुत होता है न? सुधार कर दें। धूल भी नहीं कर पाते, सुन न!

यहाँ तो कहते हैं कि जो वीतराग परमेश्वर पूर्णानन्द के नाथ, जिन्हें प्रगट दशा हुई वह मैं हूँ, वह मैं – ऐसा ही, उतना ही, उतना ही मैं वस्तुपने हूँ – ऐसा दृष्टि में स्वीकार आये बिना पूर्ण तत्त्व का सच्चा स्वीकार नहीं हो सकता। **वही मैं हूँ...** जोर (दिया) है। वही मैं हूँ। वही, वही हूँ। वही हूँ ऐसी शक्ति जिसे प्रगट हुई ऐसा मैं हूँ। समझ में आया? पीपर का प्रत्येक दाना समान है। शक्ति से, सत्त्व से, स्वभाव से पूर्ण अन्दर में समान है। इसी तरह प्रत्येक आत्मा शक्ति से, स्वभाव से समान है। दशा में अन्तर है तो दशा का अन्तर टालकर अन्तर के अवलम्बन द्वारा पूर्ण दशा प्रगट की, वही मैं हूँ – मैं ऐसा होने योग्य हूँ। इसका अर्थ ही है कि वह मैं हूँ। 'टोडरमल' ने कहा न? शक्ति से होने योग्य हूँ, परन्तु यहाँ तो कहते है कि मैं वह हूँ, वह हूँ, यहाँ अभी हूँ।

शुद्ध, शुद्ध परमानन्द की मूर्ति, जैसे बर्फ की शिला शीतल होती है, बर्फ की शीतल शिला हो उस बर्फ के किसी कोने खाँचरे, मध्य में कभी गर्मी नहीं होती। इसी तरह भगवान अविकारी चैतन्य का पिण्ड है, उसमें कहीं कषाय राग-द्वेष नहीं है – ऐसी वीतरागी शान्तरस की शिला आत्मा है। भगवान जाने स्वयं कैसा होगा? समझ में आया? शान्त... शान्त... शान्त... पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ के विकल्प वह अशान्ति है, दुःख है। उसके मूल स्वरूप में वे नहीं हैं, शान्त... शान्ति की बर्फ की शिला जैसे पड़ी हो, वैसे ही भगवान देह से भिन्न अरूपी चिद्घन, अनन्त शान्ति के रस के कन्द से व्यापक प्रभु सम्पूर्ण भगवान आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया?

'एहुउ णिभंतु भाउ' **ऐसी ही शङ्कारहित भावना करो**। उसका अर्थ है। 'एहुउ

णिभंतु भाउ' ऐसी भावना निर्भ्रान्त कर, भ्रान्ति न कर। अरे... ! पूर्ण परमेश्वर जिनेश्वर हुए उनसे मैं अलग प्रकार का होऊँगा ? जाति अलग, वस्तु तो वह की वह है तेरी दशा में तूने प्रगट नहीं की, उन्होंने प्रगट की है तो शक्ति से तो सभी तत्त्व (आत्मा) समान ही है। ऐसा मैं वह आत्मा परमेश्वर हूँ और परमेश्वर वही मैं हूँ। आहा...हा... ! यह-वह किस दृष्टि के जोर से स्वीकार करे ? यह ज्ञान... यह जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... यह जानना... जानना... जानने की शक्ति की बेहदता, अचिन्त्यता, अमापता, वह मैं। उस ज्ञान के साथ रहनेवाला आनन्द भी साथ है। वह अतीन्द्रिय आनन्द-बेहद आनन्द-पूर्ण आनन्द वह मैं हूँ। ऐसी वस्तु की दृष्टि का स्वीकार होने से उसकी पर्याय में अर्थात् दशा में सत्य का स्वीकार होने पर सत्य दशा प्रगट होती है, उसे धर्म कहा जाता है। आहा...हा... ! अद्भुत व्याख्या भाई धर्म की ! उसे अहिंसा कहा जाता है अर्थात् जो आत्मा का पूर्ण ज्ञान आनन्द आदि स्वभाव है ऐसा अस्वीकार और राग-द्वेष का जितना स्वीकार, उसका नाम अपने पूर्ण स्वभाव का अनादर वह उसकी हिंसा है। समझ में आया ? अरे... ! हिंसा, अहिंसा की यह फिर कैसी व्याख्या ?

स्वयं चैतन्य पूर्णानन्द प्रभु, जिसकी पीपर में (शक्ति में) चौसठ पहरी चरपराहट और हरापन भरा है, इससे इनकार करे तो वह उसका खून करता है। अस्ति की नास्ति करता है। इसी तरह भगवान आत्मा में पूर्ण शान्त, आनन्दकन्द ज्ञानानन्द पूर्ण ध्रुव है, उसका निषेध करे, उसकी नास्ति करे... नास्ति करे का अर्थ कि उसकी हिंसा करता है पर की हिंसा कौन कर सकता था ? धूल। वह तो उसकी दशा होने की हो तब होती है। पर की दया भी कौन पालन कर सकता था ? भाव करे, भाव करे इसलिए वहाँ पर की दया पल जाती है ? तब तो कोई मरेगा किस लिये ? डाक्टर किसलिए मरने देगा ? डाक्टर स्वयं किसलिए मरेगा ?

शशीभाई ! तुम्हारे वे डाक्टर थे या नहीं ? वैद्य, सर... सर... सर... क्या कहलाते हैं वे ? सर्जन। किसी का आपरेशन करते थे, यहाँ आये थे, तीन-चार बार आ गये हैं। सर्जन, 'भावनगर' किसी का (आपरेशन) करते थे, वहाँ (कहने लगे) 'मुझे कुछ होता है' उड़ गये ! स्वयं गये। 'भावनगर' में अस्पताल में स्वयं मर गये। सुना है न ? भाई ! यहाँ आये

थे, दो-चार बार आये थे। एक बार दाड़ के लिये आये थे, एक बार 'जिंथरी' में कुछ था तब आये थे। लो, स्वयं दूसरे का आपरेशन करने गये थे। (वहाँ कहने लगे) 'मुझे कुछ होता है' वहाँ समाप्त हो गये। वह तो देह की स्थिति कौन रखे? जो अवधि उस संयोग की है, उतनी वहाँ रहने की, इन्द्र-नरेन्द्र कोई फेरफार करने में समर्थ नहीं है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जिसका संग ही किसी को नहीं ऐसे असंग तत्त्व की दृष्टि कर, उसमें सुखी होने की राह है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तू कर सकता है। समझ में आया?

हे योगी! क्या कहते हैं? **ऐसी ही शंकारहित भावना करो 'एहुउ णिभंतु भाउ'** यह तो अकेले सिद्धान्त पढ़े हैं न! बड़े सिद्धान्त हैं। जैसे 'चार पैसे में सेर तो मण का ढाई', – ऐसा सूत्र है। फिर सूत्र का खुलासा चाहे जितना करो, 'साढ़े सात आने – साढ़े आठ आने' इसी तरह यह तो अकेले सिद्धान्त, तत्त्व है। 'जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु'। भ्रान्ति छोड़कर निर्भ्रान्तरूप से ऐसी भावना कर। आहाहा! यह उस भावना में कितना जोर है! उसकी पुरुषार्थ की उग्रता कितनी है! कोई कहे कि उसमें क्या? परन्तु उसमें पुरुषार्थ की उग्रता है। अल्पज्ञ और राग-द्वेष होने पर भी मैं पूर्णानन्द हूँ, अखण्ड अभेद हूँ – ऐसी दृष्टि में पुरुषार्थ में ऐसा स्वीकार (आया) उस पुरुषार्थ की उग्रता कितनी! उस श्रद्धा में जोर कितना और उसके ज्ञान में जोर कितना कि मैं ऐसा परिपूर्ण हूँ!! उस श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति तीनों में जोर है। समझ में आया?

मुमुक्षु : जोर करने का उपाय क्या?

उत्तर : वह क्या कहलाता है? उसमें – अन्दर में जोर करना, वह जोर लाने का उपाय अंगुली डालना है वहाँ? वह जोर, ऐसा हूँ, वह जोर कौन लावे? मैं अल्पज्ञ हूँ, रागी हूँ, ऐसा हूँ ऐसी जो मान्यता, उस मान्यता में यह मैं परिपूर्ण हूँ इस मान्यता का जोर कौन लावे? करनेवाला लावे, दूसरा कौन लावे? कहो, समझ में आया? आहाहा! दुनिया में भी कहते हैं जननेवाली में जोर न हो तो सुयाणी (प्रसुती करानेवाला) क्या करे? सुयाणी। वैसे ही इसमें परिपूर्ण को प्रतीत करने का जोर न हो तो कौन करा दे? कहो, समझ में आया? इसे अनन्त काल गया, चौरासी के अवतार में इसके छिलके उड़ गये, आदि रहित काल।

आदि है ? अनादि का आत्मा है। नया होता है ? (तो) कहाँ रहा ? कहाँ रहा ? होवे वह जाता नहीं और नहीं हो वह होता नहीं। होवे, वह जाता है ? होवे उसका रूपान्तर होता है। रूपान्तर होता है; रहकर रूपान्तर होता है परन्तु जाकर अभाव होता है, ऐसा कभी नहीं हो सकता और न हो वह नयी चीज होती है (ऐसा नहीं होता)। गधे के सींग जगत् में नहीं हैं। कभी हुए ऐसा होगा नहीं। भगवान आत्मा अनादि का है। समझ में आया ? इसमें आनन्दादि गुण की शक्ति अनादि की पड़ी है। प्रतीति में नहीं है, भरोसा नहीं आता। अरे ! मैं ऐसा ? कहते हैं कि निर्भ्रान्त होकर भावना कर। भ्रान्ति छोड़ दे। आहाहा !

अरे... ! मैं परिपूर्ण प्रभु हूँ न ! मेरे स्वभाव में तो परिपूर्णता (भरी है)। जिसे वस्तु कहते हैं और वस्तु का बसा हुआ अन्दर स्वभाव यदि कहें, वस्तु है न ? पदार्थ है न ? उसमें बसी हुई शक्तियाँ हैं। वस्तु अर्थात् उसमें बसी हुई शक्तियाँ, तो भगवान आत्मा वस्तु में बसी हुई रही हुई शक्तियाँ अर्थात् ज्ञान आनन्द गुणों के शक्ति के स्वभाव में अपरिमितता होती है, उसमें मितता-मर्यादा कैसे होगी ? ऐसा जिसका अपरिमित ज्ञान आनन्दादि पूर्ण स्वभाव है, वही मैं हूँ, मैं भगवान हूँ।

जिन वह जिनवर और जिनवर वह जिन ! जिनवर कोई सम्प्रदाय का शब्द नहीं है, गुणवाचक है। राग और विकार का अभाव होकर उसके स्थान में अन्तर में जो वीतरागता, निर्दोषता पड़ी है, उसे प्रगट करके अरागी दशा की परिपूर्णता होना उसे आत्मा की वीतरागदशा कहते हैं। वह आत्मा का गुणवाचक नाम है, सम्प्रदायवाचक नहीं। समझ में आया ?

हे योगी ! सम्बोधन किया है, हाँ ! तू कुछ करना तो चाहता है या नहीं ? कहते हैं। ऐसा जोड़ना (होता) है न ? राग-द्वेष, पुण्य-विकल्प यह... यह... यह... यह... उसमें तो तेरा जुड़ान है, वह भी एक अज्ञान का योग है। पर के प्रति योग-सम्बन्ध किया है। ऐसा कर न अब ! सुखी होना हो तो ऐसा जुड़ान कर न ! भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु विराजता है, उसमें जुड़ान (कर)। योग... योग अर्थात् यूज - जुड़ना। जुड़ना श्रद्धा-ज्ञान से स्वीकार लाना, वह आत्मा के स्वभाव में जुड़ान को योग कहते हैं। उस योग को योगी कहते हैं। इस योग का सार-धर्म कहा जाता है। अन्य 'योगी' ऐसे-वैसे बैठ जायें ऐसे योगी नहीं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव में जिसने अपनी दृष्टि और ज्ञान की वर्तमान कला उसमें जोड़ी, उसे योगी कहते हैं; उस योगी का वह व्यापार उसे योग कहते हैं, उस योग को धर्म कहते हैं। यह किस प्रकार की बात! शशीभाई! यह कहाँ की (बात) होगी? लॉजिक से-न्याय से बैठे ऐसी बात है परन्तु कभी पृष्ठ खोला नहीं न? कभी पृष्ठ देखा नहीं न? कि कहाँ है मेरा माल? मेरा पिता किसमें रख गया है? समझ में आया? अनन्त काल में ऐसे के ऐसे आत्मा के भान बिना भटका है। साधु हुआ, त्यागी हुआ, सूख कर मर गया परन्तु अपनी जाति की परिपूर्णता की दृष्टि के स्वीकार बिना जन्म-मरण का अन्त किसी दिन नहीं आता। (भले ही) मर जाये नहीं। बाबा होकर, योगी होकर। स्त्री-पुत्र कहाँ अन्दर में आ गये थे, वे तो बेचारे बाहर खड़े हैं। वह मैंने छोड़ा, उसका इसे अभिमान है। भगवान आत्मा एक समय में, सेकेण्ड के छोटे से छोटे काल में परिपूर्ण प्रभु है, ऐसा दृष्टि में स्वीकार न आवे तब तक परिपूर्ण की सत्यता का स्वीकार नहीं तब तक असत्य का स्वीकार है, वह मिथ्यादृष्टि है। असत्य कहो या मिथ्या कहो, सत्य कहो या सम्यक् कहो। समझ में आया? आहाहा...!

मोक्ष का उपाय यही है और कोई मन्त्र या कोई तन्त्र नहीं। कोई मन्त्र जपने से होता होगा? ओम... ओम... ओम... ओम... ओम... अब ओम... ओम... लाख बार कर, करोड़ बार कर, वह भी विकल्प है। ऐ... शशीभाई! वह तो राग है, वह कहाँ आत्मा का धर्म था? तन्त्र, मन्त्र होगा या नहीं? मन्त्र-तन्त्र का डोरा बाँध दे और अमुक हो जाये; डोरा बाँध दे, जा तेरा मोक्ष हो जायेगा! ऐसा कुछ होगा या नहीं? धूल में भी कहीं नहीं है, सुन न! फूलचन्दभाई! 'जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु मोक्खहँ कारण जोइया' पूर्णानन्द की दशारूपी मोक्ष... मोक्ष का यह अर्थ है। पूर्णानन्द की प्राप्ति उसका नाम मोक्ष। ऐसे मोक्ष के कारणरूप, हे योगी! 'अण्णु ण तंतु ण मंतु' भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसकी अन्तरदृष्टि और ज्ञान में स्वीकार करके एकाकार होना, वही आत्मा को पूर्ण शुद्धतारूपी आनन्द और पूर्ण आनन्द की दशा की प्रगटतारूपी मोक्ष है। उसका कारण यह एक ही है दूसरा कोई विकल्प और दया, दान, भक्ति, पूजा-फूजा, जात्रा-फात्रा, वह कोई मोक्ष का कारण नहीं है। कहो, समझ में आता है? है?

मुमुक्षु : यह नहीं सूझता उसका कारण क्या ?

उत्तर : सूझता है, नहीं सूझता ऐसा कैसे ? स्थिर नहीं हो सके तो वहाँ तक उसे शुभभाव होते हैं। दया, दान, भक्ति, पूजा का भाव होता है परन्तु वह भाव होता है वह अन्दर की स्थिरता का कारण नहीं है और अन्दर की शान्ति का कारण नहीं है। समझ में आया ?

मोक्ष का उपाय यही है कि अपने आत्मा को निश्चयनय से जैसा है वैसा समझे। लो, जैसा भगवान त्रिकाली है, वैसा उसके ज्ञान में ले, श्रद्धा में ले, अन्दर स्थिरता करे, वही आत्मा को पूर्ण शुद्धिरूपी मोक्षदशा उसका यह एक ही उपाय है। **जैसा है वैसा...** जैसा पूर्ण है ऐसा। वस्तु ज्ञान से, आनन्द से, शान्ति से, स्वच्छता से, प्रभुता से, परमेश्वरता से, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान – ये सभी शक्तियाँ अन्दर आत्मा में पूर्ण पड़ी है। शुद्धरूप से परिपूर्ण प्रभु में पड़ी है। समझ में आया ? ऐसे स्वभाव को जैसा है वैसा समझे।

मूल स्वभाव से यह आत्मा स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा है। कर्मरहित आत्मा को जिनेन्द्र कहते हैं। अपना आत्मा निश्चय से द्रव्यकर्म... जड़कर्म, पुण्य-पाप के **भावकर्म और नोकर्म...** शरीरवाणी से **रहित है। व्यवहारनय से अथवा पर्यायदृष्टि से....** अशुद्ध दिखता है। **शुद्ध होने की शक्ति रखता है।** तथापि अवस्था-वर्तमान हालत से देखें तो विकार दिखता है। वस्तु से देखें तो परमात्मा होने की शक्ति कायम रखता है। कारण समयसार कहा।

आत्मा और परमात्मा समान है। आत्मा और परमात्मा सब प्रकार से समान है। भगवान पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई और यह आत्मा समान है, केवल सत्ता की अपेक्षा से भिन्नता है। उनकी सत्ता-होनापना भिन्न है, इसका सत्तापना भिन्न है। **द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जो एक आत्मा के हैं, वे ही दूसरे आत्मा के हैं।** भगवान आत्मा जैसी अपनी वस्तु, अपनी चौड़ाई, अपनी दशा और अपने भाव उस रूप स्वयं है; उसी प्रकार सभी आत्माएँ हैं। **सर्व आत्माओं का चतुष्टय समान है, सदृश्य है परन्तु एक नहीं – एक समान है।** सब एक नहीं, एक समान है। आहा...हा... ! (गेहूँ के) दाने का दृष्टान्त दिया था न ?

(अपनी आत्मा को) **परमात्मारूप देखना और अनुभव करना वही वीतरागभाव की प्राप्ति का उपाय है।** निश्चय से अपने आत्मा को पूर्णस्वरूप से देखना, श्रद्धा करना और स्थिरता वही अनुभव करना, वही पूर्णानन्द की प्राप्ति का उपाय है। जितने प्रमाण में अन्तर में राग रहित श्रद्धाज्ञान और शान्ति प्रगट होती है उतने प्रमाण में धर्म है। इसके अतिरिक्त जितने रागादिक रहें, उतना अधर्म है। पूर्ण... पूर्ण प्रभु उसकी एकाग्रता होकर जितनी रागरहित दशा प्रगट होती है उतना धर्म; विकल्प बाकी रहे उतना धर्म से विरुद्धभाव है, समझ में आया?

वास्तव में जो कोई अरहन्त व सिद्ध परमात्मा को ठीक-ठीक पहचानता है... यह प्रवचनसार का दृष्टान्त देते हैं। वास्तव में कोई अरहन्त सिद्ध परमात्मा जो हुए उन्हें जो उनके द्रव्य-गुण को, द्रव्य अर्थात् वस्तु, गुण अर्थात् उसकी शक्ति अवस्था अर्थात् प्रगट दशा। वस्तु, वस्तु की शक्तियाँ अर्थात् गुण-स्वभाव और उसकी वर्तमान हालत प्रगट दशा; उस पूर्णानन्द परमात्मा को इन तीन से जो जानता है, ऐसा मैं आत्मा हूँ, ऐसा उसे जानने का प्रयत्न होता है, तब उसे सम्यक्-सत्यदर्शन, आत्मा प्रगट होता है। समझ में आया? **यही कर्म खास करने योग्य माना है।** देखा, अब कार्य लिया। **यही स्वानुभव की कला है।** यही स्वानुभव की कला है। आत्मा में एकाकार दृष्टि करना, शुद्धस्वरूप का अनुभव करना, यही कला, **यही तन्त्र है, यही मन्त्र है और कोई मन्त्र-तन्त्र नहीं है। जिससे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके।**

यहाँ एकान्त में कितने ही आते हैं, महाराज! ऐसा कोई मन्त्र दो कि जिससे मोक्ष होवे। ऐसा कोई मन्त्र-फन्त्र नहीं है, सुन! महाराज कुछ जाप करते होंगे (इसलिए मैं भी करूँ)। जाप-वाप नहीं, इस भगवान को पहचानना वह जाप है; उसकी कीमत आने पर उसे राग-द्वेष और पैसा और पर के इन्द्रिय-विषय के सुख के भोग की कीमत उड़ जाती है। अतीन्द्रिय आनन्द के सुख की कीमत दृष्टि में आने पर इन्द्रिय के विषय के सुख और उसके कारण पुण्य और उसके फल बाह्य (संयोग), सबकी कीमत एकदम उड़ जाती है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु, उसकी अन्तर में कीमत

की कीमत करने पर, कीमती की कीमत करने पर, ऐसी कीमती चीज की कीमत दृष्टि में करने पर उसे इन्द्रिय-विषय में सुखबुद्धि छूट जाती है। मुझमें आनन्द है, इन्द्रिय के विषय में धूल है (ऐसी) सुखबुद्धि उड़ जाती है। समझ में आया? और इन्द्रिय-विषय के कारणरूप पुण्यभाव हो, उसमें भी सुखबुद्धि उड़ जाती है। उस पुण्य से बन्धन होता है, उस पुण्य से भी सुखबुद्धि उड़ जाती है। आहा...हा...! उसकी विधि इसे पकड़ में नहीं आती। पहले तो सुनने ही नहीं मिलती तो बेचारा कहाँ जाये? जिस पन्थ में चला, ऐसा का ऐसा चला जाता है। जिन्दगी पूरी होकर मरकर जाये, जहाँ से आया हो, वहाँ का वहाँ (जाता है), चौरासी की घानी में (जाता है)। चौरासी की बड़ी खाई पड़ी है। आहा... हा...!

वह मर गया, नहीं? नवनीतभाई का लड़का। 'काश्मीर' (गया था) नवनीतभाई गृहस्थ मनुष्य, साठ-सत्तर लाख, करोड़पति होंगे। ढाई करोड़ के तो उन्हें कारखाना है। उनके दो पुत्र हैं, उसमें एक लड़का घोड़े पर बैठकर ऐसा कहीं जा रहा था, उसमें रास्ता छोटा होगा, उसमें घोड़ा भागा, लड़का उस पर बैठा था, वह भी लपटा। नीचे खाई... ऐसी खाई... हो गया... छोड़कर चला गया...। लड़का और घोड़ा दोनों नीचे (गये)। खाई वह ऐसी खाई कि किसी भी व्यक्ति को जाने का कोई रास्ता न मिलें, कोई जा ही नहीं सकता। हो गया... ऐसे गिरते... गिरते... गया हो गया समाप्त! चलो छोड़कर! वह घोड़ा और लड़का दोनों नीचे गये। यह नवनीतभाई अपने प्रमुख हैं न! यहाँ मकान बनाते हैं न? समझ में आया? यह चौरासी की खाई है, कहते हैं। यदि यहाँ से लटका... आहा...हा...! वह अवसर कैसा होगा? गृहस्थ व्यक्ति, उसका लड़का घोड़े पर बैठकर जाये - ऐसा जरा-सा पैर लटका। चारों ओर खाई... खाई... खाई... गहरी खाई बबूल (की झाड़ी) के अन्दर कैसे बाघ, भालू होगा? कितना गहरा होगा? कहाँ जाकर फँस गया होगा? और वहाँ जाकर देह छूट गया होगा, हो गया जाओ! घोड़ा और मनुष्य। वह खाई है, बापू! ऐसे ही इस मनुष्य देह में आत्मा को पहचानने का काल अवसर है। अन्यत्र यह अवसर नहीं है। यदि यह अवसर चला गया तो खाई में जायेगा, चौरासी में पता लगे ऐसा नहीं। उपाय एक ही है। समझ में आया?

अनेकान्त के ज्ञान से विभूषित रहे की पर्याय की अपेक्षा से मैं कर्मसहित हूँ।

अवस्था से कर्म सहित हूँ। अशुद्धता है (वह) मेरे त्रिकाल में है नहीं, ऐसी दृष्टि रखकर अपने आत्मा में एकाकार होता है। कहो, समझ में आया? यह पचहत्तर गाथा हुई। अरिहन्त का दृष्टान्त दिया है। **जो कोई अरहन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा यथार्थ जानता है...** परमेश्वर जो अरि अर्थात् राग, द्वेष, अज्ञान, शत्रु, उन्हें जिसने नष्ट किया ऐसे परमात्मा अरहन्त, ऐसे अरहन्त के द्रव्य अर्थात् वस्तु, गुण और पर्याय - अवस्था ऐसी निर्मल, उनके गुण परिपूर्ण निर्मल, उनका धारक द्रव्य निर्मल, इस प्रकार जो परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह आत्मा को जानता है। और उसे सम्यक् (प्रकार से) मोह का नाश हुए बिना नहीं रहता। सम्यक् प्रकार से मोह का नाश होकर, सम्यक् अनुभव हुए बिना नहीं रहता। यह प्रतीति का जोर लाना कहाँ से? करना कहाँ से? भस्म-वस्म खाने से प्रगट होता है या नहीं? लो, यह भस्म ऐसा कहते हैं न! तांबे की भस्म, धूल की भस्म। धूल भी नहीं, सुन न! यह तो अन्दर के बल की कला की बात है। जो कला अन्दर से जागे, तब स्वयं माने ऐसा है। इसलिए अरहन्त का दृष्टान्त दिया है। ७६ वीं गाथा में गुण की संख्या की बात करेंगे। दो, तीन और चार दृष्टान्त देंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

(- दृष्टि ना निधान, बोल १२१)

आत्मा के गुणों की शुद्ध भावना करे

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।
चउगुण सहियउ सो मुणइ एयहँ लक्खण जाहँ॥ ७६॥

द्वि-त्रि-चार-अरु पाँच छह सात पाँच और चार।
नव गुण युक्त परमात्मा, कर तू यह निराधार॥

अन्वयार्थ - (**सो**) उस अपने आत्मा को (**वे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ चउगुण**) दो, तीन, चार, पाँच, नव, सात, छः, पाँच और चार गुण सहित जाने (**जाहँ एयहँ लक्खण**) उस परमात्मा के या आत्मा के ये ही लक्षण हैं।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ५, गुरुवार, दिनाङ्क ०७-०७-१९६६
गाथा ७६ से ७७ प्रवचन नं. २८

आगम का सार आ गया। आगम का यह सार है, यह योगसार। जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे कहाँ जुड़ान करना और कहाँ से हटना? मुद्दे की बात है। जिसे आत्मा का हित अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - ऐसा धर्म प्रगट करना हो, उसे आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, उस पर उसे दृष्टि देना और रागादि, निमित्त आदि भेद आदि से दृष्टि हटाना - ऐसा यहाँ 'योगसार' में कहा जाता है।

अब, यहाँ कहते हैं **आत्मा के गुणों की शुद्ध भावना करे**। यद्यपि वस्तु एक समय में पूर्ण अनन्त गुण की पिण्ड एकरूप है, वही आश्रय करने योग्य है परन्तु उसमें नहीं रह सके, तब उन गुणों के विचार करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।
चउगुण सहियउ सो मुणइ एयहँ लक्खण जाहँ॥ ७६॥

उस आत्मा को... उस अपने आत्मा को **दो, तीन, चार, पाँच नौ, सात, छह, पाँच, और चार गुणसहित जानें।** यहाँ तो व्यवहार से विचार करे तो उसका विचार करे – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? बीच में भक्ति का, पूजा का, दान का व्यवहार आवे, वह अलग बात है परन्तु इसे व्यवहार करना तो नजदीक का यह व्यवहार है। निश्चय से तो एक स्वरूप भगवान आत्मा अनन्त गुण का एकरूप स्वरूप है, उसमें एकाकार, उसका लक्ष्य करके एकाकार होना, वह वस्तु का स्वरूप और निश्चय वह है परन्तु उसमें नहीं रह सके तो उसमें जाने से पहले, स्थिरता से पहले ऐसे गुण के भेद का विचार करे, यह कहते हैं। नजदीक में नजदीक गुण के विचार करना, वह उसका व्यवहार है – ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! दूसरा जो भक्ति, व्रतादि का व्यवहार हो या बाहर का अमुक हो। समझ में आया?

आत्मा के ध्यान के लिये आत्मा के स्वरूप की भावना करना योग्य है। भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त वीतरागता, अनन्त आनन्द – ऐसे गुणों का एकरूप ऐसा आत्मा, उसे ज्ञायकभाव से भाना, एकस्वरूप से भाना वह मुख्य लक्षण है, मुख्य कर्तव्य तो यह है। समझ में आया? उसमें नहीं रह सके, तब **निश्चय से यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है, केवल अनुभव योग्य है...** तो वह एक अखण्ड वस्तु है, समझ में आया? धर्म कर्तव्य करनेवाले को एक ज्ञायकभावस्वभाव का अनुभव करना, वह उसका कर्तव्य है परन्तु **व्यवहारनय से यह अनेक प्रकार विचारा जा सकता है...** ठीक लिखा है। समझ में आया?

आत्मा का कल्याण करना हो तो आत्मा कैसा है? – ऐसा पहले उसे जानना चाहिए और जानकर आत्मा के रूप में एकाग्र होना चाहिए। जिसमें से शान्ति-धर्म-हितदशा प्रगट होती है – ऐसा आत्मा पहले बराबर अनन्त गुणों का एकरूप स्वरूप जानकर उसमें ही लक्ष्य करने योग्य है परन्तु उसमें लक्ष्य करके स्थिर नहीं हो सके तो व्यवहारनय से उसे विचार आता है, भेद का विचार आता है। क्या?

दो प्रकार से विचार करे तो यह गुण-पर्यायवान है। एक प्रकार से तो ज्ञायकभाव है, यह तो एक वस्तु। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त है। यह तो 'योगसार' है

न! एक प्रकार से ज्ञायक चिदानन्द पूर्णानन्द प्रभु का ही अनुभव करना, यह तो वस्तुस्थिति है। उसमें न रह सके तो दो गुण का विचार करना, यह विकल्प / भेद है। आहा...हा...! समझ में आया? यह 'योगसार' का व्यवहार भी अलग प्रकार का है।

वस्तु-ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ एकरूप वस्तु है। उसका ही ध्यान, उसका लक्ष्य, उसकी श्रद्धा, उसमें स्थिरता ही मोक्षार्थी का कर्तव्य है परन्तु उसमें नहीं रह सके, तब व्यवहारनय से वह गुण और पर्यायवाला है - ऐसे विचार आते हैं। वह वस्तु जो ज्ञायकभाव, पूर्ण एकरूप वस्तु, उसमें लक्ष्य लेकर स्थिर नहीं हो सके, तब वह आत्मा गुण-पर्यायवाला है - ऐसे विकल्प, विचार आते हैं। समझ में आया? उसके विचार आते हैं (कि) यह गुण-पर्यायवाला है। दूसरे आत्माओं और दूसरी बात की बात यहाँ नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र ऐसे होते हैं, यह सब व्यवहारश्रद्धा स्थूल में जाती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह देखने में नहीं आया?

उत्तर : यह, वह देखने में आवे उसी की बात है। देखनेवाला स्वयं को देखकर विचार करता है। देखनेवाला कौन है? जड़ है? देखनेवाला भगवान आत्मा अपने मूल स्वरूप को - एकरूप को देखता हुआ स्थिर हो, यह तो उसका मूल कर्तव्य है, यह तो उसका मूल आचरण है और यह आचरण मोक्ष का कारण है। आहा...हा...! उसमें स्थिर नहीं हो सके, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण, कमजोरी के कारण विकल्प उत्पन्न हो, एकरूप निश्चय में स्थिर नहीं रह सके तो गुण का विचार (करे)। यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता ऐसे गुणों का (धारक है), परन्तु यह आत्मा के गुण और उनकी अवस्था, यह गुण-पर्यायवाला है - ऐसे विचार आते हैं, वह भी व्यवहार है, विकल्प है, भेदरूप विचार है। लो, समझ में आया?

अपने भीतर अनेक गुण व पर्यायों को रखता है... भगवान आत्मा यह वस्तु, वस्तु है। अन्तर में स्वयं भगवान अनन्त गुण और अनन्त अवस्था रखता है। वस्तु का उसका उसी के भेद से विचार करना - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा जिसे धर्म करना है, जिसमें धर्म करना है - ऐसा भगवान पूर्ण स्वरूप,

उसका लक्ष्य करके स्थिर होना, उसमें नहीं रह सके तो यह आत्मा अनन्त गुणवाला है और अनन्त गुण है तो उनकी पर्याय भी अनन्त गुणवाली है, पर्याय भी अनन्त है – ऐसे उसे एक को दो प्रकार से विचार करना। आहा...हा...! समझ में आया? यह भी व्यवहार आया। समझ में आया?

एकड़े एक और बिगड़े दो। दो विचार आये, वह विकल्प आया (तो) बिगाड़ खड़ा हुआ। यह स्थिर न हो सके तो ऐसे विचार में रहना – इतनी बात वहाँ ली है। आहा...हा...! यहाँ तो मूल बात है न! यह भेद पड़ा, वह वास्तव में योगसार नहीं है। उसका व्यवहार (है)। योगसार तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति प्रभु में अन्तर में ढलकर एकाकार होना वही उसकी वस्तु है, फिर योगसार की दशा, योगरूप से जुड़ने में काम न करे तो उसी उसी के यह गुण और यह पर्याय का माहात्म्य करता हुआ अन्तर्मुख समाने का प्रयत्न करे। समझ में आया? यह अकेली मक्खन की बात है। दूसरे कहते हैं, इसमें निश्चय में व्यवहार की बात ही नहीं करते परन्तु यह व्यवहार का बात क्या करे? सुन न, दूसरा व्यवहार बीच में आवे, भले ही उस समय आवे परन्तु यह व्यवहार, इसके समीप का व्यवहार तो यह है, समझ में आया? आहा...हा...!

अथवा यह ज्ञान-दर्शनस्वरूप है... भगवान आत्मा वस्तु, उसके अनन्त गुण, उसकी पर्याय यह भेद पड़ा, यह व्यवहार हुआ अथवा भगवान आत्मा दर्शन -ज्ञानस्वरूप है। वह परमात्मा स्वयं एक स्वरूप में दर्शन-ज्ञानस्वरूप है – ऐसे दो गुणों से विचारना, वह भी एक व्यवहारनय का विकल्प है। समझ में आया? ऐसा अद्‌भुत धर्म है, भाई, वीतराग का! लोगों को ऐसा लगता है कि यह निश्चयवाले... मुनि को कहते हैं, यह क्या लगा रखा है तुमने? व्यवहार डाला तो ऐसा व्यवहार डाला? वह व्यवहार इसमें क्यों नहीं रखा? यह बात तो पहले हो गयी, जिस किसी को स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता हुई, उसे अन्तर पञ्च महाव्रत का विकल्प निमित्त होता है, और फिर स्वरूप का साधन उग्ररूप से अन्दर करता है – यह बात पहले कह गये हैं। समझ में आया? यहाँ तो अन्तर में भगवान आत्मा का ही घोलन करने में व्यवहार खड़ा होता है, उसकी बात करते हैं।

यह एक ही काल में अपने को और सर्व पर पदार्थों को देखने-जाननेवाला है। भगवान आत्मा एक ही काल में सबको जाननेवाला और देखनेवाला है। किसी को अपना माननेवाला या किसी को अपने में मिलानेवाला यह उसके स्वभाव में नहीं है - ऐसा कहते हैं। उसके स्वभाव में जानना-देखना है - ऐसा कहते हैं। ऐसा भेद का विचार करना। उसका स्वभाव जानना-देखना है। अनन्त लोकालोकादि पदार्थ हों, उसमें कहीं जानने-देखने के अतिरिक्त उसका स्वभाव, यह मेरा (और) मैं उसका - ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। समझ में आया ? ओहो... !

आत्मवस्तु जाननहार और देखनहार - ऐसा स्वभाव धारक आत्मा है। वह किसी पर को अपना माननेवाला - ऐसे स्वभाव का धारक नहीं है। वैसे ही मैं पर का हूँ - ऐसा कोई स्वभाव धारक नहीं है परन्तु मैं मुझे और पर को जानने-देखने के स्वभाव का धारक हूँ, रखनेवाला हूँ - ऐसा भेद, उसे व्यवहार कहते हैं। आहा...हा... ! मांगीलालजी ! अद्‌भुत बात ! यह उन वीतराग का व्यवहार ! दूसरे सब चिल्लाते हैं, 'अरे... अरे... !' भगवान ! सुन न, भाई ! निश्चय की दृष्टि और अनुभव होने पर (भी) स्थिर नहीं रह सके, तब बीच में व्यवहार-बन्ध के कारण के भाव आवें, वे भी बन्ध के कारण के भाव हैं। उनका उत्साह क्या ? जिसका खेद हो, उसका उत्साह क्या ? क्या कहा ? व्यवहार बीच में आता है, खेद है कि बीच में आता है। ऐसा कहा है न ? वह हेतु है। ओ...हो... !

भगवान आत्मा मेरा ध्रुवस्वभाव जिसमें एकरूपपना त्रिकाल (रहा है), उसके अन्तर में - ध्रुव में एकाकार (होना), उसी में रुचि, उसका ज्ञान और उसकी रमणता (करना), वही वस्तु है, वही कर्तव्य है; वह मोक्ष के लिये कारणरूप भाव है परन्तु कहते हैं कि भाई ! उसमें स्थिर नहीं रह सके, कमजोरी - पुरुषार्थ की बहुत कमजोरी है, इसलिए उसे व्यवहार आवे तो ऐसा विचार करना। यह तो जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाले भाव / गुण का धारक आत्मा है - ऐसा विचार-विकल्प आता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? समस्त लोकालोक - राग से लेकर देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार या छह द्रव्य सब - मैं अपने में रहकर जानता-देखता हूँ। मैं अपने में रहकर जानू-देखूँ - ऐसे स्वभाव का धारक, वह मैं आत्मा हूँ। उसे ऐसे विचार को भी व्यवहार कहा जाता है।

आहा...हा... ! ए... निहालभाई ! उसे अभी पुण्य-बन्ध का कारण कहते हैं। अद्भुत बात, भाई ! समझ में आया ?

भाई ! परमेश्वर का पन्थ तो कोई अलौकिक है। स्वयं परमेश्वर है। परम-ईश्वर, जिसमें ईश्वर की अकेली महानता, ईश्वर का पुञ्ज भगवान पड़ा है। आत्मा अर्थात् एक ईश्वर नहीं, समझ में आया ? वह ज्ञानगुण से ईश्वर, दर्शनगुण से ईश्वर, चारित्रगुण से ईश्वर अनन्त गुण से ईश्वर, अनन्त गुण का ईश्वर – ऐसा वह विचार करे, कहते हैं। वह विकल्प और भेद है। आहा...हा... ! कहो, रतिभाई ! यह पढ़ाई कैसी होगी ? तुम्हें तो यह का यही सीखना, हर रोज इसी का पहाड़ा और यह का यही पहाड़ा। हिम्मतभाई ! यह का यही न ! प्रतिदिन नया क्या होगा ? है ? पुस्तकें नयी छपाये, कहते हैं। दो-दो वर्ष में बदलती होगी, नहीं ? नहीं भी बदलती, यह तो नहीं बदलती ऐसी बात। एक ही प्रकार का धन्धा और एक ही प्रकार की पुस्तक !

भगवान आत्मा अनन्त गुण राशि प्रभु में अन्तर में एकाकार दृष्टि, रुचि और स्थिरता (होना), ऐसी अखण्ड वस्तु की दृष्टि ज्ञान और रमणता... बस ! यह का यही मोक्ष का मार्ग है परन्तु इसमें नहीं रह सके तब वह दृष्टि ज्ञान और रमणता होने पर भी ऐसा भेद उठता है। अमुक तो दृष्टि ज्ञान और एकाकार होने पर भी उसे ऐसे विचार आते हैं कि ओहो... ! इसका एक-एक गुण ईश्वर और उसकी पर्याय भी ईश्वरवान – ऐसे अनन्त गुण की ईश्वरवान पर्याय और गुण, उसका वह धारक, उसका वह धारक – ऐसा व्यवहारनय का विकल्प उसे आता है। कहो समझ में आया ? अरे... ! परमेश्वर का मार्ग... ! परमेश्वर आत्मा स्वयं और परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने बताया हुआ पन्थ, वह अलौकिक ही होगा न, भाई ! लौकिक के साथ कहीं उसका मेल खाये ऐसा नहीं है, दुनिया के साथ परमेश्वर के पन्थ को कहीं मेल नहीं है। ऐसा दुनिया से तो अतड़ो (भिन्न है) अतड़ा को क्या कहते हैं ? भिन्न, अतड़ो अर्थात् दूसरे के साथ मेल नहीं खाये ऐसा। अतड़ो हमारी काठियावाड़ी भाषा है। अतड़ो अर्थात् किसी के साथ मेल नहीं खाये, किसी के साथ मिले नहीं। इसमें कुछ बोला जाये – ऐसा नहीं है। प्रेमचन्दभाई को कहता हूँ।

तीन प्रकार से विचार करे। उत्पाद, व्यय और ध्रुव। आहा...हा... ! भगवान आत्मा....

पहले गुण-पर्याय को जानकर निर्णय और दृष्टि की हो और जिसने दृष्टि नहीं की उसे भी ऐसे विचार पहले आते हैं और दृष्टि करके अनुभव किया हो, उसे भी स्थिरता नहीं हो, तब ऐसे विचार आते हैं, उसे व्यवहार कहते हैं। यह आत्मा ध्रुवरूप से शाश्वत् है, नयी अवस्था से उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था व्यय-अभाव होता है - ऐसा उसका उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप, उस एक स्वरूप में तीन भेद से विचारने का नाम व्यवहार है। समझ में आया ? यह व्यवहार आता है, बीच में आये बिना रहता नहीं परन्तु है, उसका उत्साह करने योग्य नहीं है, उसका अनुसरण करने योग्य नहीं है। आता अवश्य है, आहा...हा... ! अद्भुत बात, भाई ! कहा है न वहाँ ? व्यवहार-दर्शन, ज्ञान-चारित्र को धारक वह आत्मा है, परन्तु वह व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है, हाँ ! कहनेवाले और सुननेवाले दोनों को, बस ऐसा कहते हैं।

'समयसार' आठवीं गाथा में है न ! '**जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।**' आहाहा... ! यह भगवान आत्मा को तीन रूप से कहना, गाना इसका नाम अनार्य भाषा है। उसे इस प्रकार समझाये बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे एकरूप प्रभु का ज्ञान नहीं है, इसलिए भगवान आत्मा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को पहुँचे, प्राप्त हो, वह आत्मा - ऐसा कहे बिना वह समझता नहीं है, तथापि वह कहना उस कहनेवाले को उस समय भले ही विकल्प है परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। सुननेवाला भले ही इस प्रकार सुने - यह भगवान आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला है -ऐसा भले ही विचारे परन्तु उसमें रहने योग्य, अनुसरण करने योग्य नहीं है। वहाँ से हटकर ज्ञायकभाव में एकाकार होने योग्य है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

उत्पाद-व्यय और ध्रुव। **समय-समय पर्यायों के पलटने से उत्पत्ति - विनाश करते हुए भी अपने स्वभाव से अविनाशी है...** भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में परिणमित होते हुए भी, उत्पत्ति और व्यय ऐसा पलटा खाने पर भी वस्तु का पलटा नहीं है - ऐसे अविनाशी को धरनेवाला वह तत्त्व है। पर्याय से पलटे और वस्तु से अपलटे - सदृश्य रहे - ऐसी वह वस्तु है। आहा...हा... ! इसमें क्या करना ? यह आता

है, वह व्यवहार है। आहा...हा...! भगवान की भक्ति और पूजा का व्यवहार तो बहुत स्थूल, बाहर रह गया। समझ में आया?

अथवा वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है। ऐसा विचार करना, कहते हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य उसकी अस्ति के तीन प्रकार और या यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन गुणोंवाला ऐसा है, उसका विचार करना। भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन का धारक उसका गुण त्रिकाल है। पर्याय सम्यग्दर्शनरूप परिणमती है। सम्यग्ज्ञान त्रिकाल है, पर्याय से सम्यक्रूप परिणमती है। चारित्ररूप त्रिकाल है, पर्यायरूप से (चारित्र) परिणमता है। ऐसे इन गुण और पर्यायवाला आत्मा है – ऐसे तीन भेद से एक का विचार करना, इसका नाम भगवान व्यवहार कहते हैं कि जो व्यवहार हेय है। आहा...हा...! बापू! तेरे घर में गये बिना तेरा छुटकारा नहीं है। ऐसे भेद-विचारने को वह घर से बाहर निकलता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

चार प्रकार विचार करे तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप... इच्छा निरोध। चार आराधना के स्वरूप का विचार करे। भगवान आत्मा ऐसे वस्तु से ज्ञायकरूप होने पर भी जब विचार भेद में आता है, तब ऐसा विचारना कि यह सम्यग्दर्शनमय वस्तु, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और परमानन्द की उग्रदशारूपी तप, परमानन्द की उग्रदशारूपी तप (– ऐसे) चार गुणवाला यह भगवान है परन्तु मैं यह हूँ – ऐसी हूँ के अन्दर बात है। आहा...हा...! समझ में आया?

अथवा यह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयस्वरूप है। भगवान आत्मा अपनी ऋद्धि में... अपनी सम्पत्ति में... पोतानी (अपनी) यह हमारी काठियावाड़ी भाषा है। पोतानी का अर्थ अपनी, ऐसा सब हिन्दी समझ लेना। क्यों, राजमलजी! पोतामां... पोतामां... अर्थात् क्या होगा? यह काठियावाड़ी भाषा है (इसलिए) जरा कठिन लगेगी। पोतामां अर्थात् क्या? पोतामां क्या होगा? पोतामां अर्थात् अपने में, ऐसा। पोतामां अर्थात् अपने में, अपने में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल (– ऐसे) अनन्त चतुष्टय की धारक वस्तु स्वयं ही है। एक को चार रूप से धारक विचार करना, वह व्यवहार और भेद है। आहा...हा...! यह व्यवहार

भले ही आवे (परन्तु उसका) उत्साह करने योग्य नहीं है। ऐसा आये बिना रहता नहीं। सर्वज्ञपद पूर्ण एकदम नहीं होता, उसे समय लगता है। सर्वज्ञदशा प्रगट करने को असंख्य समय लगते हैं तो कहते हैं, ऐसे विचार होते हैं ऐसा व्यवहार होता है। (इस प्रकार) चार स्वरूप है।

अथवा यह सुख-सत्ता चैतन्य बोध चार भाव प्राणों का धारी है। चार भावप्राण लिये हैं। सुख-आनन्द, अस्तिरूप रहा हुआ आनन्द और अस्तिरूप चैतन्य और बोध - ज्ञान इन चार भावप्राणों का धारी हूँ। मैं यह आत्मभगवान राग-द्वेष और शरीर व वाणी, कर्म का धारक, यह तो उसमें गन्ध में नहीं है। उसके व्यवहार में तो धारक उसका वह व्यवहार भी नहीं है। आहा...हा...! भगवान यह चैतन्यबोध आनन्द और सत्ता ऐसे प्राण का धारक है। वह एक ऐसे प्राण का धारक है, उसे भी व्यवहार और विकल्प कहते हैं। समझ में आया? ओ...हो...!

अथवा **यह आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव का स्वामी है।...** चार लेना है न! भगवान आत्मा...! चार-चार की बात चलती है। स्वयं प्रभु, अपना द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् उसकी अवगाहना-चौड़ाई; काल अर्थात् अवस्था; और भाव अर्थात् शक्ति - इन चार का यह स्वामी है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अतिरिक्त दूसरे किसी वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वामी यह नहीं है, मालिक नहीं है। समझ में आया?

शान्तरस का धारक प्रभु, शान्त... शान्त... अकेला उपशमरस, उसका धारक है - ऐसा विचारना यह भी भेद है। समझ में आया? भगवान तो स्वरूप से अखण्ड एकरूप है, उसकी रुचि, ज्ञान और स्थिरता - यह साक्षात् मोक्ष का मार्ग है परन्तु इसमें जब नहीं रह सके, तब ऐसे विकल्प होते हैं। ऐसे भेद होते हैं कि मैं अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वामी हूँ; शरीर का, राग का (स्वामी नहीं) हूँ। मेरी निर्मल पर्याय का स्वामी, हाँ! राग का स्वामी नहीं, शरीर का, वाणी का, कर्म का, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, देश, राष्ट्र, धूल, यह राजा, नृपति... नरपति ऐसा कहते हैं न... नर-मनुष्य का पति-वति, धर्मी नहीं मानता। मैं कोई नर का पति नहीं हूँ, मैं तो अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का पति हूँ। आहा...हा...!

मेरी स्वामित्व की चीज-वस्तु, उसकी चौड़ाई, उसकी अवस्था, उसकी शक्तियाँ, उनका मैं मालिक हूँ; इस प्रकार चार भेद से विचार करना, यह भी व्यवहार और विकल्प है। आहा...हा...! समझ में आया?

पाँच प्रकार से विचार करें तो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र और अनन्त वीर्य... लो, इस प्रकार लिया है। ऐसा स्वरूप है। भगवान आत्मा अनन्त दर्शनस्वरूप, अनन्त ज्ञानस्वरूप, क्षायिक समकितस्वरूप क्षायिक चारित्ररूप दो ऐसे लिये और अनन्त वीर्यस्वरूप। **अथवा उसमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावरूप में परिणमन की शक्ति है...** यह दूसरे पाँच लिये, दूसरे पाँच लिये। वे भी पाँच लिये और वह भी पाँच लिये। अथवा भगवान आत्मा उपशमस्वरूप से होने की शक्ति है, उपशमसमकित और उपशमचारित्र होने की शक्तिवाला है। क्षयोपशमदर्शन, ज्ञान और आनन्द के होनेवाली शक्तिवाला है। क्षायिकसमकितदर्शन और चारित्र के होने की शक्तिवाला है। औदयिक-उसमें योग्यता, पर्याय में राग होने की उसकी पर्याय में योग्यता है। समझ में आया? कर्म के कारण नहीं, परपदार्थ के कारण नहीं।

कल बड़ा लेख आया है। कर्म के कारण विकार नहीं होता - ऐसा 'सोनगढ़' कहता है। 'सोनगढ़वाले' ऐसा कहते हैं। 'सोनगढ़वाले!' कल ही आया था। क्या है? 'जैनदर्शन' में। इक्कीस बोल का उत्तर देते हैं। प्रभु! तू कहता है, वह तो सब कहते थे। 'संवत्' 2006 की साल में 'रामविजय' भी कहता था कि आठ कर्म के कारण भटकता है, ऐसा भगवान कहते हैं। तुम कहते हो कि नहीं, अपने अपराध से भटकता है। लो! उस दिन 2006 की साल में 'पालीताना' में विवाद उठा था, सोलह वर्ष पहले। समझ में आया? 'दामोदर सेठ' भी कहता था 'कर्म के कारण विकार होता है, अधिक तो तुम उनपचास प्रतिशत कर्म का रखो और इक्यावन प्रतिशत पुरुषार्थ का रखो - ऐसा कहते थे। यद्यपि दोनों का आधा-आधा रखना चाहिए परन्तु तुम्हारे बहुत जोर देना हो तो ऐसे इक्यावन रखो।' कहा नहीं, हराम है। एक भी प्रतिशत उसका कम नहीं और इसका भी कम नहीं। सौ के सौ प्रतिशत कर्म के कर्म में और विकार के विकार में है।

देखो, यहाँ शक्ति धारण करता है। ऐसा कहा न ? औदयिकशक्ति धारण करने की शक्ति है, पर्याय में ऐसा होने की उसमें एक योग्यता है, त्रिकाल गुण नहीं परन्तु उस पर्याय की ऐसी शक्ति है, यह विचार करना। ऐसा विचार नहीं करना कि कर्म के कारण मुझे विकार होता है और अमुक के कारण ऐसा होता है। समझ में आया ?

प्रश्न – प्रमाण ज्ञान करने के लिये कर्म लेना (– ऐसा कहना है)।

उत्तर – इसमें ही प्रमाण है। त्रिकाल सामान्य और विशेष पर्याय, इसका ज्ञान, वह प्रमाण है। उस ज्ञान में परवस्तु के प्रकाश का गुण स्व–पर प्रकाश में आ जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यहाँ तो अपने अस्तित्व के अन्दर हो, उसकी बात है; दूसरे के अस्तित्व का भाग उसके घर रहा। आहा...हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं, **और पारिणामिकभाव...** यह त्रिकाल भाव। वे चार पर्याय हैं। – उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक वह निर्मल पर्याय है, उदय वह विकारी (पर्याय) है (और) पारिणामिक वह त्रिकाली भावस्वरूप है। ऐसे पाँच भावस्वरूप से विचार करना। एक को पाँच (भेदस्वरूप से) विचार करना, वह भी व्यवहार है। ओहो... ! कहो, समझ में आया ?

एक समय में कितने भाव होते हैं ? प्रश्न हुआ था न ? किसी के साथ प्रश्न हुआ था। पाँच (भाव) उससे कहते हैं कि तुमने निश्चित आत्मधर्म पढ़ा लगता है (तो वह कहता है) हाँ, भाई ! आत्मधर्म पढ़ते हैं। हरिभाई ने वे नहीं डाले थे ? बोल नहीं आये थे ? एक बार डाले थे न ? किसी ने कहा होगा कि पाँच भाव... । तुम्हारे में न हो। वह आत्मधर्म में से लिया होगा। यह तो होता है परन्तु उन्होंने वैसा छाँटकर रखी हुई बात उसमें होती ही नहीं। उनने पढ़ा उसकी बात है न ? उनने पढ़ा उसमें से पाँच बोल कहे। ऐसा कहनेवाले ने आत्मधर्म पढ़ा, उसमें से पाँच बोल कहे न ? तुम क्या समझे ? पाँच भाव एक समय में कहे तब उसमें प्रश्न किया कि तुम कहाँ से बोले ? आत्मधर्म बिना होता नहीं। तब कहा हाँ, मैंने आत्मधर्म में पढ़ा है। तुम समझे नहीं अभी ? उन्होंने पूछा। उसने ऐसा जवाब दिया हाँ, आत्मधर्म पढ़ते हैं।

एक समय में पाँच भाव होते हैं। उपशमश्रेणी माँड़े क्षायिक समकित हो, उपशमभाव

हो, क्षयोपशमभाव हो, उदयभाव और पारिणामिकभाव, पाँचों ही भाव एक समय में होते हैं। मांगीरामजी! यह थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह बातें तो सम्प्रदाय में पहले से करते थे। (संवत) १९७०-७१-७२, उसमें कोई नयी बात नहीं है। एक समय में पाँच भाव होते हैं, यह तो पहले श्वेताम्बर में भी था। समझ में आया? आता है, उन लोगों में आता है परन्तु वे कुछ अलग नहीं करते, समुच्चय पड़ जाते हैं। बहुत सों का वाचन तो कितने ही को सभा में व्याख्यान देने की विधि कैसे सीखना, यह बहुत अंशों में होता है। यह कला आयी तो दीक्षा लेना सफल नहीं तो क्या दीक्षा लें? कोई गिनता नहीं, बैठे होंगे। मुँह के आगे ऊँचे बैठना यह सफल। धूल भी सफल नहीं है, सुन न अब, दूसरे को समझाना यह सब तो विकल्प है। बाहर निकले उसका फल क्या? बाहर निकले हों तो लोगों में ऐसा होता है कि आहा...हा...! महाराज त्यागी हुए परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त की। हाँ, हमारे गाँव को प्रसिद्धि मिली। जिस गाँव के हों, उस गाँव के लोग ऐसा कहते हैं। यह मार्ग होगा? प्रसिद्धि तो आत्मा में अन्दर प्राप्त करना है, वह प्रसिद्धि है, आत्मप्रसिद्धि।

पाँच भाववाला आत्मा... है? एक समय में भी पाँच भाव होते हैं, हाँ! कहा न? ये पाँचों भाव आत्मा में ही होते हैं। कर्मों में और पुद्गल में तो एक पारिणामिकभाव और अधिक तो कर्म में उदय और पारिणामिक। आत्मा में ही पाँच भाव होते हैं। उसका विचार इसे करना।

आत्मा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु - इन पाँच परमेष्ठी पद का धारक है... पाँच परमेष्ठी के पद की पर्याय का धारक भगवान आत्मा है। मैं ही स्वयं अरहन्त की पर्याय का धरनेवाला मेरा तत्त्व है। वह शक्ति मुझ में पड़ी है। सिद्ध की पर्याय को धरने की मेरी शक्ति पड़ी है। आचार्य अर्थात् निर्मल गुण की पर्याय को आचार्य कहते हैं, किसी विकल्प और बाहर के क्रियाकाण्ड को नहीं। आचार्य के पाँच - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, तपाचार निर्विकल्प जो आचार, उसकी पर्याय का पिण्ड तो मैं आत्मा हूँ। ऐसे ही उपाध्याय की निर्मल पर्याय और साधु की निर्मल पर्याय का धारक मैं आत्मा हूँ। इस प्रकार इसे आत्मा में पाँच पद का धारकरूप से विचार करना, वह व्यवहार है। वह भी व्यवहार है। कहो, समझ में आया? ओ...हो...! ठीक लिखावट की है। हाँ!

यह आत्मा नरक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पाँच गतियों में जाने की शक्ति रखता है। ऐसा विचार करना। गति की योग्यता भी मेरे कारण है, मोक्षगति की योग्यता भी मेरे कारण है। इस प्रकार अन्दर में अपनी सत्ता का इन पाँच प्रकार से विचार करना, यह एक स्वरूप में पाँच प्रकार का विचार वह व्यवहार है।

छह प्रकार से विचार... **अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक (चारित्रस्वरूप है...)** अथवा गुणस्वरूप है, ऐसे गुणस्वरूप है, ऐसे गुणस्वरूप है। **अथवा पूरब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर-नीचे...** छह दिशा की बात करते हैं। छह यह लेना, छह यह लेना और या छह दिशाएँ लेना – ऐसा कहते हैं। इन छह दिशाओं में जाने की शक्ति का धारक है। ऊर्ध्व, अधो, पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन छह में (जाने की) अपनी शक्ति रखता है; कर्म के कारण नहीं। कहो, समझ में आया ? नरक में जाने की योग्यता भी अपनी पर्याय में स्वयं के कारण है। पशु में जाने की, निगोद में जाने की पर्याय की योग्यता स्वयं के कारण से है। अपने अस्तित्व में सत्ता की योग्यता से है। पर तो निमित्तमात्र वस्तु है। समझे ? छह गुणस्वरूप अथवा छह दिशा में जाने की योग्यतावाला।

अथवा आत्मा छह गुणवाला है। वे अस्तित्व आदि लिये न ! सामान्यगुण आते हैं न ? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' में छह (गुण आते हैं)। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, इन छह सम्यक् गुणों का धारी है, इन छह सच्चे गुणों का धारी है। समझ में आया ?

सात प्रकार का विचार करे तो **अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञानचेतना, अनन्त वीर्य...** देखो, पहले ज्ञान तो डाला है।.... **क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र इन सात गुणस्वरूप है।...** अथवा सात भंगस्वरूप है – ऐसा विचार करना। सप्तभंगी ली है। स्यात् स्व से अस्ति, स्यात् पर से नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। सात भंग से – भेद से आत्मा का विचार करना, वह भी एक ज्ञान की विकल्प की दशा है। ज्ञान में उस प्रकार की (दशा) है। इस प्रकार विचारना भी धरता है, उसमें है। ये सातों सप्त भंगी आत्मा में है, ऐसा विचार करना। पर के कारण वे नहीं हैं, समझ

में आया ? अपनी अस्ति, अपने से है और अपना पर से नहीं होनापना भी अपने से है - ऐसा भगवान आत्मा को विचार करना... ।

अथवा इस जीव के कारण जीव-अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वों की व्यवस्था होती है।.... लो, उसकी दशा में सात तत्त्व होते हैं न ? ऐसा विचारना। आत्मा, सात नय से विचारना। सात नय से (विचारना) ठीक है। **नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ** ऐसी थोड़ी सूक्ष्म बात है।

नव प्रकार से विचार करें तो आत्मा नव केवल लब्धिरूप है। उसमें मात्र आठ नहीं आया, आठ है नहीं। दो, तीन, चार, पाँच, छह, नौ, सात, ऐसे बोल लिये हैं। समझ में आया ? नौ प्रकार से विचार करे तो केवली भगवान को नवलब्धि होती है, उस रूप से में हूँ। अभी ऐसा मैं हूँ, ऐसा, हाँ! अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, इस लब्धि की पर्याय की प्राप्ति को योग्य मैं ही स्वयं आत्मा हूँ। समझ में आया ? स्वयं प्राप्ति के योग्य है न ? दूसरा कौन दे दे ? ऐसा है। समझ में आया ? नौ प्रकार – **अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग...** एक बार भोगना, बारम्बार भोगना, **अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्ररूप...** लो यह नौ हुए। नवलब्धि का धारक मैं हूँ। यह सब आँकड़े याद रहें ऐसे नहीं हैं परन्तु उनमें से भाव तो याद रहता है न ?

मुमुक्षु : आँकड़े का क्या काम है ?

उत्तर : आँकड़े का किसलिए करे ? बात ठीक कहते हैं। आँकड़े का काम है या भाव का काम है ?

अथवा यह आत्मा पुण्य-पापसहित सात तत्त्व ऐसे नौ पदार्थों में स्थित होता है। लो ! है न ? पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की पर्याय में टिकनेवाला आत्मा है या नहीं ? आहा...हा... ! ठीक-ठीक विचार किया है। यह बहुत आता है। 'पञ्चास्तिकाय' में आता है न ? एकरूप से, दोरूप से, तीनरूप से, चाररूप से आता है। उसमें भी आता है, उन लोगों में भी आता है। 'देवाधिगम' में सब भंग श्वेताम्बर में आते हैं।

जीव की अपेक्षा से नौ पदार्थ का विचार है। इस प्रकार आत्मा को अनेक

गुण तथा स्वभाववाला विचारना, जिससे वस्तु का विचार समभाव से होता है। राग, द्वेष और सांसारिक विकल्प जीते जा सकते हैं। उसमें दूसरे का विचार नहीं है इसलिए उसमें राग की तीव्रता नहीं आती। **गुणों की भावना करते-करते ही स्वानुभव की शक्ति आती है...** इन गुणों का बहुमान करते-करते... भले ही विकल्प है, उसमें से हटकर अन्दर में एकाकार हो, उसे अन्तर का अनुभव कहा जाता है। **विकल्परहित भाव में आना वह ही स्वानुभव है।** लो! भेदरहित, विचाररहित होकर अन्दर में अवलम्बन करना, विकल्परहित अनुभव है। अन्यभेद है वह तो विकल्प है।

'समयसार' का दृष्टान्त दिया है। देखो, शक्ति का वर्णन है सही न, ठीक रखा है। सैंतालीस शक्तियाँ। **यह आत्मा अनेक प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। एक-एक नय से एक-एक गुण की पर्याय अथवा शक्ति का विचार करने से आत्मा का खण्डरूप विचार होता है।** देखो, एक-एक गुण का विचार करने से एक-एक गुणरूप में विकल्प उत्पन्न होता है। **इसलिए खण्डरूप विचार छोड़कर मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह अखण्ड है तो भी अनेक भेदवाला है, एक है...** अन्दर भले ही भेद है, भेद है तथापि दृष्टि में भेद नहीं है। **एक है परम शान्त है निश्चय है, चैतन्यमयी ज्योतिस्वरूप है।** लो, एक गाथा में पचास मिनट गये। आँकड़े अधिक थे न? एकदम छोड़ दे ऐसे नहीं थे।

मुमुक्षु : पाँच नहीं लिया?

उत्तर : पाँच कहा न! दो-तीन बार कहा। चाहे जहाँ से लो, पाँच दो बार आता है। पाँच भाववाला लो, पाँच गुणवाला लो, दो बात में से चाहे जो लो। यहाँ भी दो बार आया है। एक बार **पञ्च** और फिर **पञ्च** उसमें चाहे जो पाँच बोल लो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य... अब, ७७...!

☆ ★ ☆

दो को छोड़कर दो गुण विचारे

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
जिणु सामिउ एमइँ भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ७७॥

दो तजकर दो गुण गहे, रहे आत्म-रस लीन।
शीघ्र लहे निर्वाण पद, यह कहते प्रभु-जिन॥

अन्वयार्थ - (**जो बे छंडिवि**) जो दो को अर्थात् राग-द्वेष को छोड़कर (**बे गुण सहिउ अप्पाणि वसेइ**) ज्ञान, दर्शन दो गुणधारी आत्मा में तिष्ठता है (**लहु णिव्वाणु लहेइ**) वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है। (**एमइँ जिणु सामिउ भणइ**) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

☆ ★ ☆

दो को छोड़कर दो गुण विचारे। लो, ग्रहण-त्याग का विकल्प भेद, यह भी व्यवहार से एक विकल्प है।

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
जिणु सामिउ एमइँ भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ७७॥

जिनवरस्वामी ऐसा कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान त्रिलोक के नाथ जिनेन्द्र प्रभु ऐसा कहते हैं कि **जो दो को अर्थात् राग-द्वेष को छोड़कर...** लो, ठीक! आत्मा वीतरागस्वरूप में से भेद पड़कर राग-द्वेष को छोड़कर **ज्ञान-दर्शन दो गुणधारी आत्मा में तिष्ठता है...** आत्मा में स्थित होना, परन्तु ज्ञान और दर्शन का धारक - ऐसे आत्मा में स्थिर होना। मूल तो आत्मा में स्थित होना है। ज्ञान-दर्शन का धारक ऐसा कहा है। ज्ञान-दर्शन का विचार करके, यहाँ प्रश्न नहीं है। यह तो ज्ञान-दर्शन का धारक भगवान आत्मा एकरूप है, उसमें **'अप्पाणि वसेइं'** उस आत्मा में बसे। भेद में बसना, वह अभी आत्मा में बसना नहीं है। समझ में आया? उसमें समुच्चय नाम लिये थे। **'जाहँ एयहँ लक्खण'** उसके लक्षण जानना। अब यह कहते हैं कि इन सब विचारों को रोककर यह आत्मा-ज्ञान-दर्शनरूप का धारक है, ऐसे आत्मा में बसना। कहो, समझ में आया?

दो के लक्षणवाला, ऐसा नहीं। दो का रूप वह एक आत्मा - ऐसे आत्मा में बसना। लो, आत्मा में बसना। ओ...हो...! अपने शुद्धस्वरूप भगवान में रुचि-ज्ञान और स्थिरता करने का नाम बसना कहा जाता है - ऐसा करे तो **'जिणु सामिउ एम भणई लहु**

णिव्वाणु लहेइ' तो **वह शीघ्र ही निर्वाण को पाता है...** अल्प काल में उस जीव की मुक्ति होगी – ऐसा जिनेन्द्रस्वामी (कहते हैं)। **जिणु साामिउ** कहा है न? इसलिए जिनेन्द्र लिया। स्वामी-जिनस्वामी ऐसा कहते हैं। जिनस्वामी अर्थात् जिनेन्द्र। जिन के स्वामी अर्थात् जिनेन्द्र आहा...हा...! **'जिणु सामिउ एमई भणइ'** जिन के इन्द्र ऐसे जिनेन्द्र प्रभु यह कहते हैं, जिनेन्द्र प्रभु ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा में, वह जानने-देखनेवाला दो धारक एक तत्त्व है, ऐसे आत्मा में बसे तो अल्प काल में मुक्ति होती है – ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। यह क्रिया कैसी? समझ में आया?

बन्ध का मूल कारण राग-द्वेष है, उनका त्याग करना। राग-द्वेष का खण्ड। भगवान वीतरागस्वरूप है, उसमें खण्ड होना, यह ठीक-अठीक, यह राग-द्वेष है। ठीक-अठीकपना उसके स्वभाव में नहीं है। कोई अनुकूल चीज ठीक और प्रतिकूल अठीक – यह वस्तु में ही नहीं है। इसमें, (आत्मा में) नहीं है और उसमें भी नहीं है (अर्थात्) ज्ञात होने योग्य चीज में भी कोई ठीक और अठीक (ऐसे) दो भाग ही नहीं हैं और आत्मा में ऐसा भंग नहीं है, वह तो वीतरागस्वरूप है। यह ठीक और अठीक – ऐसे विकल्प उत्पन्न हों, वे वस्तु में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! निरोग शरीर होवे तो धर्म होता है, लो! यह कहते हैं ऐसा स्वरूप में है ही नहीं। सुन न! अब वह तो परज्ञेय है, वह तो जानने योग्य ज्ञेय है। उसमें ऐसा होवे तो ऐसा हो, वहाँ हो तो यहाँ हो ऐसा यहाँ कहाँ था? आहा...हा...! खाने-पीने के साधन हो, सुविधायें हों, स्त्री-पुत्र अच्छे हों, सेवा-वेबा करे, तो कुछ वैयावृत्त्य में सेवा टहल में अन्तर पड़े। पड़ता होगा या नहीं? स्त्री अच्छी हो, पुत्र हो, सब इसे चाहते हों, ठण्डे समय आना चाहिए गर्म समय आना चाहिए, सबेरे में आना चाहिए, शाम को (आना चाहिए)। यह सब घर के लोग जानें – ऐसी सब सुविधा, व्यवस्था समान हो तो इसे स्फूर्ति रहती है या नहीं?

मुमुक्षु : शरीर के साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : यही कहते हैं कि बाहर में ठीक-अठीक ऐसा किसी चीज में नहीं है, इसलिए राग-द्वेष छोड़ दे। तेरे स्वभाव में नहीं है। ठीक-अठीक मानना – ऐसा तेरा स्वरूप

नहीं है। तू तो जानने-देखनेवाला (है और) यह एकरूप से ज्ञात होता है। समस्त वस्तुएँ ज्ञात होती है, वे एकरूप से (ज्ञात होती है)। यह ठीक-अठीक ऐसे दो भाग हैं ही नहीं। आहा...हा...! और तेरे में भी दो भाग नहीं हैं। तू एकरूप से ही सबको जान, बस! यह तेरा स्वरूप है। ऐसे जानने-देखने के भाव में राग-द्वेष को छोड़कर। समझ में आया? यह त्याग करने का क्रम है।

पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी राग-द्वेष का त्याग करना। मिथ्यादृष्टि जीव पर पदार्थ को आत्मा मानने की भूल करता है। मिथ्यादृष्टि जीव अन्दर में पर-पदार्थ में आत्मा मानने की भूल करता है। आत्मा अर्थात् मुझे लाभ होगा, उससे नुकसान होगा - ऐसा माननेवाला पर को अपना मानता है। आहा...हा...! आत्मा, भगवान आत्मा के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ मुझे यह ठीक है, ऐसा वीर्य का उत्साह, उत्साहित वीर्य (होता है), वह अनन्तानुबन्धी का क्रोध, मान, माया, लोभ है। समझ में आया? माया और लोभ ये राग के घर के हैं और क्रोध और मान दो द्वेष के घर के हैं। कोई भी वीर्य उल्लसित (होवे कि) यह ठीक है, उसे अनन्तानुबन्धी माया, लोभ कहते हैं। यह ठीक नहीं है, उसे अनन्तानुबन्धी का क्रोध-मान (कहते हैं) उसमें पर की एकत्वबुद्धि होती है। समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि पर में अहङ्कार और ममकारभाव करता है। यह मैं और यह मेरे। **इन्द्रियजनित पराधीन सुख को सच्चा सुख मानता है।** अज्ञानी, इन्द्रियों में उत्पन्न हुआ सुख (उसे सच्चा मानता है)। मौसम्मी खाई-पिया, ऐसे गद्दे महंगे रेशम के, रस-पूरी खाये हों और फिर रेशम के गद्दे पर सोया हो, सिर पर पंखा चलता हो, तो ओढ़ने की जरूरत नहीं, मक्खी छूती नहीं, आहा...हा...! कितनी सुविधा! कहते हैं कि इसमें मिथ्यादृष्टि सुखबुद्धि मानता है। आहा...हा...! ऐसी व्यवस्था... केला और पूड़ी सीधे उतर जाते हों, चबाना भी नहीं पड़े और ऊँचे दईथरा (मीठी पूड़ी) हो खाये और फिर मलमल ओढ़ कर सो जाये, नागरवेल का पान चबाता हो, सेठ सुख से सोता हो, मूढ़ है - ऐसा कहते हैं। उसमें सुखबुद्धि माने वह मिथ्यादृष्टि, परपदार्थ को अनुकूल माने बिना नहीं रहता। पराधीन सुख को सुख मानता है।

इस मिथ्यात्वभाव के कारण जिन विषयों के सेवन से इन्द्रियसुख की कल्पना करता है, उस पदार्थ में रागभाव करता है और जिससे विषयभोग में हानि होती है तथा जो विषय नहीं रुचते, उनके प्रति द्वेष करता है। यह लिया है, मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है न यह! जो इसे रुचता है, इसे मदद करनेवाला होता है, उसके प्रति राग करता है, नहीं रुचता इसे मदद करनेवाला नहीं होता, उसके प्रति द्वेष करता है। **इस प्रकार राग-द्वेष के चार प्रकार हैं।** फिर अनन्तानुबन्धी आदि के भेद किये हैं। पहले अनन्तानुबन्धी के तीव्र राग-द्वेष छोड़ना और स्वरूप की एकाग्रता करना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव।)

एक बार... यह बात तो सुन!

अहो! आत्मा का ज्ञानस्वभाव कि जिसमें भव नहीं है, उसका जिसने निर्णय किया, वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने वास्तव में केवली को माना। प्रभु! ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है। एक बार आग्रह छोड़कर, तेरी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन!

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म, गुजराती, अगस्त 2008)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ६, शुक्रवार, दिनाङ्क ०८-०७-१९६६
गाथा ७७ से ८० प्रवचन नं. २९

योगसार की ७७ गाथा! क्या कहते हैं? देखो!

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
जिणु सामिउ एमइँ भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ७७॥

जो कोई आत्मा अपने में से राग-द्वेष (छोड़ता है)। पहले तो अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष छोड़कर अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, गुण ग्रहण करके अपने में एकाग्र होता है, **'अप्पाणि वसेइ'** वह अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करता है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष के मिटाने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ जरूरी है। दूसरा पैराग्राफ। कहो, समझ में आया? आचार्य महाराज, दिगम्बर आचार्य योगीन्दुदेव ऐसा कहते हैं, दो दोष को छोड़कर दो गुण ग्रहण करना। दो दोष – राग और द्वेष को छोड़कर, दो गुण – अपनी आत्मा के दर्शन और ज्ञान, उन्हें ग्रहण करना।

मुमुक्षु : राग-द्वेष तो दशवें (गुणस्थान में) छूटते हैं?

उत्तर : राग-द्वेष कहाँ दशवें में छूटते हैं। यहाँ तो चौथे गुणस्थान से राग-द्वेष को उपयोग की भूमिका में लाते ही नहीं। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के ज्ञान उपयोग में राग-द्वेष के परिणाम को एकत्वरूप से नहीं लाते, तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहा जाता है। राग होता है, परन्तु राग और द्वेष को रोग जानते हैं। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि, राग और द्वेष को रोग जानते हैं और अपना आत्मस्वभाव, शुद्धस्वरूप की दृष्टि और ज्ञान करने को लाभदायक मानते हैं। कहो समझ में आया?

इस सम्यक्त्व के पाने का उपाय अपने आत्मा के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान है... सम्यग्दर्शन पहली चीज है। अनन्त काल में अपना शुद्ध परमात्मा अकेला आनन्दकन्द

अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की अन्तरदृष्टि अनन्त काल में नहीं की है। अत: कहते हैं, पहले वह करना। अतीन्द्रिय आनन्द, सुख मुझमें है और मुझमें पुण्य-पाप के कषायभाव मेरी चीज में नहीं है - ऐसा सम्यक् प्राप्त करने का उपाय अपने आत्मा के यथार्थ स्वभाव का ज्ञान है।

यह आत्मा ज्ञानदर्शनस्वभाव का धारी है... भगवान आत्मा जानने-देखने अथवा श्रद्धास्वरूप त्रिकाल है। समझ में आया ? जाननस्वभाव ज्ञान त्रिकाल है, श्रद्धास्वभाव ही त्रिकाल है – ऐसे आत्मा में दृष्टि लगाकर (सम्यक्त्व प्राप्त करना)। **सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशक है...** ऐसा जानना। मैं अपने को जाननेवाला हूँ और राग शरीर को अपनी अस्ति में रहकर जाननेवाला हूँ, समझ में आया ? ऐसा अन्तर निर्णय करे और अनुभव करे कि मैं आत्मा ज्ञान-दर्शन का धारक, ज्ञान-दर्शन का धारी हूँ। यहाँ दो की बात है, इसलिए दो लेते हैं।

ज्ञान-जानना और श्रद्धा अथवा दर्शन उपयोग, उसका धारक आत्मा अपने में रहकर दूसरे को और स्व को जाननेवाला है। समझ में आया ? ऐसा सूर्य के समान भगवान आत्मा स्व-पर प्रकाशक **सर्वज्ञ है सर्वदर्शी है...** आत्मा सर्वज्ञ है, अभी; और सर्वदर्शी है। ज्ञान स्वभाव है तो ज्ञान सम्पूर्ण आत्मा में है। दर्शन स्वभाव है, वह दर्शन सम्पूर्ण आत्मा में है और **पूर्ण वीतराग है...** आत्मा रागरहित है तो पूर्ण वीतराग है – ऐसे आत्मा की अन्तरदृष्टि और ज्ञान करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। शुरुआत में, पहली भूमिका में यह प्रगट करना। **पूर्ण आनन्दमय है...** भगवान आत्मा का आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। सिद्ध में जैसा अतीन्द्रिय आनन्द है, वैसा मेरा स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द है। मैं उस अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन लेनेवाला हूँ। कहो, समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु : खावे और फिर दान दे ?

उत्तर : कौन करे ? धूल करे सब। खाये किसे ? करे किसे ? आहाहा... ! अपनी भूमिका में – अपनी सत्ता में राग-द्वेष करे या हर्ष शोक भोगे। अपनी स्वाभाविक दृष्टि करने से अतीन्द्रिय आनन्द भोगे। दूसरा क्या करे ? अपना आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। उसे करनेवाला और भोगनेवाला होता है आत्मा। ओ...हो... ! अरे... ! सोनी दागीना

(गहने) बनाये ? दागीने को क्या कहते हैं ? जेवर। जेवर बनाये ? सोनी को कुछ दे तो वह भोगे। क्या भोगे ? पैसे को – धूल को भोगे ? धूल में भी नहीं भोगता। मूढ़ मानता है। अपनी मौजूदगी में, अपनी सत्ता की भूमिका में करना और भोगना है। पर की सत्ता की भूमिका में करना-भोगना आत्मा को नहीं है।

मुमुक्षु : 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं, भोगता है और तन्मय नहीं होता ?

उत्तर : इसका अर्थ क्या हुआ ? भोगता है और तन्मय नहीं होता – इसका अर्थ यह हुआ कि पर में एकमेक नहीं होता और पर को भोगता है – ऐसा ज्ञान कराने के लिये निमित्त कहा जाता है। ओ...हो... ! अद्भुत परन्तु पण्डितों ने भी पढ़-पढ़कर भारी उल्टी बात निकाली; कल ऐसा आया है। सोनी होता है न ? सोनी - स्वर्णकार, वह जेवर बनाता है परन्तु एकमेक नहीं होता, जेवररूप नहीं होता परन्तु किसी पररूप से किस प्रकार होगा ? और पररूप हुए बिना पर का कर्ता किस प्रकार होगा ? और पररूप हुए बिना पर का भोगता भी किस प्रकार होगा ? और पररूप तो कभी होता नहीं। आहा...हा... ! लिखा है परन्तु उसका अर्थ समझना चाहिए न ! लिखा क्या है ? घी की शीशी लिखा हो, घी की वरण्डी नहीं कहते ? घी की वरण्डी। घी की वरण्डी है ? घी का बर्तन होता है ? बर्तन तो पीतल, मिट्टी का होता है; घी तो उसमें रहता है। वह रहता है – ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। घी, घी में रहता है, बर्तन, बर्तन में रहता है। घी का बर्तन होता है ? बोलने में आता है। बोलने में आया तो क्या हुआ ? 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा हम तो नहीं देखते। हम तो देखते हैं कि मिट्टी घट को बनाती है – ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं।

मुमुक्षु : वे तो उपादान से कहते हैं ?

उत्तर : परन्तु उपादान का अर्थ क्या ? पदार्थ अपने से अपने परिणाम करता है; पर का परिणाम कभी नहीं करता। आहा... हा.... !

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दमय है... सम्यग्दर्शन, ज्ञान में अपने आनन्द को भोगनेवाला आत्मा है। अज्ञानमय राग-द्वेष को भोगनेवाला है; पर को तो भोगनेवाला है नहीं। यह शरीर मिट्टी-जड़ है। यह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, मिट्टी-धूल है। दाल-भात, सब्जी, नमकीन, मिर्ची, मरी, आत्मा भोग सकता है ? आत्मा चरपरा हो जाता है ?

मुमुक्षु : बाजार में से लाकर टुकड़ा करके खाता है ?

उत्तर : कौन टुकड़ा करे ? आहा...हा... ! भाई ! वे तो जगत् के पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था से परिणमित हो रहे हैं, पूर्व की अवस्था से बदल रहे हैं। उसमें तेरे करने भोगने का क्या आया ?

स्वयं परमात्मस्वरूप... भगवान आत्मा (है)। स्वयं निजस्वरूप से तो परम स्वरूप ही, परमात्मा ही है। **आठ कर्म, रागादिभाव कर्म, शरीर आदि (नोकर्म) से भिन्न है, अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है – ऐसी प्रतीति लाकर बार-बार अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावधारी आत्मा की भावना करते रहने से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम-क्षयोपशम या क्षय हो जायेगा।** ऐसा कहते हैं। समझे ? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द सम्पन्न स्वरूप परिपूर्ण है – ऐसी बारम्बार एकाग्रता करने से दर्शनमोह आदि का क्षयोपशम, क्षय हो जाता है।

तब यह जीव सम्यग्दर्शन-गुण का प्रकाश कर सकेगा। मूढ़ता चली जायेगी, सम्यक्ज्ञान हो जायेगा, बस! दर्शन और ज्ञान दो ले लिये। **तब इसे निर्वाण पद पर पहुँचने की योग्यता हो जायेगी।** वे दो लिये हैं। सही न ? दर्शन और ज्ञान। चारित्र बाकी रहा। समझ में आया ? इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है ? ठीक किया है। निर्वाण, सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान – अपने शुद्धस्वरूप परमानन्द का ज्ञान और परमानन्द की दृष्टि हुई तो सम्यग्दर्शन, ज्ञानी हुआ तो मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो गया। अल्प काल में उसका मोक्ष होगा। वह सम्यग्दर्शन ज्ञान के बिना लाख-करोड़ क्रियाकाण्ड करे – दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम (करे परन्तु) उनसे कभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान अथवा मोक्ष का अधिकारी नहीं होगा। कहो समझ में आया ? तब बारह कषाय बाकी रहेंगी, चार अनन्तानुबन्धी गये; सोलह में से बारह बाकी रहे, नोकषाय भी है। चारित्र की कमी है। चौथे गुणस्थान में **इक्कीस प्रकार के चारित्र-मोहनीय के उदय से राग-द्वेष हो जाता है। उसको वह रोग जानता है।** कहो समझ में आया ?

मन-वचन-काय की क्रिया को अपना कर्तव्य नहीं जानता है... आहा...हा... ! जड़ की क्रिया, शरीर, वाणी, मिट्टी की जो पर्याय / क्रिया होती है, उसे धर्मी अपना कर्तव्य

नहीं जानते, नहीं मानते, वह तो उसका जाननेवाले रहते हैं, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। कुछ समझ में आया? **इस प्रकार राग-द्वेष का त्याग करके ज्ञान-दर्शन-गुणवाले आत्मा को प्राप्त करो।** अन्तिम सारांश (किया)। अन्तिम लाईन है। इस प्रकार राग-द्वेष का त्याग करके, ज्ञान-दर्शन गुणवाले आत्मा को प्राप्त कर। पाठ में ऐसा है न कि दो दोष को छोड़े और दो (गुण को) ग्रहण करे।

'समयसार' का दृष्टान्त दिया है। **महान ज्ञान के लक्षण धारी शुद्ध निश्चयनय के द्वारा...** निश्चय अर्थात् सत्य दृष्टि द्वारा **जो सदा ही अपने आत्मा के एक स्वभाव का अनुभव करते हैं...** धर्मी जीव को राग हो, विकल्प हो, उससे रहित मेरी चीज एक स्वभावी, एक स्वभावी पूर्ण आनन्द, एक स्वभावी है – ऐसी दृष्टि करके आत्मा का अनुभव करते हैं। **वे रागादिभावों से छूटकर बन्धरहित शुद्ध आत्मा को देख लेते हैं।** रागभावों से छूटकर... **विधुरं... विधुरं** है न? **विधुरं, बन्धविधुरं** वह बन्ध से विधुर हो जाता है। यह ७७ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

तीन को छोड़कर तीन गुण विचारे

तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय सुह भायणु वि जिणवरूएम भणेइ॥ ७८॥

त्रय तजकर त्रय गुण गहे, निज में करे निवास।
शाश्वत सुख के पात्र वे, जिनवर करे प्रकाश॥

अन्वयार्थ – **(तिहिं रहयउ)** तीन राग-द्वेष-मोह से रहित होकर **(तिहिं गुण सहिउ अप्पाणि जो वसेइ)** तीन गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित आत्मा में जो निवास है **(सो सासय-सुह-भायणु वि)** सो अविनाशी सुख का भाजन होता है **(जिणवरु एम भणेइ)** जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

☆ ★ ☆

अब, ७८, तीन को छोड़कर तीन गुण विचारे।

तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय सुह भायणु वि जिणवरूएम भणेइ॥ ७८॥

राग-द्वेष-मोह से रहित होकर... पहले दो लिये थे – राग-द्वेष। यह मोह (कहकर तीन कहे)। मोह (अर्थात्) मिथ्यात्व। राग-द्वेष और मिथ्यात्व तीन को छोड़कर, **तीन गुण – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है...** जो कोई मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शनसहित निवास करता है, राग-द्वेष छोड़कर स्वरूप की स्थिरता में निवास करता है, आत्मा में स्थिररूप निवास करता है, **वह अविनाशी सुख का भाजन होता है**। वह पात्र हो गया। **अब केवलज्ञान प्राप्त करने का पात्र हो गया**। समझ में आया? यहाँ तो सत्य-निश्चय की बात है न! यह व्यवहार को तो याद करना नहीं है, वह तो बीच में विकल्प आता है, वह तो बन्ध का कारण है।

जिसे आत्मा की परमानन्ददशारूपी मुक्ति की चाहना है, जिसे आत्मा की अनन्त आनन्दरूपी मुक्ति की चाहना है, उसे राग-द्वेष-मोह का लक्ष्य छोड़कर अपने भगवान आत्मा का दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना। आहा...हा...! अनादि से स्वयं की आँख बन्द है और अनादि से पर को देखता है। पर को देखने की आँख बन्द करके अपने को देखना – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य-आनन्दकन्द प्रभु, उसे अनादि से अपने ज्ञानचक्षु बन्द करके, कभी देखा नहीं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मन, भोग – ऐसा देखा, वह तो अज्ञान है। एक बार अपने ज्ञान नेत्र को खोलकर, ज्ञान नेत्र को खोलकर अपने चैतन्य आनन्दकन्द स्वरूप को देखकर प्रतीति करना, उसका ज्ञान करना और उसमें लीन होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह मुक्ति का पात्र है। भाजन कहा है न? भाजन। शाश्वत् सुख का भाजन है। अल्पकाल में उसे शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी।

मुमुक्षु : लगावे तब आँख खुले न?

उत्तर : लगावे कौन? आत्म स्वयं लगावे। अपने ज्ञाननेत्ररूप चक्षु आत्मा स्वयं खोले, दूसरा कौन खोले? क्या करे? गुरु अपनी पर्याय करे, दूसरे का क्या करे?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : कौन धारता है ? यह तो निमित्तरूप से उपदेश हो, तब होता है। आहा...हा... ! 'कर विचार तो पाम' – आता है या नहीं ? श्रीमद् में आता है न ? भाई ! कर विचार, एक ही शब्द उन्होंने रखा है।

शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।
बीजू कहिये केटलू कर विचार तो पाम॥

कर तो तू पाये। हम कहते हैं तो पाये – ऐसा है इसमें ?

मुमुक्षु : इतना तो कहा न कि कर विचार तो पाम ?

उत्तर : परन्तु कहा किसने ? सुना किसने ? समझा कौन ? हो गया ? समझा यह और समझाया इसने ? यह इष्टोपदेश में नहीं आया ? यह आ गया है ? गुरु किसे कहते हैं कि जो स्वयं चक्षु खोलता है और जो अपने को समझाता है, वह स्वयं; स्वयं अपना गुरु है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इष्टोपदेश में आया है या नहीं ? कि गुरु किसे कहना ? जो आत्मा अपने हित को चाहता है, हित को बताता है, और हित के फल के लिये अपने में प्रार्थना करता है, उसे गुरु कहते हैं। सुना है या नहीं ? यह आ गया है। हित को चाहे, हित को समझाये-समझे और हित में वर्तन करे। लो, ठीक है ? यह गुरु का लक्षण दिया है। 'इष्टोपदेश' 'पूज्यपादस्वामी'। 'कुन्दकुन्दाचार्य' के शिष्यों में 'उमास्वामी' ने 'तत्त्वार्थसूत्र' बनाया है, उसकी जिन्होंने टीका बनायी – 'सर्वार्थसिद्धि टीका', मोक्षशास्त्र की। वे पूज्यपादस्वामी कहते हैं। व्यवहार शास्त्र की टीका बनायी। वे इष्टोपदेश में कहते हैं – अपने को उपदेश दे, मोक्ष की इच्छा करे और मोक्ष के भाव को समझावे तथा उसमें वर्तन करे, वह गुरु है।

मुमुक्षु : यह तो निश्चय गुरु कहे ?

उत्तर : तब उस व्यवहार को व्यवहार कहा जाता है। यह वस्तु हो तो दूसरे को व्यवहार कहते हैं। कहा है न ! दूसरा कहा परन्तु कब ? यह होवे तब न ? निश्चय होवे तब ऐसा कहा जाता है कि इस गुरु से हमें प्राप्त हुआ – ऐसा बोला जाता है। 'गोम्मटसार' में मुनि भी ऐसा कहते हैं – हमारे गुरु से हम भवसागर तिर गये। वे स्वयं तिरे उसका उत्साह बताते हैं, समझ में आया ? होंश को क्या कहते हैं ? उत्साह, उत्साह। 'गोम्मटसार'

में 'नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती' में (आता है।) उल्लास... अपना उल्लास... ओ...हो...! प्रभु! आपके प्रताप से हम भवसागर तिर गये हैं, अब हमारे भव नहीं होंगे। आहा...हा...!

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह तो निमित्त से ऐसे ही कथन आते हैं। भाषा, ऐसी व्यभिचारी भाषा है। यह गोम्मटसार में ऐसा आता है, अन्त में यह शब्द है। है या नहीं? लाओ न, भाई! पाठ तो लाओ, समय पर आवे तो शोभे, नहीं तो क्या शोभे? क्यों? एई...! निहालभाई! लोग ऐसा कहते हैं कि समय पर आवे तो मण्डप शोभेगा – ऐसा कहते हैं न? विवाह में मण्डप करते हैं न? बहिन-लड़कियाँ लिखती हैं समय पर आना, भानेज को सबको लेकर (आना), मण्डप की शोभा बढ़ेगी। यह सब संसार की बातें ऐसी हैं। मण्डप, मण्डप डालते हैं न? मण्डप, निमन्त्रण पत्रिका में ऐसा लिखते हैं। मण्डप कहते हैं? यहाँ काठियावाड़ में 'माण्डवो' कहते हैं। (गोम्मटसार में) ४३६ गाथा है। लो, जो चाहिए वह पृष्ठ आया, अण्डरलाईन किया है। देखो,.... वीरेन्द्र नन्दी नामक आचार्य का शिष्य ऐसा मैं, नेमिचन्दसिद्धान्त चक्रवर्ती, गोम्मटसार का कर्ता। 'वीर नन्दी' नामक आचार्य का मैं शिष्य ग्रन्थकर्ता नेमिचन्द्र हूँ। शास्त्र शिक्षादायक गुरु चरणों के प्रसाद से, शास्त्र शिक्षादायक गुरु चरणों के प्रसाद से अनन्त संसार समुद्र के पार को प्राप्त हुआ। उन श्रुतगुरु अभयनन्दी आचार्य को नमस्कार करता हूँ। देखो, उन्हें निश्चय भी हो गया है कि अल्प काल में मेरा संसार नष्ट होगा। संसार है नहीं – यह पञ्चम काल के मुनि कहते हैं। ४३६ गाथा है। समझे? **अनंत संसार जलही उतीनो** अनन्त संसार के समुद्र को पार पा गया हूँ। स्वयं की साक्षी है न? तत्पश्चात् कहते हैं, हे प्रभु! आपके चरण-कमल की सेवा से मैं यह प्राप्त हुआ हूँ – ऐसी विनय की भाषा है। उसमें भगवान के पैर सेये थे? पैर दबाये थे? उन्होंने कहा वैसा भाव अपने में प्रगट कर, मैं संसार से पार हुआ हूँ। प्रभु! आपकी मुझ पर कृपा है। भाषा तो ऐसा बोले न! विनयवन्त प्राणी कैसे बोलेगा? समझ में आया ओ...हो...! फिर दश करण का व्याख्या ली है। दश करण आते हैं न? स्वयं का आह्लाद प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया?

'कुन्दुन्दाचार्यदेव' ने भी कहा है। अहो...! सर्वज्ञ भगवान से लेकर हमारे गुरु

पर्यन्त महा आत्मा में लीन, विज्ञानघन में लीन थे। विज्ञानघन में लीन ऐसे हमारे भगवान और फिर हमारे गुरु ने हमें कृपा करके उपदेश दिया। शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया। लो! संक्षिप्त शब्द-शुद्धात्मा का उपदेश! भगवान! तू शुद्धात्मा है, परमानन्द है, बस! उसमें विचार करके स्थिर हो, समझ में आया? जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रगट किया, उसे गुरु की कृपा हुई – ऐसा कहा जाता है। कहो समझ में आया?

(यहाँ पर) कहते हैं कि **तीन गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है...** देखो जो आत्मा में निवास करता है (–ऐसा कहा है) पुण्य-पाप के जो व्यवहार-विकल्प हैं, उनका निवास छोड़कर, आहा...हा...! भगवान आत्मा ही मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप ही है। राग से-बन्धन से रहित अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय, उसके आश्रय से प्रगट करके आत्मा में बसना, आत्मा में बसना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान से आत्मा में बसना, आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति परमात्मा अपना निज स्वरूप के अन्तर में स्वसन्मुख की श्रद्धा, स्वसन्मुख का ज्ञान, स्वसन्मुख में लीनता इन तीनों से आत्मा में बसकर मुक्ति का पात्र हो जा। आहा...हा...!

'अप्पाणि जो वसेइ' शाश्वत् सुख का भाजन होता है। **जिणवरु एम भणेइ** है न? जिनवर वीतराग परमेश्वर, त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव समवसरण की सभा में भगवान ऐसा कहते थे, परमात्मा ऐसा फरमाते थे। बाकी तो वाणी आती थी। बोले कहाँ?

सम्यग्दृष्टि जीव को यह निश्चय होता है कि आठों ही कर्म का बन्ध आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। आठों ही कर्मों का बन्ध मुझसे भिन्न है। दृष्टि में आत्मा कर्म से भिन्न ही है। उसकी शङ्का, उसे स्वयं को ही रहती है, उस शङ्का को तोड़नेवाला तो वह है। मैं आठ कर्म से रहित भगवान आत्मा हूँ। आठ कर्म सहित तो व्यवहार का लक्ष्य है, उतना। स्वभाव के लक्ष्य में आठ कर्म से रहित हूँ, वर्तमान, हाँ! वर्तमान। आहा...हा...! कितनी दृष्टि के जोर से यह स्वीकृति आती है! वह जोर किसमें पड़ा है? आत्मा में इतना जोर पड़ा है। पूर्ण बल पड़ा है, आत्मा में पूर्ण बल पड़ा है। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... ऐसे पूर्ण बल का स्वामी आत्मा, उसकी प्रतीति, ज्ञान में ऐसा आना कि मैं आठ कर्म से रहित हूँ।

यह वह क्या है ? मैं विकार, पुण्य-पाप के विकार से मैं रहित हूँ, मैं शरीर-वाणी, नोकर्म से भी पृथक् हूँ। किस पुरुषार्थ गति में यह बात ज्ञान में आती है ? आहा...हा... ! समझ में आया ? अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, रागादि और निमित्त का सम्बन्ध होने पर भी उड़ा दे ! दृष्टि उसका स्वीकार नहीं करती। मैं आठ कर्म से रहित पूर्णानन्द हूँ। कर्म शरीर से रहित हूँ, वाणी से रहित हूँ, विकार से रहित हूँ। समझ में आया ? – ऐसे आत्मा का अन्तर स्वभाव, अपना स्वभाव पर से भिन्न जानना। (फिर) आठ कर्म की बात ली है।

जैसे विवेकी जीव मलिन पानी में निर्मली डालकर... निर्मली समझे ? औषधि आती है न ? **मिट्टी को पानी से अलग करके निर्मल पानी को पीता है, वैसे ही ज्ञानी जीव भेदविज्ञान के बल से...** अपने शुद्ध ध्रुवस्वरूप तरफ लक्ष्य करके पुण्य-पाप के राग से हटकर, राग और स्वभाव की एकता को तोड़कर, पर से भिन्न भेदज्ञान के बल से... देखो ! बल से... मैं शुद्ध चैतन्य पदार्थ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द हूँ – इस प्रकार राग और विकल्प से भेदज्ञान के बल से... समझ में आया ?

राग-द्वेष-मोह को आत्मा से भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्मा का अनुभव करता है। उस पुरुषार्थ की गति कितनी है ? आहा...हा... ! कौन करता है ? समझ में आया ? जिस दृष्टि में वर्तमान अवस्था अल्पज्ञ, रागवाली होने पर भी और उसमें कर्म का निमित्त होने पर भी, वह दृष्टि अन्तर में अल्पज्ञ, राग और कर्म के सम्बन्ध से रहित मैं हूँ – ऐसा भेदज्ञान करके अपने स्वरूप में वीतरागपने का अनुभव करती है। समझ में आया ? वह अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त करता है। जरा लम्बी बात की है।

व्यवहारनय से देखने पर संसारी जीवों में भेद दिखता है। व्यवहार से भेद दिखता है। बहुत दृष्टान्त दिये हैं, मित्र, शत्रु दिखता है। स्वभाव की दृष्टि हो तो कोई शत्रु -मित्र नहीं है। व्यवहार से यह मित्र और शत्रु (है ऐसा कहा जाता है)। माता और पिता व्यवहार से दिखते हैं। आत्मा के माता-पिता कैसे ? आत्मा को किसी ने उत्पन्न किया है तो वास्तविक माता-पिता है ? निश्चय से भगवान माता-पिता रहित, शत्रु-मित्र की दृष्टि रहित है। व्यवहार से दिखता है परन्तु उस दृष्टि को बदलकर निश्चय से देखने की दृष्टि करना। पुत्र-पुत्री व्यवहार से (कहे जाते हैं)। स्वामी, सेवक। स्वामी और सेवक व्यवहार

से है। ध्याता-ध्येय व्यवहार से। सुन्दर, असुन्दर... यह सुन्दर, असुन्दर भेद व्यवहार है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि में यह भेद नहीं है। आहा...हा...!

व्यवहार से ऐसा होने पर भी निश्चयदृष्टि से देखने से स्वभावधारी भगवान पर का जानने-देखनेवाला ही है, भेद करनेवाला नहीं। रोगी, निरोगी... व्यवहार कहता है यह रोगी, निरोगी है। दो-दो भंग (लिये हैं)। धनिक-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, बलवान-निर्बल, कुलीन-अकुलीन, साधु-गृहस्थ, यह भी व्यवहार के भेद हैं। स्वभाव की दृष्टि में भेद नहीं है, अभेद अखण्डानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरा आत्मा (है) ऐसी दृष्टि से देखने से भेद नहीं। समझ में आया? ऐसी दृष्टि से देखना वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है।

राजा प्रजा, देवनारकी, पशु मानव, स्थावरत्रस, सूक्ष्म वादर, पर्याप्त अपर्याप्त, प्रत्येक साधारण, पापी-पुण्यात्मा, लोभी-संतोषी, मायावी-सरल, मानी-विनयवाला यह सब व्यवहार है। क्रोधी कपटवाला, स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध, अनाथ-सनाथ, सिद्ध और संसारी, **ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य का भेद मिलता है**। व्यवहार में से देखो तो ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य दिखता है। समझ में आया? **वहाँ विषय भोग का लोलुपी और कषाय का धारक जीव इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष करता है। बाहर के व्यवहार में दिखता यह सारा जगत राग, द्वेष मोह उत्पन्न करने का निमित्त बन जाता है। इसलिये ज्ञानी को राग, द्वेष मोह भावों की मलिनता नहीं हो इसलिये निश्चय में से जगत को देखना चाहिए**। सभी द्रव्य है, परिपूर्ण पदार्थ भगवान आत्मा है आहा...आहा...! शत्रु मित्र ऐसा भेद नहीं है, मूर्ख विद्वान का भेद नहीं है, माता-पिता का (भेद) नहीं है। ध्यान-ध्याता का नहीं है। आह...! एक वस्तु अभेद चिदानन्दस्वरूप है – ऐसी दृष्टि का अभ्यास करना। समझ में आया।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों आत्मा के गुण हैं। आत्मा स्वभाव से यथार्थ प्रतीति का धारक है। ये तीन गुण लिये न? तीन। भगवान आत्मा वास्तविक रूप से यथार्थ प्रतीति का धारक ही है। उसका स्वभाव यथार्थ श्रद्धा-प्रतीति धारक आत्मा है। उसमें से यथार्थ प्रतीति निकालने की है। है उसमें से निकालना है, उसमें क्या है? – ऐसा कहते हैं। समझ में आया। भगवान आत्मा यथार्थ प्रतीति का धारक है।

स्व को स्व और पर को पर यथार्थ मानने वाला है... ऐसा ही है। स्व को

स्व और पर को पर – ऐसा श्रद्धान करने का उसका वैसा त्रिकाल स्वभाव है। वस्तु ऐसा है न! यह दर्शन की बात की। **लोकालोक के सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक साथ जानने वाला है।** सर्व लोक और अलोक – छह द्रव्य उनके गुण और पर्यायों को एक साथ जाननेवाला है – ऐसा उसका स्वभाव है। **चारित्र गुण से वह परम वीतराग है।** समझ में आया? **रत्नत्रयस्वरूप यह आत्मा अभेददृष्टि से एकरूप है।** ऐसा। वे तीन भेद कहे परन्तु रत्नत्रय-दर्शनज्ञान-चारित्र रतनत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेद दृष्टि से एकरूप है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र का भेद भी दृष्टि का विषय-अभेद में नहीं है।

शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। भगवान आत्मा शुद्ध स्फटिक की तरह अन्दर निर्मलानन्द प्रभु है। **परम ज्ञान, परम शान्त और परमानन्दमय है। इस प्रकार बारम्बार अपने आत्मा का ध्यान करना; फिर परिणामों की स्थिरता होने पर स्वयं आत्मा अनुभव प्रगट होगा। यही मोक्ष का मार्ग है।** उस शुद्ध स्वरूप की बारम्बार ऐसी भावना करने से अनुभव होगा, उसका नाम ही मोक्ष का मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग के लिये इन्हें ठीक बैठा है। निमित्त में जरा गड़बड़ आती है। कहो, समझ में आया।

'समयसार' में यह दृष्टान्त दिया है। **मैं अपने द्वारा ही अपने आत्मा के शुद्ध रस से पूर्ण चेतन्य प्रभु का अनुभव करता हूँ।** कलश है। **मैं अपने द्वारा ही...**मेरे आत्मिक शुद्ध रस से, आत्मिक शुद्ध रस से पूर्ण चैतन्य प्रभु मैं हूँ, उसका अनुभव करता हूँ। **मैं केवल शुद्ध ज्ञान का भण्डार हूँ, मुझे मोह कर्म के साथ बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है।** जो श्लोक बोलते हैं वही है न? 'मोह कर्म ममनाहिं, नाहिं भ्रम कूप है, शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है। कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ।' धर्मी अपने आत्मा का ऐसा विचार करता है। 'कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ, अपने रसौं भर्‍यो अनादि टेक हूँ।' अनादि से मेरा स्वरूप ऐसा है। 'मोह कर्म मम नाहिं, नाहिं भ्रम कूप है; शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।' आहा... ! बनारसीदास ने इस कलश से हिन्दी बनाया है, हिन्दी बनाया है। समझ में आया। 'शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।' वह भ्रम कूप है, पुण्य पाप के विकल्प

को अपना मानना है भ्रम कूप है। मिथ्यात्व का कुआँ है। भगवान शुद्ध चैतन्य का समुद्र है। शुद्ध चेतना का सिन्धु...सिन्धु...सिन्धु। ऐसी अन्तर में अपने आत्मा की दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। यह ७८ (गाथा पूरी हुई।)

☆ ★ ☆

चार को छोड़कर चार गुण विचारे

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु होहि पवित्तु॥ ७९॥

कषाय संज्ञा चार तज, जो गहते गुण चार।
हे जीव! निज रूप जान तू, होय पुनीत अपार॥

अन्वयार्थ – (**चउ कसाय**) चार क्रोधादि कषाय (**सण्णा**) चार संज्ञा–आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह (**रहिउ**) रहित (**चउ गुण सहियउ अप्पा वुत्तु**) व दर्शन ज्ञान सुख तथा वीर्य, चार गुणसहित आत्मा कहा गया है (**जीव तुहुं सो मुणि**) हे जीव! तू उसका ऐसा मनन कर (**जिम परु पवित्त होहि**) जिससे तू परम पवित्र हो जावे।

☆ ★ ☆

७९। चार को छोड़कर चार गुण विचारे।

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु होहि पवित्तु॥ ७९॥

चार क्रोधादि कषाय, चार संज्ञा – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह... चार संज्ञा। क्रोध, मान, माया, लोभ - चार कषाय, और आहार की संज्ञा, भय की संज्ञा, विषय की संज्ञा और परिग्रह की संज्ञा से रहित होकर **दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य इन चार गुणों से सहित आत्मा कहा गया है**। लो! समझ में आया? चारित्र लिया है न? चारित्र में से दो निकाले – सुख और वीर्य। चार बनाये, चार।

भगवान आत्मा – दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य चार गुणसहित आत्मा है। उनसे सहित

ही है। आत्मा में दर्शन त्रिकाल है, ज्ञान त्रिकाल है, सुख त्रिकाल है, बल त्रिकाल है। उसका आश्रय करके चार पर्यायें प्रगट करके, **हे जीव! तू ऐसा मनन कर जिससे तू परम पवित्र हो जाये.... जिम परु पवित्तु, परु पवित्तु**। अपने आत्मा को भूलकर इसमें सब किया है। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' भगवान आत्मा कैसा है? – उसकी परवाह ही नहीं है, बस! ऐसा करो, ऐसा करो। दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो... परन्तु तू कौन है? पहले यह तो पहचान। यह तो ठीक, मन्द राग, पुण्य है। समझ में आया? कहते हैं कि अपना भगवान आत्मा, उसकी चार गुण से आराधना करना और चार कषाय और संज्ञा को छोड़ना।

निश्चयनय से जगत् को देखना का अधिक अभ्यास करे। वस्तु स्वरूप को विचार करके किसी अपराधी पर क्रोध न करके... उन चार कषायों का निषेध करना है न! **....उसको सुधारने का प्रयत्न करे**। यह तो ठीक। सुधारने का प्रयत्न कौन करे? **जैसे रोगी मनुष्य पर दया रखनी चाहिए, वैसे अपराधी मनुष्य पर दया रखनी चाहिए**। जैसे रोगी प्राणी होवे तो दया आती है न! अरे...! यह प्राणी...! कलकत्ता में होता है न? हाथ काट दें, यहाँ से पैर काट दें, लड़कों को-बच्चों को ले जाकर काट दें। फिर गाड़ी में... गाड़ी होती है न? लकड़ी की। उसमें डाल दें, खीचते हैं, फिर अन्य को दया आती है... अर...र...र...! पच्चीस-पचास रुपये इकट्ठे हों, एक दिन में सौ-सौ, डेढ़ सौ (इकट्ठे होते हैं)। उसमें फिर मालिक हो, वह बाँट लेता है। जमादार और पुलिस और... ऐसी कार्यवाही चलती है। किसी का बालक ले लेते हैं। हमने एक बार भावनगर में देखा था। इतना शरीर, लोगों को इतनी दया आती कि अर...र...र...! अरे...! चार आने दो, आठ आने दो, केला खिलाओ, रुपया दो। इस प्रकार अपराधी पर दया करना। जैसे, रोगी पर दया आती है, वैसे अपराधी (जीव) रोगी, महारोगी है; भावरोगी है। समझ में आया? यह तो चार कषाय का त्याग बताते हैं न? भावरोगी पर क्रोध नहीं करना। है?

मुमुक्षु : अपराध स्पष्ट दिखता हो तो?

उत्तर : उसमें तुझे क्या है? वह अपराधी है, तुझे क्या? अरे...! वह अपराध करता है, उसे उसका कठोर फल भोगना पड़ेगा, ऐसी दया करना। मरते को मारना? लोग नहीं

कहते ? मरता होवे उसे मारना ? हम तो मर गये हैं, हमको मारते हो ? एक व्यक्ति कहता था। उसके सात लड़कियाँ, सात लड़कियाँ! और एक-एक का विवाह कर दिया। लड़की समझते हो ? लड़की। और उसमें दो-दो, पाँच हजार का खर्च। गरीब व्यक्ति हजार -हजार, दो हजार खर्च करना पड़ते हैं। भाई! हम तो मर गये हैं और तुम हमको मारो मत। ए... मलूकचन्दभाई! तुम्हारे जैसे को क्या हो ? यह तो गरीब व्यक्ति की बात है। उसने लड़की का विवाह किया, उसमें एक लाख रुपये खर्च किये, एक लाख! समझे ? मारवाड़ी में बहुत खर्च करते हैं, हाँ! तुम्हारे जैसे गृहस्थ हों तो मारवाड़ी में लाख-लाख (खर्च करते हैं)। उसको लाख, उसको लाख। कन्यावाले को लाख...। बच्छराजजी बहुत कहते थे। तुम्हारे बच्छराजजी ऐसा कहते हैं, तुम्हारे एक लाख कोई अधिक नहीं हैं, हाँ! कहो, समझ में आता है ?

यहाँ तो कहना है वहाँ इतना खर्च करके अपनी आबादी बनाते हैं कि हम आबाद हैं। यह तो रोग है, अपराध है। समझ में आया ? ऐसे अपराधी पर तो दया खाना चाहिए – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा नहीं देखना की, आहा...हा...! यह तो चढ़ गया और बड़ा हो गया। क्या बड़ा हो गया ? बड़ा रोग हुआ है। मान का रोग लगा है। मान का रोग लगा है और इतना नहीं करेंगे तो हमारी नाक नहीं रहेगी। इत्र होता है न ? क्या कहलाता है ? इत्रदानी घर में बहुत लाते हैं। जब बारात निकलती है न ? चाँदी की इत्रदानी (रखते हैं)। नहीं तो कहें यह क्या तुम्हारी बारात ? तुमने हमारा क्या आदर किया ? ऐसे धूलधानी मान में बेचारा मर जाता है, समझे न ? साधारण मारवाड़ी बेचारा कहता था, हमारे एक लड़की का विवाह करना हो तो बीस-बीस हजार का खर्च, घर में पचास-साठ हजार की पूँजी हो... करना क्या ? वरना ले नहीं, वे मर गये मान में, सब रोगी हैं। निहालभाई! उसमें साधारण घर हो, घर में समझने जैसा हो, और वह दस-दस हजार दहेज में खर्च करने पड़ते हैं, साधारण घर को, हाँ! अपने ऊँचे घर की बात नहीं है, बेचारे को साधारणवाले को क्या होता है ? वे सब मानी, उनके प्रति क्रोध (कषाय) नहीं करना, दया खाना। समझ में आता है ? आहा...हा...!

क्षणभंगुर गृहलक्ष्मी, विद्या, तप आदि का मान कदापि नहीं करना चाहिए। पहले क्रोध की व्याख्या थी, अब मान की है। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम, लक्ष्मी, विद्या,

तप का मान नहीं करना चाहिए। वे तो क्षणभंगुर चीजें हैं, उनका मान क्या करना ? **जैसे, फल के भार से वृक्ष नीचे-नीचे झुकते जाते हैं...** जैसे फल के भार से वृक्ष झुकते हैं; **वैसे ही ज्ञानी को सम्पत्ति, विद्या, तप और बल प्राप्त होने पर विशेष कोमल और विनयवान होना चाहिए।** आम बहुत पकते हों तो आम झुकता है। आम! बहुत आम होते हैं न ? पचास मन। एक-एक आम पर सौ-सौ मन, सौ-सौ मन, हाँ! बड़ा आम्र होवे तो दो-दो सौ मन होते हैं। एक साथ दो सौ मन आम, आम्र वृक्ष नम जाता है-झुक जाता है। पाँच-पाँच, दस-दस के गुच्छे होते हैं।

मुमुक्षु : डालियाँ भार नहीं झेल सकती इतना ?

उत्तर : हाँ, इतने आम होते हैं, होते हैं, यहाँ होते हैं। सोनगढ़ में कितने होते हैं! एक कहता था पचास मण पकेंगे, एक आम्र वृक्ष पर पचास मण! यहाँ सोनगढ़ साधारण में... जिसमें पानी बहुत हो, बड़ा आम्र वृक्ष हो तो दो-दो सौ मण (होते हैं) उसमें बीस-बीस रुपये के मण होते हैं, ऐसे दो सौ मण। चार हजार रुपये (होते हैं)। उसमें धूल भी कुछ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं, तुझमें तप और विनय आदि गुण होवे तो तुझे कोमलता रखनी चाहिए। इसके लिये यह दृष्टान्त है। विशेष कोमल (होता है।)

दूसरे को ठगने का भाव मन में से निकालकर... माया की बात (करते हैं)। **मायाचार का आचरण नहीं करना।** क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग कहते हैं न ? **सीधा, सत्य व्यवहार रखना चाहिए। लोभ मन को मलिन करता है, सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।** लो!

आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह यह चार संज्ञा... लो, इन्हें जीतना चाहिए। चार संज्ञा को छोड़ना चाहिए। **आत्मा को उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच इन चार गुणों सहित और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टय सहित ध्याना चाहिए।** चार गुण यह और अनन्त चतुष्टय को ध्याना चाहिए। **पवित्र होने का उपाय पवित्र का ध्यान करना है।** लो! तुझे निर्दोष होना हो तो निर्दोष भगवान आत्मा का ध्यान करना चाहिए। तुझे पवित्र होना हो तो पवित्र तो भगवान आत्मा पूर्णानन्द से पवित्र है, उसका ध्यान करना चाहिए। समझ में आया ?

मैं कषायरहित और चार संज्ञारहित शुद्धात्मा हूँ और सम्पूर्ण विश्व की आत्माएँ शुद्ध हैं। इस प्रकार की भावना करने से स्वानुभव की प्राप्ति होती है। स्वानुभव को ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं। लो! यह तो स्वानुभव को ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं। दूसरे कहते हैं – शुभयोग को धर्मध्यान कहते हैं और शुद्धोपयोग को शुक्लध्यान कहते हैं। वे तो आठवें से शुद्धोपयोग कहते हैं, सातवें तक शुभभाव है, वे ऐसा कहते हैं। स्वानुभव-आत्मा पूर्णानन्द की दृष्टि करके अनुभव करना। अल्प निर्दोषता (प्रगट हो), उसका नाम धर्मध्यान है। विशेष निर्दोषता होना उसका नाम शुक्लध्यान है। बाकी है तो दोनों अनुभव। पवित्र आत्मा का अनुसरण करके होना, वह अनुभव है। उस अनुभव की उग्रता, वह शुक्लध्यान; उसकी मध्यमता, वह धर्मध्यान है। शुरुआत तो पहले समय हो गयी, जब से सम्यग्दर्शन हुआ तब से। समझ में आया?

आत्मानुशासन में कहा है, **गम्भीर और निर्मल मन के सरोबर में जब तक चारों तरफ कषायरूपी मगरमच्छों का वास है...** गम्भीर और निर्मल मनरूपी सरोबर में जब तक क्रोध, मान, मायारूपी मगरमच्छ का वास है, **तब तक गुण समूह शंकारहित होकर वहाँ स्थिर नहीं रह सकता।** समझ में आया? जहाँ मगरमच्छ होते हैं, वहाँ दूसरे जीव नहीं रह सकते, खा जाते हैं। ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ मगरमच्छ जहाँ हैं, वहाँ गुणों का समूह शंकारहित नहीं रह सकता। ठीक उपमा दी है। **इसलिए तू समताभाव, इन्द्रियदमन और विनय द्वारा उन कषायों को जीतने का यत्न कर।** तीन गाथाएँ हुई। अब, अस्सीवीं है, वह आँकड़े की अन्तिम है, आँकड़े की अन्तिम है।

☆ ★ ☆

पाँच के जोड़ों से रहित व दश गुण सहित आत्मा को ध्यावे

बे-पंचहँ रहियउ मुणहि बे - पंचहँ संजुत्तु।
बे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो णिरूवुत्तु॥ ८०॥

दस विरहित दस के सहित, दस गुण से संयुक्त।
निश्चय से जीव जान यह, कहते श्री जिनभूप॥

अन्वयार्थ - **(बे-पंचहँ रहियउ)** दो प्रकार के पाँचों से रहित होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों को रोककर व पाँच अव्रतों को त्यागकर **(वे पंचहं संजुत्तु मुणहि)** दो प्रकार के पाँच अर्थात् पाँच इन्द्रियमनरूप संयम व पाँच महाव्रत सहित लेकर आत्मा का मनन करो। **(जो बे-पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरूवुत्तु)** जो दश-गुण-उत्तम क्षमादि सहित है व अनन्तज्ञानादि दश गुण सहित हैं, उसके निश्चय से आत्मा कहा जाता है।

☆ ★ ☆

पाँच के जोड़ों से रहित व दश गुण सहित आत्मा को ध्यावे।

बे-पंचहँ रहियउ मुणहि बे - पंचहँ संजुत्तु।
बे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो णिरूवुत्तु॥ ८०॥

दो प्रकार से पाँच से रहित होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों को रोक कर और पाँच अव्रतों का त्याग कर... लो, अब दो पाँच लिये हैं। पाँच इन्द्रियों को रोककर, अतीन्द्रिय आत्मा का एकाग्र ध्यान करना। पाँच अव्रत, समझे! हिंसा आदि पाँच अव्रत। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना का त्याग करके...।

दो प्रकार से पाँच अर्थात् पाँच इन्द्रियदमनरूप संयम... उसके सामने लेते हैं। पाँच इन्द्रियों को रोककर पाँच इन्द्रिय के दमनरूप संयम में रहना और पाँच अव्रतों का त्याग करके **पाँच महाव्रत सहित होकर आत्मा का मनन करो**। समझ में आया? **जो दस गुण उत्तम क्षमादि सहित हैं...** जो दस गुण उत्तम क्षमादि सहित हैं **और अनन्त ज्ञानादि दस गुण सहित हैं...** दो बात ली है। उत्तम क्षमादि दस गुण... उत्तम क्षमादि दस गुण आते हैं न? और या अनन्त ज्ञानादि दस गुण सहित ऐसा। उसे निश्चय से आत्मा कहा जाता है। अनन्तगुण सहित भगवान आत्मा को आत्मा कहते हैं। इन्द्रियों का दमन करके, पाँच अव्रत का त्याग करके, स्वरूप में दस गुण सहित या इन्द्रिय दमन के भावसहित अव्रत का त्याग करके व्यवहार से व्रत का विकल्प आता है; निश्चय से व्रत को अपने में स्थिर होना वह निश्चयव्रत है। यह नियमसार में आ गया है। पञ्च महाव्रत.... पञ्च महाव्रत निश्चय प्रायश्चित्त है। निश्चय प्रायश्चित्त; अपनी वीतराग पर्याय को महाव्रत कहते हैं, विकल्प को महाव्रत व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया? ऐसे अनन्त गुण सहित जान।

आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिए। निश्चिन्त होकर करना चाहिए - ऐसा। **पाँच इन्द्रियों के विषय में उलझा हुआ उपयोग आत्मा का मनन नहीं कर सकता।** पाँच इन्द्रियों के विषयों में उलझा हुआ मन, उस ओर की सावधानीवाला मन अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का ध्यान नहीं कर सकता। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द इन्द्रिय से रहित ऐसे आत्मा का ध्यान, पाँच इन्द्रिय के विषय में उल्लसित हुआ मन अन्तर में एकाकार नहीं हो सकता। समझ में आया? **इसलिए पाँच इन्द्रियों को संयम में रखना चाहिए। इन्द्रिय विजयी होना चाहिए और जगत् के आरम्भ से छूटने के लिए हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मपरिग्रह...** यह पाँच कहे न? **अव्रती भावों से विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन पाँच महाव्रतों का पालन करना चाहिए। साधुपद में द्रव्य और भाव दोनोंरूप से निर्ग्रन्थ होकर...** मुनि को तो अन्तर में भी रागरहित निर्ग्रन्थ दशा है। बाहर में नग्न दशा, दिगम्बर दशा, अन्तर में निर्ग्रन्थ, तीन कषाय के अभावसहित आनन्द की दशा (वर्तती है)। ऐसे होकर एकाकी भाव से शुद्ध निश्चय द्वारा अपने शुद्धात्मा का मनन करना। लो, मुनियों को भी शुद्धात्मा का मनन करना, यही मुनिपना है, उन्हें मुनि कहते हैं।

भगवान पूर्णानन्द स्वरूप में अन्तर एकाकार होकर मनन अर्थात् एकाग्र होना उसे मुनि कहते हैं और श्रावक गृहस्थ भी अपने शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर जितनी निर्मलता प्रगट की है, उसे समकिती और श्रावक कहते हैं। ऐसे आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ७, शनिवार, दिनाङ्क ०९-०७-१९६६
गाथा ८० से ८२ प्रवचन नं. ३०

देखो! कहा है न इसमें? **'पंचह संजुत्तु'** यह... फिर अन्तिम है **'बे-पंचहं गुणसहिउ'** नीचे है। **भेददृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए उसे दश लक्षण धर्मरूप विचार करना चाहिए।** (दूसरे पैराग्राफ की पहली) लाइन है न? **'बे-पंचहं गुणसहिउ'** दश प्रकार के मुनि के धर्म है न? समिति आदि, उन दश प्रकार के धर्म से विचार करना वह व्यवहारनय है, भेददृष्टि है। निश्चय से तो मैं मात्र ज्ञायकस्वभाव हूँ। उसका ध्यान करना, वही निश्चय है। व्यवहार से **भेददृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए, उसे दश लक्षण धर्मरूप विचारना चाहिए।**

यह आत्मा क्रोध विकार के अभाव से पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुण का धारक है। कोई पृथ्वी खोदे, कोई टुकड़े करे तो पृथ्वी कुछ बोलती है? उसकी उपमा दी है, हाँ! शास्त्र में आता है। **पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुण का धारक है।** पृथ्वी को कोई खुदावे, काटे, तोड़े, छोड़े, टुकड़े करे तो पृथ्वी कहीं सामने क्रोध करती है? गहरे गड्डे (करे) विष्टा डाले, गड्डा करके अन्दर विष्टा डाले तो पृथ्वी कहती है कि ऐसा नहीं करो? ऐसे ही क्रोध विकार के अभाव से क्षमा गुणधारी भगवान आत्मा ऐसी क्षमा रखता है। क्षमा करता है। ज्ञाता-दृष्टा रहकर क्षमा (करता है), हाँ!

मान के अभाव से उत्तम मार्दव गुण का धारक है। आत्मा मार्दव-कोमल गुण का पिण्ड ही आत्मा है। मार्दव-निर्मानस्वरूप है – ऐसी दृष्टि करके निर्मानता प्रगट करना।

माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुण का धारक है। सरल, सरल। यह किसलिये लेना है? त्याग में ले जाना है इसलिए। यह त्याग, त्याग करते हैं न अभी? दशवें

त्याग धर्म। माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुणधारी – सरल। **असत्य ज्ञान के अभाव से उत्तम सत्य धर्म का धारक है।** वहाँ सत्यस्वरूप का धारक ही आत्मा है। **लोभ के अभाव से उत्तम शौच गुण धारक पवित्र है।** आत्मा अन्दर सन्तोषस्वरूप ही भगवान आत्मा है। उसकी दृष्टि करके स्थिर होना, वही आत्मा के कल्याण का मार्ग है।

असंयम के अभाव से स्वरूप में रमणतारूप उत्तम संयमगुणधारी है। लो, उत्तम संयमगुणधारी। दश प्रकार के धर्म की व्याख्या चलती है। **सर्व इच्छाओं का अभाव होने से आत्मा का एक शुद्ध वीतरागभाव से तपना...** देखो, सर्व इच्छाओं का अभाव होने से आत्मा का एक शुद्ध वीतरागभाव से तपना वह उत्तम तप गुण है। बाहर के तप तो व्यवहार है। अपनी वीतरागदशा में एकाकार होकर शुद्धता से तपना, शुद्धता का प्रतपन करना, उसका नाम उत्तम (तप) गुण है। **यह आत्मा परम तपस्वी है।** इस अपेक्षा से तो आत्मा परम तपस्वी त्रिकाल है। उसका ध्यान करना, उसे परम तपस्वी कहते हैं।

यहाँ अन्य लोग त्याग की बात करते हैं न? **यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणति...** निर्मलदशा। रागरहित शुद्ध पूर्ण स्वभाव में एकाग्र होकर शुद्ध पर्याय द्वारा **आत्मानन्द स्वयं को ही देता है...** लो, अपनी शुद्धपरिणति को अपनी दशा में स्वयं रखता है, वह ही **उत्तम त्यागधर्म है।** लो, यह त्यागधर्म की व्याख्या। अन्य लोग कहते हैं न त्याग? समझ में आया? दश प्रकार के त्यागधर्म में ऐसा कहते हैं यह त्याग। पुस्तक छोड़ना, किसी को ज्ञान देना – ऐसा देना, वह त्यागधर्म है, वह सब तो व्यवहार की बातें है, वह तो विकल्प उत्पन्न होता है न? यह पुस्तक दें, इसे ज्ञान होवे तो ठीक, ऐसा (विकल्प) निश्चय.... निश्चय –त्यागधर्म की व्याख्या यह है कि अपने शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु में एकाकार होकर शुद्ध दशा को प्रगट करना, इसमें अशुद्धता का त्याग (होता है), उसे त्यागधर्म कहा जाता है। आहाहा...! समझ में आया?

इस आत्मा के उत्तम आकिञ्चन्य गुण है। क्या (कहते हैं)? **इस आत्मा में अन्य परमात्माओं का, पुद्‌गलद्रव्य का धर्म, अधर्म, काल, आकाश का अभाव है,** यह आकिञ्चन्य गुण है। मेरे स्वरूप में कोई है ही नहीं। राग नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं, परद्रव्य नहीं – ऐसी अन्तर आत्मा में भावना करना, उसका नाम आकिञ्चन्य-भाव –

आकिञ्चन्य धर्म कहा जाता है। आत्मा अपरिग्रहवान है, त्रिकाल अपरिग्रहवान है। उस अपरिग्रहवान का ध्यान करना, अपरिग्रह की परिणति प्रगट करना, उसका नाम आकिञ्चन्य धर्म कहा जाता है। **परम असंग है**। यह आकिञ्चन्य की व्याख्या की।

यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्यगुण का धारक है। निरन्तर ब्रह्मभाव में मग्न रहता है। यह तो उत्तम ब्रह्मस्वरूप तो अनादि अनन्त है, उसमें लीन होना, वह उत्तम ब्रह्मचर्य है। कहो, समझ में आया? काया से ब्रह्मचर्य (पालन करे, वह) तो व्यवहार है। आत्मा ब्रह्मानन्द भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्दस्वरूप आत्मा ही है। उसमें एकाकार (होकर) आनन्द में रहने का नाम ब्रह्मचर्य कहा जाता है। **इस प्रकार दश लक्षण धर्म का विचार करना अथवा अपने आत्मा को दश गुणसहित विचार करना**। दूसरे दश लक्षण कहे हैं। क्या?

यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख – इन दस विशेष गुणों का धारक परमात्मस्वरूप है, यह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने पर भी आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है। यह पहला गुण – अनन्त ज्ञान की व्याख्या की, भाई! आत्मा अनन्त ज्ञानस्वरूप है – ऐसा भेद से विचार करना, हाँ! यह तो सब भेद से विचारते हैं; वस्तु तो अखण्ड है। अभेद में तो अकेला ज्ञायक चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि करके ध्यान में लीन हो जाना, वही अभेददृष्टि, वही ध्यान और वही मोक्ष का मार्ग है।

ऐसा विचारना कि **सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने पर भी...** आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, तथापि **आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है**। सर्व को जानने-देखनेवाला है, तथापि आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है। समझ में आया? कहते हैं न? सर्वज्ञ को व्यवहार हुआ न? व्यवहार हुआ न? ऐसा कहते हैं। व्यवहार तो पर की अपेक्षा से (कहते हैं) परन्तु सर्वज्ञपना और सर्वदर्शीपना अपना स्वभाव ही आत्मज्ञ और आत्मदर्शी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शीपना है। समझ में आया? ज्ञ – वही आत्मज्ञ है, आत्मज्ञ वही सर्वज्ञ है। ऐसा नहीं है कि सर्वज्ञ अर्थात् पर को जानना व्यवहार है, (इसलिए) व्यवहार झूठा है – ऐसा नहीं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी स्वभावधारी भगवान आत्मा है – ऐसा अन्तर में मनन करना, वह भी भेद है, पुण्य

का विकल्प है। अन्तरस्वरूप एकाकार की दृष्टि करके अनुभव करना, वह निश्चयधर्म है। समझ में आया?

वह ज्ञेय की अपेक्षा से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहलाता है। देखो, ज्ञेय की अपेक्षा से कहलाता है, बाकी अपने ज्ञान की अपेक्षा से तो आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है। **शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक होकर निरन्तर आत्मप्रतीति वर्तता है।** लो! शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक, त्रिकाल, हाँ! उसकी दृष्टि करके निरन्तर आत्मप्रतीति में वर्तता है। भगवान आत्मा निश्चय में, अन्तर स्वभाव में तो निरन्तर प्रतीति में वर्तमान ही आत्मा है, त्रिकाल। ऐसी दृष्टि की, तब त्रिकाल प्रतीति में वर्तमान है – ऐसा भान हुआ। श्रद्धा में लिया कि यह आत्मा पूर्णानन्द है तो जब प्रतीति में पूर्ण आत्मा आया तो वह आत्मा त्रिकाल प्रतीतमान ही वर्तमान है, त्रिकाल अपनी प्रतीति करने सहित ही आत्मा है – ऐसा प्रतीति में आया। समझ में आया?

सर्व कषायभावों के अभाव से परम वीतराग यथाख्यातचारित्र से विभूषित है। भगवान आत्मा सर्व पुण्य-पाप के विकल्प, कषाय से रहित वीतरागचारित्र है। जब अपनी पर्याय में भी वीतरागता प्रगट की तो आत्मा त्रिकाल वीतरागचारित्र सम्पन्न था – ऐसा अनुभव में आया। समझ में आया? **आपके आनन्द को आपको देता है, अनन्त दान करनेवाला है।** पर को दान कौन दे? वह तो जड़ की क्रिया है, वह तो होनेवाली होवे तो होती है। दान का विकल्प, शुभभाव आता है, वह पुण्य है। **आपके आनन्द को आपको देता है...** मैं आनन्दमूर्ति हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द हूँ – ऐसा अन्तर में एकाकार होकर अपनी पर्याय में-अवस्था में आनन्द का दान देना, वह अपने में दान दिया – ऐसा कहा जाता है। ओ...हो...! समझ में आया? **आपके आनन्द को आपको देता है...** आपके आनन्द को आपको देता है... आहा...हा...! ठीक लिखा है। आहार-पानी देना वह तो जड़ की क्रिया है, वह कहाँ आत्मा कर सकता है? उसमें शुभभाव होवे, वह पुण्य है।

मुमुक्षु : देना या नहीं देना?

उत्तर : कौन दे? देने में जो भाव आता है, वह शुभभाव है, शुभभाव है।

मुमुक्षु : पैसा होवे तो भी दूसरे को भूखा रखना?

उत्तर : कौन रखे ? रखे कौन और दे कौन ? समझ में आया ? एक रजकण भी उसके कारण से हिलता-चलता है तो वह रजकण आत्मा चलावे-दे, यह तीन काल में आत्मा में नहीं है। एक रजकण, परमाणु भी यहाँ आता है, जाता है, वह उसके कारण होता है। आत्मा एक रजकण को भी नहीं दे सकता, ले सकता है – (ऐसा अर्थात् लेना-देना) आत्मा में है ही नहीं। राजमलजी ! एक रजकण को भी नहीं कर सकता तो परमेश्वर कहाँ से हुआ ? रजकण का कुछ नहीं करता और परमात्मा हुआ ? अनन्त बल (धारक हुआ) ?

मुमुक्षु : साधारण मनुष्य बहुत करता है और भगवान कुछ नहीं करते ?

उत्तर : कौन करता है ? साधारण (मनुष्य) धूल भी नहीं करता। अज्ञानी राग करता है। राग और द्वेष करता है। दुनिया का व्यापार-धन्धा तीन काल में कभी वह नहीं करता। ऐसा होगा ? मलूकचन्दभाई ! दुकान की पैढ़ी पर बैठकर धन्धा करे वह तो सब पुद्गल की क्रिया है। कहो, समझ में आया ? 'अनुभवप्रकाश' में बहुत लिखा है। उसमें – 'आत्मावलोकन' में भी लिखा है। समझ में आया ? है न ?

मुमुक्षु : उसमें तो लिखा है, पुद्गल के हैं ?

उत्तर : हाँ, वह पुद्गल की बात है। वह सब पुद्गल का खेल है, उसे आत्मा कहाँ करे ? समझ में आया ? 'अनुभवप्रकाश' में पीछे है। खाना, पीना, हरना, फिरना सब जड़ की क्रिया है। अनुभवप्रकाश, 'दीपचन्दजी', 'दीपचन्दजी' साधर्मी हो गये हैं, दो सौ वर्ष पहले दिगम्बर में (हुए हैं)। बहुत सरस ! पहले तो दिगम्बर के गृहस्थ भी ऐसे थे, पण्डित भी बहुत आत्मार्थी थे। अनुभवप्रकाश यहाँ है, लो ! यहाँ है (पृष्ठ-६५)।

दश प्रकार का परिग्रह – क्षेत्र, बाग, नगर, कुँआ, बाबड़ी, तालाब, नदी, आदि... जितने पुद्गल कहते हैं। वे सब पर हैं, उन्हें आत्मा कुछ नहीं कर सकता। **माता-पिता, कलत्र, पुत्र-पुत्री, वधु-बन्धु, स्वजन आदि... सर्प, सिंह, व्याघ्र, गज, महिषा आदि सब दुष्ट, अक्षर, अनक्षर, शब्दादि, गाना-बजाना, स्नान, भोग, संयोग, वियोग की सब क्रिया, परिग्रह का मिलाप, वह बड़ा, परिग्रह का नाश वह दरिद्र इत्यादि समस्त क्रिया...** यह सब जड़ की क्रिया है। **चलना-बैठना, हिलना, बोलना, कंपना, इत्यादि समस्त क्रिया; लड़ना, बाँह भरना, चढ़ना**

-उतरना, कूदना, पढ़ना, खेलना, गाना, बजाना इत्यादि समस्त क्रियाएँ - यह सर्व पुद्गल का खेल जान।

मुमुक्षु : खाना नहीं आया?

उत्तर : आया न! क्या नहीं आया? खाना नहीं आया? यह आया देखो! **नर, नारक, तिर्यञ्च, देव, उनका वैभव, भोग-करण, विषयरूप इन्द्रियों की क्रिया आदि सर्व पुद्गल का नाटक है।** लो, पुद्गल का खेल है। यह हिले चले, वाणी निकले, व्यापार-धन्धा यह तो जड़ की क्रिया है। आत्मा उसे करे? दीपचन्दजी ने बनाया है। समझ में आया? **...आदि समस्त पुद्गल का अखाड़ा है।** यह सर्व इन्द्रियादि, क्रिया आदि पुद्गल नाटक है। **द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सर्व पुद्गल का अखाड़ा है। उसमें तू चिदानन्द रञ्जित होकर अपना जानता है। अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुण के अखाड़े में परिणति पात्र नाचते हैं, स्वरूपरस उपजाते हैं। जितने गुण हैं, उतने को वेदते हैं, सर्व भाव (-स्वरूप) सत्ता...** यह फिर दूसरा लिया है। यह सब पुद्गल के खेल हैं। यह पकाना-खाना, यह चूल्हा होना, अग्नि जलना, पानी छनना, यह सब जड़ की क्रिया, पुद्गल का नाटक है।

मुमुक्षु : किये बिना रोटियाँ होती हैं?

उत्तर : धूल भी नहीं करता। कौन करे? उसमें उसे राग-द्वेष होता है, बस! कुछ करता नहीं। कौन करे? (पृष्ठ-३५) **इस प्रकार देह जड़ है। उसके भोग को तू अपने रूप मानकर झूठ ही जड़ की क्रिया को किसलिए अपनी मानता है?** लो! **जैसे किसी को सर्प काटे (और) किसी दूसरे को जहर चढ़े तो अचरज मानते हैं। (वैसे ही) जड़ खाये, पहने, स्नान, तेल मर्दन आदि क्रिया करे (वहाँ) तू कहता है कि मैंने खाया, मैंने भोगा...** मैंने खाया, मैंने पिया, मैंने भोग किया, वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा...! ये माने, वे माने नहीं। यह बीमार, बीमार है, बीमार मिथ्यात्व से बीमार रोगी हो गया है, रोगी। देखो न! यह एक दीपचन्दजी जैसे गृहस्थाश्रम में (रहते थे), जिन्होंने 'अनुभवप्रकाश' बनाया, 'आत्मावलोकन' बनाया, 'चिदविलास' बनाया। महासाधर्मी, सम्यग्ज्ञानी साधर्मी हो गये हैं।

मुमुक्षु : उसे कोई सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर : है न! वह खेल आत्मा का नहीं है और अपने में राग होता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

मुमुक्षु : खाना-पीना या नहीं ?

उत्तर : कौन खाये, पीवे ? कहा न यह ? यह क्या आया ? यह जड़ खाये, पहने और स्नान, तेल मर्दन (करे), यह तो गुजराती है, गुजराती किया है न ? हिन्दी में है। अपने हिन्दी में है या नहीं ? यह तो हिन्दी का अनुवाद है।

मुमुक्षु : खाना या नहीं खाना ?

उत्तर : वही कहा यह। मैंने खाया, मैंने भोग किया, मैं पर का स्वामी था, पर स्वामी होता है। पर स्वामीपन ऐसा नहीं मानता और तू मूढ़ यह क्या मानता है ? (ऐसा) कहते हैं। लक्ष्मी पर की। कोई ऐसा भी नहीं मानता कि यह 'माणिकचौक' में जवाहरात है, वहाँ कोई निकले वह मानता होगा कि यह मेरी लक्ष्मी है ? यह ऐसा है। है ? 'माणिकचौक' में जवाहरात की दुकान होवे और लोग निकलें तो ऐसा मान लें, यह मेरे जवाहरात हैं ? ऐसे ही यह मूढ़ जहाँ निकला वहाँ (अपना मान लिया), पागल कहें, वैसे यह जहाँ निकले वहाँ लक्ष्मी दिखाई दी, स्त्री, पुत्र, परिवार (मेरे), यह तो परवस्तु है, तेरी कहाँ है ? मूढ़।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : वे कहें परन्तु भाषा ही कहाँ उनकी है। पुद्गल कहे, लड़का कहाँ कहता है ? वह तो पुद्गल की भाषा है। निहालभाई! यह अद्भुत नाटक! यह तो शास्त्र में सब बात है। पहले के दिगम्बर गृहस्थ हुए – बनारसीदास, टोडरमलजी, भागचन्दजी, द्यानतराय, दौलतराम, दीपचन्दजी, बड़े सम्यग्ज्ञानी उनकी सभी बातें सत्य हैं। इन दो सौ वर्षों में बहुत गड़बड़ हो गयी है। अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है, बहुत गड़बड़। यह बात नहीं मानते। मिथ्या है – ऐसा कहते हैं।

मैंने खाया, मैंने भोगा (ऐसा) पर का स्वामी हुआ। पर का स्वामी भी ऐसा तो नहीं मानता जैसे कि राजा, नौकर का स्वामी है (तथापि) उसके घराने से

(पाठान्तर - नौकर के भोजन से तृप्त होने से राजा यह नहीं कहता कि मैं तृप्त हुआ हूँ)। फिर तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायक है। ऐसा विपरीत मानता है, तुझे दु:ख होता है, देख! समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' 'चिद्विलास' 'आत्मावलोकन' बहुत सरस! शास्त्र प्रमाण अन्तर दृष्टि से बहुत सरस लिखा है परन्तु अभी तो पढ़ने की निवृत्ति नहीं और दूसरे पढ़े तो शास्त्र की ऊपर दृष्टि से किस नय का कथन है, उसका पता नहीं। (अभी अज्ञानी ऐसा कहते हैं), सोनी आभूषण बना सकता है और आभूषण का फल खा सकता है। धूल भी नहीं खा सकता, सुन न! दो जगह (बात) है। हमने तो पहले हिन्दी पढ़ा है न! हिन्दी भी व्याख्यान में पढ़ा है और गुजराती भी पढ़ा है।

मुमुक्षु : हिन्दी पर व्याख्यान हो गये हैं?

उत्तर : हाँ, हाँ!

देखो, क्या (कहते हैं) **अपना आनन्द अपने को देता है।...** कहो, समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' में ३९ पृष्ठ और ६५ पृष्ठ है। **आपके आनन्द को आपको देता है...** भगवान आत्मा, अपने में अतीन्द्रिय आनन्द है अन्दर स्वभाव है। उसकी अन्तर एकाग्रता करके अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट किया, वह स्वयं अपने को दिया। दूसरा कौन दे और कौन लेता है? कहो, समझ में आया? इसका नाम दान है। अनन्त दान करनेवाला है।

निरन्तर स्वआत्मानन्द का लाभ करना, वह ही अनन्त लाभ है। निरन्तर स्वआत्मा का आनन्द (वह लाभ है) यह पैसे मिले तो लाभ हुआ, साठ वर्ष में पुत्र हुआ तो... ओ...हो...! (करता है)। धूल भी नहीं, सुन न! अपने स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है। विकार से हटकर निर्विकार आनन्द में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ अवस्था-दशा में होवे उसका नाम अनन्त लाभ कहा जाता है। लो, मलूकचन्दभाई! यह पैसे का लाभ, लाभ नहीं है – ऐसा कहते हैं। सत्य बात है?

मुमुक्षु : यह तो अनुभवसिद्ध बात है?

उत्तर : क्या अनुभवसिद्ध है? लड़के कुछ देते नहीं, ऐसा? कौन किसे दे? दो लड़के बड़े, तीन करोड़ रुपयेवाले, लो! यहाँ इतने छोटे बंगले में-मकान में रहना, लो! खोला है, वहाँ ६५ पृष्ठ निकला, यह निकला देखो! पहले जो पढ़ा वह।

सो कहते हैं – दश प्रकार का परिग्रह – क्षेत्र, बाग, नगर, कूप, बावड़ी, तालाब, नदी आदि सब पुद्गल; माता-पिता, कलत्र, पुत्र-पुत्री, वधू-बन्धु, स्वजन आदि सर्व (कुटुम्बीजन); सर्प, सिंह, व्याघ्र, गज, महिष आदि सब दुष्ट; अक्षर, अनक्षर शब्दादि, गाना-बजाना, स्नान, भोग, संयोग-वियोग की सब क्रिया, परिग्रह का मिलाप सो बड़ा, परिग्रह का नाश तो दरिद्रादि सब क्रिया; चलना-बैठना, हिलना-बोलना, कंपना आदि क्रिया, लड़ना-भिड़ना, चढ़ना-उतरना, कूदना-नाचना, खेलना, गाना-बजाना आदि जितनी क्रियायें सब पुद्गल का खेल जानो। भाई! यह तुम्हारी हिन्दी में है। तख्तमलजी! यह तुम्हारी हिन्दी में लिया। आहाहा... ! पुद्गल का खेल / क्रिया है, तो यह मानता है कि मुझसे हुई। मूढ़ है, तेरी दृष्टि में ही अन्तर है। आहा...हा... !

नर, नारक, तिर्यञ्च, देव, उनका वैभव, भोगकरण, विषयरूप इन्द्रियों की क्रिया आदि सर्व पुद्गल का नाटक है। द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सर्व पुद्गल का अखाड़ा है, उसमें तू चिदानन्द रंजित होकर अपना जानता है। पर में अपनापन मानकर तू इस प्रकार दुःख प्राप्त कर रहा है कि जैसे मुर्दे को वस्त्राभूषण पहनाकर माने कि 'मैंने पहने हैं'। तू जीवन्त होने पर भी उनको झूठ ही अपना मान रहा है। मैंने पहना, यह तो जड़ की क्रिया है। समझे न ? **इस प्रकार शरीर जड़ है; उसके भोगों को तू अपने मानकर व्यर्थ ही किसलिए जड़ की क्रिया को अपनी मान रहा है ?** देह की क्रिया होती है तो कहता है कि मैंने भोग लिया। वह तो जड़ की क्रिया है, तूने कहाँ भोग लिया है ? कितना स्पष्ट किया है ! भोग सके, जड़ को भोग सके – ऐसा कहीं आया है ?

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं ?

उत्तर : क्या कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं ? तुम्हें पता नहीं है।

मुमुक्षु : तन्मय नहीं होता ?

उत्तर : तन्मय नहीं होता इसका अर्थ क्या हुआ ? उसरूप हुए बिना उसका भोग कहाँ से आया ? उसरूप हुए बिना उसका कर्ता कहाँ से हुआ ?

व्यर्थ ही किसलिए जड़ की क्रिया को अपनी मान रहा है ? जैसे सांप काटे किसी को और विष किसी दूसरे को चढ़े तो अचरज मानते हैं। (वैसे ही) जड़ खाये, पीये, स्नान, तेल मर्दनादि क्रिया करे, (वहाँ) तू कहे कि 'मैंने खाया, मैंने भोग लिया' (इस प्रकार) पर का स्वामी हुआ। सो पर का स्वामी भी ऐसा तो नहीं मानता। जैसे राजा दासों का स्वामी है। (तथापि) उनके तृप्त होने से (पाठान्तर - नौकर के भोजन से तृप्त होने से) राजा ऐसा नहीं कहता कि 'मैं तृप्त हुआ हूँ।' और तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायी है। आहा...हा...! कहो यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है। उनका चलना, हिलना क्रिया तो जड़ का खेल है, तेरा है ?

मुमुक्षु : दान तो देना या नहीं ?

उत्तर : कौन दान दे सकता है ? दान का भाव अपने में होता है। राग की मन्दता, पुण्य (होता है)। लक्ष्मी जाना, आना तो अपने अधिकार की बात है ? भाव होता है कि इतनी लक्ष्मी दान में खर्च करूँ, वह भाव शुभभाव है, वह पुण्य है परन्तु पुण्यभाव हुआ तो लक्ष्मी जाती है – ऐसा भी नहीं है और लक्ष्मी जाना है तो शुभभाव हुआ है – ऐसा भी नहीं है और शुभभाव हुआ तो धर्म हुआ है – ऐसा भी नहीं है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया ? 'अनुभवप्रकाश' है, भाई! देखा है कभी ? दीपचन्दजी का है। दीपचन्दजी साधर्मी, 'कासलीवाल' है बहुत सरस! और सादी भाषा। हिन्दी-प्रचलित भाषा में लिखा है। व्याख्यान हो गया है।

मुमुक्षु : दो दिन न खाये वहाँ जीव कमजोर पड़ जाता है ?

उत्तर : जीव कमजोर पड़ता है या शरीर ? दो दिन खाने को न मिले तो जीव कमजोर हो जाता है – ऐसा कहते हैं, सेठ! दो दिन न खाये तो शरीर कमजोर या आत्मा ? कौन कमजोर पड़ता है ? महामुनि तो छह-छह महीने के उपवास करते हैं और ऐसी तपस्या की लब्धि होती है कि शरीर ऐसा का ऐसा रहता है। छह-छह महीने के उपवास करें और शरीर ऐसा का ऐसा, सुन्दर... सुन्दर... सुन्दर... उसमें क्या है ? समझ में आया ?

यहाँ पर तो कहते हैं, **निरन्तर स्वात्मानन्द का लाभ करना, वही अनन्त लाभ है।** यह राग होना वह तेरा लाभ नहीं है, पुण्यभाव हुआ वह भी तेरा लाभ नहीं है। पर की

लक्ष्मी मिली, स्त्री मिली, कुटुम्ब मिला, उसमें तुझे क्या लाभ हुआ ? धूल में। आहा...हा... ! **स्वात्मानन्द का ही निरन्तर भोग है।** देखो, आत्मा आनन्दस्वरूप की दृष्टि करके आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम भोग है। जड़ का भोग, शरीर का भोग, वह अपना है ? **अपने आत्मा का ही बारम्बार उपभोग है।** देखो ! बारम्बार आनन्द का अनुभव करना वह उपभोग है। परवस्तु को कौन भोगता है ? एक बार भोगने में आवे, वह भोग और बारम्बार भोगने में आवे, वह उपभोग – ऐसा कहते हैं न ? परवस्तु को कौन (भोगे) ? वह तो विकल्प की बात करते हैं।

गुणों के भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता, वही अनन्त वीर्य है। अनन्त वीर्य आत्मा में है। अपनी शक्ति का एकाकार परिणमन करने से जिसका बल कम नहीं होता परन्तु बल की वृद्धि होती है। कहो, समझ में आया ? यह फिर तपस्या की बातें हैं, वे कुछ नहीं। कायक्लेश की बात है। निश्चय और व्यवहार प्रायश्चित कहा है। ठीक है।

अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा का ध्यान करना... अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा का ध्यान करना... **तो स्वानुभव की प्राप्ति होगी।** यह लाभ हुआ। **यही आत्मदर्शन है व यही सुख-शान्ति प्रदायक भाव है, वही आत्मसमाधि है, वही निश्चयरत्नत्रय की एकता है। मुमुक्षु जीव को निश्चिन्त होकर परमप्रेम से अपने आत्मा की ही आराधना करनी चाहिए।** यह 'वृहद् सामायिक' में कहा है। अब ८१ (गाथा) अब आँकड़े गये, पहले आँकड़े थे न ? दो, चार (ऐसे)।

☆ ★ ☆

आत्मरमण में तप-त्यागादि सब कुछ हैं

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि॥ ८१॥

आत्मा दर्शन ज्ञान है, आत्मा चारित्र जान।
आत्मा संयम शील तप, आत्मा प्रत्याख्यान॥

अन्वयार्थ - (अप्पा दंसणु णाणु मुणि) आत्मा को ही सम्यग्दर्शन और

सम्यग्ज्ञान जानो (**अप्पा चरणु विसाणि**) आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो (**अप्पा संजमु सील तउ**) आत्मा ही संयम है, शील है, तप है (**अप्पा पच्चक्खाणि**) आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है।

☆ ★ ☆

आत्मरमण में तप-त्यागादि सब कुछ हैं।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि॥ ८१॥

यह श्लोक तो अपने समयसार में, नियमसार में आता है। **आत्मा को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो...** सम्यग्दर्शन कोई देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि विकल्प, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। आहाहा! आत्मा को सम्यग्दर्शन (जानो)। भगवान आत्मा पूर्ण अनन्त शुद्धभाव से भरा हुआ आत्मा, उसमें अन्तर्मुख होकर दृष्टि – निर्विकल्प प्रतीति करना वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञानादि व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय (सम्यग्ज्ञान), आत्मा का ज्ञान। आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में ज्ञान करना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान आत्मा है।

आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो... आत्मा में निर्विकल्प चारा चरना, 'निर्विकल्प उपयोग में नहीं कर्म का चारा' – ऐसा आता है। 'यशोविजय'। समझे? भगवान आत्मा पुण्य-पाप के राग से हटकर अपने पूर्ण शुद्धस्वरूप में एकाकार होकर निर्मलता, वीतरागता की पर्याय प्रगट करना, वह चारित्र (और) वह आत्मा है। कहो, समझ में आया?

मुम्बई में से निकलना हलाहल होता होगा न? परन्तु उस नगरी में से निकलकर जाना है कहाँ? उसकी इसे खबर है? आत्मस्थिति देह की यहाँ पूरी हो जाये, कब होगी इसकी उसे खबर है? स्थिति तो पूरी हो जानेवाली है। एकदम अन्दर से निकलेगा, उसकी चिन्ता कर न! नगरी में वहाँ कहाँ पड़ा है? भगवान आत्मा देह छोड़कर चला जायेगा। कहाँ जायेगा?

भगवान आत्मा – मैं शुद्धस्वरूप परमानन्द हूँ – ऐसी प्रतीति करके स्वरूप में

लीन होना, उसका नाम सच्चा चारित्र है, वह आत्मा है। वह चारित्र है, नग्नपना चारित्र नहीं है; अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प है, वह चारित्र नहीं है। अट्ठाईस मूलगुण पालना, वह चारित्र नहीं है, वह तो राग है। व्यवहारचारित्र कहते हैं, कब ? यदि निश्चयचारित्र होवे तो; अपना शुद्ध स्वरूप चारित्रमय है, शान्त वीतरागस्वरूप है, उसमें दृष्टि लगाकर स्थिर होना, वह चारित्र आत्मा ही है क्योंकि आत्मा के साथ वह निर्मल पर्याय अभेद हुई, महाव्रत का रागादि उत्पन्न होता है, वह तो भेद हुआ। राग भेद पड़ता है, वह सच्चा चारित्र नहीं है।

आत्मा ही संयम है... लो, समझ में आया कुछ ? इसकी व्याख्या बाद में करेंगे, हाँ! आत्मा **शील है...** और आत्मा **तप है...** आत्मा तप है और **आत्मा ही प्रत्याख्यान अथवा त्याग है**। लो ! आत्मा ही प्रत्याख्यान, त्याग है। यह अपने यहाँ विस्तार से आ गया है।

आत्मा के स्वभाव में रमणता होने पर सभी मोक्ष के साधन निश्चयनय से प्राप्त हो जाते हैं। (भावार्थ की) पहली लाइन। भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध ध्रुव शाश्वत् वस्तु में रमणता होने पर अपने शुद्ध स्वभाव में लीनता, रमणता होते ही **सभी मोक्ष के साधन निश्चयनय से...** यथार्थरूप से **प्राप्त हो जाते हैं**। इसके सिवाय मोक्ष का साधन अन्य किसी से नहीं होता।

व्यवहारनय से देव-शास्त्र-गुरु और जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। विकल्प, शुभराग। व्यवहारनय से, हाँ! देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान, सात तत्त्वों का (श्रद्धान)। **निश्चय से उस आत्मा का ही निज गुण है। जहाँ श्रद्धा और रुचि सहित आत्मा में स्थिरता की जाती है...** देखा ? स्थिरता की जाती है – ऐसा लिया है, **वहाँ ही भाव निक्षेपरूप यथार्थ परिणमनशील सम्यग्दर्शन है**। है न, इतनी स्थिरता नहीं ? समझ में आया ? ठीक लिखा है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तो शुभरागरूप है। आत्मा अपना निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध स्वभाव से है। उसकी श्रद्धा, रुचि का होना और उसमें परिणमन निश्चय भावनिक्षेप से निर्मलानन्द का परिणमन होना, उसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन ही आत्मा है। आत्मा से वह निर्मलपर्याय भिन्न नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, वह तो निर्मलपर्याय से भिन्न विकल्प है, राग है।

व्यवहार में आगमज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है।... व्यवहार से शास्त्र का ज्ञान। **निश्चय से ज्ञान में अपनी आत्मा का शुद्ध स्वभाव का झलकना, वही सम्यग्ज्ञान है।** निश्चय – यथार्थ में अपने ज्ञान में अपने आत्मा का शुद्धस्वभाव झलकना, (वह सम्यग्ज्ञान है)। शुद्धस्वभाव का भान अन्दर ज्ञान में होना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहार में साधु या श्रावक के महाव्रत अथवा अणुव्रतरूप आचरण, वह व्यवहारचारित्र है। व्यवहारचारित्र, हाँ! **निश्चय से वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है।** निश्चय अपने शुद्धस्वरूप में रमणता करना – ऐसे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होना, वह चारित्र सच्चा है। साथ में पञ्च महाव्रत के विकल्पादि हों, वह व्यवहारचारित्र, उपचारचारित्र है। **व्यवहार में पाँच इन्द्रिय और मन का निरोध, वह इन्द्रिय संयम और पृथ्वीकायादि छह प्रकार से प्राणियों की रक्षा व प्राणी संयम है।** वह व्यवहार है, विकल्प है। **निश्चय से अपने ही शुद्धस्वभाव में अपने को संयमरूप रखना, बाहर कहीं भी राग-द्वेष न करना, वह आत्मा का धर्म, संयम है।** यहाँ तो आत्मा, आत्मा बात की है न!

व्यवहार से मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदित इन नौ प्रकार से काम विकार को मिटाकर शील पालना, वह ब्रह्मचर्य है। वह भी व्यवहार ब्रह्मचर्य, विकल्प है न! मन से, वाणी से, काया से ब्रह्मचर्य पाले, वह विकल्प, शुभराग है। **निश्चय से ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही चलना वह निश्चय ब्रह्मचर्य है।** निश्चय ब्रह्मचर्य तो अपना ब्रह्मानन्द भगवान... ब्रह्म अर्थात् आनन्द, उसमें चरना, लीन होना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। सभी अर्थों में अन्तर... व्यवहार और निश्चय के सभी अर्थों में बहुत अन्तर पड़ गया है। लोग तो (ऐसा कहते हैं) व्यवहार वही साधन है, वही साधन है। मक्खनलालजी! वह साधन – श्रावक, मुनि के व्रतादिक साधन हैं, उनसे मुक्ति का मार्ग है, उसे तो सोनगढ़ कहता है कि पुण्यबन्ध का कारण है। सोनगढ़ कहता है या भगवान कहते हैं। भगवान कहते हैं, परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव। वे क्या कहते हैं? देखो न यह! योगीन्द्रदेव मुनि (कहते हैं) कितने वर्ष हुए? हजार-बारह सौ वर्ष पहले (हुए हैं) समझ में आया?

योगीन्दुदेव महान नग्न-दिगम्बर मुनि वनवासी साधु कहते हैं कि पञ्चम काल में भी चारित्र तो दर्शन-ज्ञान उसे कहते हैं, अपने शुद्ध भगवान आत्मा की प्रतीति अनुभव और स्थिरता होवे, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। व्यवहार तो जाननेयोग्य है, वस्तु नहीं। यहाँ क्या कहते हैं ? '**अप्पा दंसणु णाणु मुणि, अप्पा चरणु बियाणि।**' आत्मा, आत्मा और आत्मा पुकार करते हैं। पता नहीं है उन्हें कि पञ्चम काल में ऐसे जीव पकेंगे ? मार्ग तो यह है। समझ में आया ? परमात्मप्रकाश में कैसा लिखा है ! आगे कहेंगे ! मैं अपने... पहले कहा है कि भव्यजीवों को सम्बोधन के लिये कहता हूँ, फिर (कहेंगे) मेरी भावना के लिये मैंने बनाया है। मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है, अन्त में कहेंगे। ठीक ! स्वयं कहते हैं मुझे तो यह घोलन चलता है, वह मैंने बनाया है। समझ में आया ?

व्यवहार से बारह प्रकार का तप... पालन करना। वह शुभविकल्प है, बाह्य व्यवहारतप। **निश्चय से आत्मा के शुद्धस्वरूप में तपना...** कहो, कुछ समझ में आया ? एक आत्मा... आत्मा... परन्तु आत्मा के अतिरिक्त दूसरा क्या होगा ? अनात्मा में धर्म होता है ? पुण्य-पाप के परिणाम तो अनात्मा हैं; देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो जड़ है, अजीव है, क्या उसमें धर्म होता है ? भगवान आत्मा... समझ में आया ? ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... 'निरखे ध्रुव का तारा।' भगवान शाश्वत् शुद्ध चैतन्य ध्रुव में लीन होना, वही आत्मा का तप कहलाता है। वह तप है, बाकी सब व्यवहार तप कहलाता है अथवा लंघन कहलाता है।

आत्मिकभाव में प्रकाश पाने के लिये यह तप सहायक है। यह इच्छा, शुद्धस्वरूप में रमना, हाँ! **तपस्वी को योगी को उचित है कि इन्द्रिय दमन व मन -वचन-काय की शुद्धि के लिये उपवास करता रहे।** यह तो व्यवहार की बात है। **मात्रा से कम भोजन लेना, जिससे ध्यान स्वाध्याय में प्रमाद न हो।** (फिर) बारह प्रकार के तप की व्याख्या की है। समझ में आया ? व्यवहार की (बात की है)। यह भी अर्थ किया है। बारह प्रकार के तप की व्याख्या की है।

अन्तरङ्ग में विभावों से, बाहर में शरीरादि परवस्तुओं से विशेष ममता का त्याग, वह ब्रह्मचर्य तप है। अन्तरङ्ग विकार, विभाव के विकल्प से, बाहर में शरीरादि

परवस्तुओं से विशेष ममता का त्याग करना, वह ब्रह्मचर्य तप है। तप के भेद हैं न, तप के? **धर्मध्यान का एकान्त में अभ्यास करना, वह ध्यान तप है। इन बारह प्रकार के तपों में वर्तते हुए अपने आत्मा को तपना सो ही निश्चय तप है।** लो, यह अनशनादि सब इसमें थोड़ा-थोड़ा ले लिया है। समझ में आया?

अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से व परभावों से भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्मा के शुद्धस्वरूप में रमण करके स्वानुभव में रहता है, तब ही वास्तव में रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है। तप ही यद्यपि संयम है, शील है, तप है, प्रत्याख्यान है, अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है। यह प्रत्येक का व्यवहार, निश्चय उतारा है। दृष्टान्त दिया है, देखो, समयसार का आधार (दिया है)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी ऐसा कहते हैं –

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥ २७७॥

कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं **निश्चय से मेरे ज्ञान में...** आत्मा है। विकल्प में आत्मा है – ऐसा नहीं। ज्ञान, ज्ञान – सम्यग्ज्ञान में मेरा आत्मा ही समीप है। मेरे सम्यग्ज्ञान में आत्मा ही समीप है। मेरे दर्शन में आत्मा ही समीप है। चारित्र में आत्मा ही समीप है और **जब मैं रत्नत्रय में रमण करता हूँ, तब आत्मा ही के पास पहुँचता हूँ।** समझ में आया? **त्यागभाव में रहना भी आत्मा में तिष्ठना है।** त्यागभाव में रहना भी आत्मा में तिष्ठना है। प्रत्याख्यान किया न, प्रत्याख्यान? **आस्रवभाव के निरोधरूप संवरभाव में अथवा एकाग्र योगाभ्यास में भी आत्मा ही सन्मुख रहता है।** लो, यह **आदा मे संवरे जोगे** अपने व्याख्या आ गयी है।

☆ ★ ☆

परभावों का त्याग ही संन्यास है

जो परयाणइ अप्प परू चयइ णिभंतु।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल णाणिं उत्तु॥ ८२॥

जो जाने निज आत्म को, पर त्यागे निर्भ्रान्त।
यही सत्य संन्यास है, भाषे श्री जिन नाथ॥

अन्वयार्थ – **(जो अप्परु परयाणइ)** जो आत्मा व पर को पहचान लेता है **(सो णिभंतु परु)** वह बिना किसी भ्रान्ति के पर को त्याग देता है **(तुहुँ सो सण्णासु मुणेहि)** तू उसे ही संन्यास या त्याग जान **(केवलणाणि उत्त)** ऐसा केवलज्ञानी ने कहा है।

☆ ★ ☆

८२, **परभावों का त्याग ही संन्यास है**। अब संन्यास आया, संन्यास!

जो परयाणइ अप्प परू चयइ णिभंतु।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल णणिं उत्तु॥ ८२॥

जो आत्मा (स्व और) **पर को पहचान लेता है... अप्प परु** अपने आनन्द शुद्धस्वरूप को जानता है, पर – पुण्य-पाप के विकल्प वे पर और शरीरादि पर दोनों को जो पहचान लेता है, **वह कुछ भी भ्रान्ति बिना पर को छोड़ देता है। परु चयइ** है न? अपने शुद्ध स्वभाव का ज्ञान करके और रागादि पर भिन्न है – ऐसा ज्ञान करके, रागादि को छोड़कर स्वरूप में रहता है, स्थिर रहता है, उसे यहाँ संन्यासी कहा गया है, त्यागी कहा गया है। संन्यासी आया, संन्यासी, जैन का संन्यासी।

मुमुक्षु : जैन में ही संन्यासी होता है, अन्यत्र कहाँ होता है?

समाधान : अन्यत्र कहाँ होता है? दूसरे में खोटा संन्यासी है। जैन सिवाय, जैन परमेश्वर सिवाय कोई सच्चा संन्यासी तीन काल में नहीं होता।

यहाँ कहते हैं, न नहीं। वस्त्र संन्यास नहीं, राग भी नहीं; राग का त्याग (वह संन्यास है) यह राग है, यह वीतरागस्वरूप है, आत्मा वीतरागस्वरूप है, यह राग है – ऐसा दोनों का ज्ञान करके यहाँ आत्मा में स्थिर होना और राग को छोड़ना, उसका नाम संन्यास है। लो, यह संन्यासी! ऐसा आधा कपड़ा पहनकर निकलते थे न पहले? यह मन्दिरवासी साधु पहनते हैं ऐसा, आधा पहनते थे। पहले ऐसा वेष बनाया था, संवत् १९९९ में।

उसे ही संन्यास अथवा त्याग जान। देखो, समझ में आया? **ऐसा केवलज्ञानी ने कहा है**। देखो, **केवल-णाणी उत्तु** है न! **केवल-णाणी उत्तु** सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि अपना आत्मा वीतरागस्वरूप आत्मा है और दया, दानादि विकल्प राग हैं – दो का ज्ञान करके राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम त्याग, संन्यास केवलज्ञानी कहते हैं। **अन्तरङ्ग में परभावों के ममत्व के त्याग को संन्यास कहते हैं।** संन्यास की व्याख्या।

मुमुक्षु : संन्यास आश्रम....

उत्तर : यह आश्रम है, बाहर का आश्रम कब था? गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, और संन्यास। ऐसे चार आश्रम हैं न? वे सब खोटे हैं। यह भगवान कहते हैं, वह आश्रम सच्चा है।

अन्तरङ्ग में परभावों का... पुण्य-पाप के विकल्प जो परभाव हैं, उनके ममत्व का त्याग, उसका नाम भगवान संन्यास कहते हैं। बाहर का त्याग नहीं। बाह्य पदार्थ तो कहाँ अन्दर में घुस गया है। शुभ और अशुभराग, पुण्य-पाप के भाव दोनों राग का त्याग, उसे भगवान संन्यास कहते हैं। **बाह्य परिग्रह का त्याग अन्तरङ्ग त्यागभाव का निमित्त (साधन है)**। निमित्त है। निमित्त साधन, व्यवहार कहा जाता है।

इस संन्यास का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि अविरति को हो जाता है। यह आया। बन्ध अधिकार में कहा है या नहीं? जयसेनाचार्यदेव कहते हैं, अन्तरङ्ग से तो चौथे गुणस्थानवाला अबन्ध परिणामी है। अबन्ध है, ऐसा कहा है – लिखा है। अपना निजशुद्धात्मा अनन्त-अनन्त एक-एक गुण की ताकत और ऐसे अनन्त गुण ताकत सम्पन्न प्रभु, उसका अन्तर में अनुभव – निर्विकल्प अनुभव में प्रतीति होना, (वह सम्यग्दर्शन है)। राग का तो उसमें – दृष्टि में त्याग ही है। जिस भाव से तीर्थङ्कर (नामकर्म) बँधता है, उस भाव का भी दृष्टि में तो त्याग है। सम्यग्दृष्टि को तो चौथे गुणस्थान से राग का तो त्याग है, स्वभाव का ग्रहण है। आहा...हा...!

अपना स्वभाव एक समय में राग से भिन्न पूर्णानन्द प्रभु है। यह राग का उदयभाव जो संसार है, उसका त्याग और अपने शुद्धस्वभाव का ग्रहण, उसमें लीनता (होना), उसे

भगवान संन्यास कहते हैं। वह चौथे गुणस्थान से अविरति सम्यग्दृष्टि को संन्यास का प्रारम्भ हो जाता है। समझ में आया? और जिसके घर में छयानवें हजार स्त्री, छियानवें हजार स्त्री, छियानवें करोड़ सैनिक और हीरे के सिंहासन, बड़े-बड़े गहने, मुकुट – एक-एक मुकुट के अरबों रुपये! अन्दर में इन सबका स्वामी नहीं है। पुद्गल का स्वामी नहीं है, शरीर का स्वामी नहीं है, वाणी का स्वामी नहीं है, राग का स्वामी नहीं है; अन्तर में शुभ-अशुभराग होता है, उसका भी स्वामी नहीं है, वह संन्यासी है – ऐसा दृष्टि अपेक्षा से है। दृष्टि की अपेक्षा से; स्थिरता की अपेक्षा से मुनि संन्यासी है। अव्रत के परिणाम का त्याग करके अन्दर में स्थिर हुए, उस स्थिरता की अपेक्षा से। समझ में आया? उस संन्यास का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि अविरति को हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि भलीभाँति जानता है कि मेरा स्वामीपना... देखो! आया, देखो... **मेरे आत्मा पर ही है।** सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में हो, अव्रतीभाव भी हो, तथापि ऐसा मानता है कि मेरा स्वामीपना मेरे एक आत्मा से है। स्वस्वामी सम्बन्ध (ऐसा) अपना गुण आत्मा में है। स्वस्वामी सम्बन्ध। स्व (अर्थात्) अपनी शुद्धता, उसका मैं स्वामी। चैतन्य सहजात्मस्वरूप का मैं स्वामी। दया, दान, व्रत का विकल्प उठता है, उसका भी मैं स्वामी नहीं हूँ। समझ में आया? शुभाशुभ परिणाम का स्वामित्व, वह मिथ्यादर्शन है। है? शुभाशुभ परिणाम बन्ध का ही कारण है। सम्यग्दृष्टि का हो या मिथ्यादृष्टि का हो, शुभाशुभ परिणाम बन्ध का ही कारण है। उनका स्वामीपना मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दृष्टि उनका स्वामी नहीं है, उसमें आया न?

मेरे आत्मा का अभेदरूप द्रव्यत्व मेरा द्रव्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कहते हैं। मेरा आत्मा एक स्वरूप से द्रव्य-वस्तु है, वह मेरा द्रव्य है। लक्ष्मी-वक्ष्मी वह मेरा द्रव्य नहीं है। **मेरे आत्मा का असंख्यात प्रदेश क्षेत्र मेरा क्षेत्र है।** यह शरीर का क्षेत्र और बाहर के मकान का क्षेत्र, राग का क्षेत्र मेरा नहीं है। **मेरे आत्मा के गुणों का समय-समय का परिणमन वह मेरा काल है...** तुम्हारे अभी काल बहुत अच्छा है, हाँ! पुत्र, पैसा वह मेरा काल नहीं है। मेरे आत्मगुण की वर्तमान परिणति-पर्याय, वह मेरा काल है। समझ में आया? **मेरे आत्मा के शुद्ध गुण मेरा भाव है।** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लिये हैं। आत्मा

में त्रिकाल शुद्धभाव, अनन्त शुद्धभाव है, वह मेरा भाव है। वर्तमान निर्मलदशा है, वह मेरा काल है। मेरा असंख्य प्रदेशी क्षेत्र, अभेद द्रव्यस्वरूप मैं द्रव्य-पदार्थ हूँ। आहा...हा...!

मैं सिद्ध समान शुद्ध निरंजन निर्विकार हूँ, मैं पूर्ण ज्ञान-दर्शनवान हूँ... ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने में मानता है। मैं अपूर्ण ज्ञानवाला हूँ – ऐसा नहीं तो फिर रागवाला हूँ और पैसावाला हूँ, यह तो सम्यग्दृष्टि मानता ही नहीं। धर्मी सम्यग्दृष्टि अपने को पूर्ण ज्ञान-दर्शनवान, पूर्ण आत्मवीर्य का धनी मानता है, सिद्ध समान निर्विकार शुद्ध मानता है। वह अपूर्ण पर्याय, रागादि, उसका बन्ध, उसका बाह्य संयोग, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं होता। इस अपेक्षा से उसे पर का संन्यास है। समझ में आया?

परम आनन्दमय अमृत का अगाध सागर हूँ। आहा...हा...! बड़ा समुद्र होता है न? दरिया, समुद्र। अगाध... अगाध... अगाध... नीचे मोती पड़े होते हैं परन्तु कहाँ (मिलें)? अगाध... ऐसे भगवान आत्मा अरूपी आनन्द सागर अगाध, आनन्द सागर अगाध, अमाप, अमाप, अमाप... अचिन्त्य, अकृत्रिम मेरा स्वभाव अगाध है। उस अमृत का अगाध सागर हूँ। **मैं परम कृतकृत्य हूँ।** लो, दृष्टि की अपेक्षा से समकिती परम कृतकृत्य हूँ और **जीवन्मुक्त हूँ।** आहा...हा...! चौथा गुणस्थान, यह सम्यग्दर्शन की बात चलती है। इस अपेक्षा से उसे पर का त्याग-संन्यास दृष्टि की अपेक्षा से कहा जाता है। उसे सच्चा संन्यासी कहते हैं।

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ७, रविवार, दिनाङ्क १०-०७-१९६६
गाथा ८२ से ८३ प्रवचन नं. ३१

परभावों का त्याग ही संन्यास है। त्याग, त्याग। आत्मा में परभावों का त्याग, उसका नाम संन्यास कहो या त्याग कहो या उनका स्वभाव में अभाव है (ऐसा कहो)। सर्व विकार, पुण्य-पाप का आत्मा में अभाव है। ऐसे आत्मा में दृष्टि होने से आत्मा में विकार का त्याग हुआ। कोई कहता है न कि चौथे गुणस्थान में (विकार का) त्याग नहीं है, सम्यग्दर्शन में त्याग नहीं है। (यहाँ पर) त्याग आया, देखो! **जो परयाणइ अप्प परु, सो परु चयइ णिभंतु** जो कोई आत्मा, अपने आत्मा का स्वरूप शुद्ध आनन्द है, पर का स्वरूप, विकार और पर अजीव आदि है – ऐसा दोनों का भेदज्ञान जानता है, वह पर को दृष्टि में से छोड़ता है। दृष्टि में से छोड़ता है – **परयाणइ**। वह आदर नहीं करता। धर्मी जीव, अपना शुद्धस्वरूप आनन्द है, उसका आदर करता है और विकार तथा संयोग का आदर नहीं करता। आदर नहीं करता इसका अर्थ, इसका संन्यास हुआ, दृष्टि में उसका त्याग हुआ। समझ में आया?

यहाँ यह आया, देखो! धर्मी जीव विचारता है। **मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओं के साथ है, न पुद्गल के किसी परमाणु या स्कन्ध के साथ है।** आत्मा है आत्मा, वह तो शुद्ध अरूपी आनन्दघन आत्मा है – ऐसे आत्मा की दृष्टि करनेवाला (विचार करता है कि) मेरा पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य आत्माओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, न पुद्गल के एक रजकण या स्कन्ध / पिण्ड के साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्यग्दर्शन के काल में (विचारता है) है तो तीनों काल (अभाव)। आत्मा में विकार और पर का त्रिकाल अभाव है परन्तु दृष्टि में आया, तब वर्तमान पर का त्याग दृष्टि में हो गया। कहो, समझ में आया? ठीक है? किसी की चीज लाते हैं, बाहर

से लाते हैं न? अपने पुत्र का विवाह होवे तो लाते हैं, घर में रखते हैं; क्या उसे अपनी पूँजी में गिनते हैं? घर में पुत्र का कोई विवाह आदि का प्रसङ्ग हो और (कोई चीज) लावे, पाँच हजार-दस हजार का गहना ले आवे तो उसे अपनी पूँजी में गिनते हैं?

मुमुक्षु : वह माँगकर लाये हैं?

उत्तर : यह (भी) माँगकर, मँगनी का है; आत्मा में है नहीं। आहा...हा...! गहना माँगकर मँगनी का (लाये हैं), आगन्तुक है विकार-अपनी पर्याय में पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे आगन्तुक हैं, मेहमान है, स्थायी चीज नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? माँगीलालजी! यह त्यागी...। आहा...हा...!

मुमुक्षु : किसके (त्यागी)?

उत्तर : राग के। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, मेरा पूर्णानन्दस्वभाव है – ऐसी धर्मी की दृष्टि हुई है। धर्मी की दृष्टि ऐसी होती है कि मैं तो शुद्ध ज्ञायक और आनन्द हूँ। मुझ में इस राग और परमाणु का कोई सम्बन्ध नहीं है और दूसरे आत्मा के साथ भी मुझे सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया?

न धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के साथ है। न तो मुझमें आठ कर्म हैं न शरीरादि है... अभी, हाँ! **न रागादि भाव है न मुझमें इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा है।** देखो! इन्द्रिय के सुख की अभिलाषा, सुखबुद्धि से होवे तो मिथ्यादृष्टि है। इन्द्रियाँ – पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि की अभिलाषा मिथ्यादृष्टि को होती है। ज्ञानी को किञ्चित् राग आता है परन्तु उसमें सुखबुद्धि नहीं, अभिलाषा नहीं, कि सुख है और उस सुख को मैं भोगूँ, धर्मी को ऐसा भाव (सुखबुद्धि नहीं है)। इन्द्रिय के विषयसुख में सुखबुद्धि का त्याग है। समझ में आया? लो! यह त्याग हुआ या नहीं? देखो!

न मुझमें इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा है न मैं इन्द्रिय सुख को सुख जानता हूँ। सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? अपने में आनन्द है, आत्मा में आनन्द है, वही मेरी चीज है। समझ में आया? यह आगे (गाथा-८५ में) आयेगा। 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण केवली बोले एम।' फिर आयेगा केवली भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि जहाँ चैतन्य, चैतन्य चैतन्य, ज्ञायक ज्ञायक भाव से आत्मा है, वहाँ सभी अनन्त गुण हैं।

राग में, शरीर में, कर्म में, पर में अपना कोई गुण और अपनी दशा पर में नहीं है। समझ में आया?

न मैं इन्द्रियसुख को सुख जानता हूँ। आहा...हा...! चक्रवर्ती राजा हो, छियानवें हजार स्त्री हों... समझ में आया? परन्तु पर में सुखबुद्धि नहीं है। उनमें सुख है – ऐसी बुद्धि नहीं है, तब सम्यग्दर्शन है। उनमें सुख है (ऐसा माने तो) उनमें सुख नहीं है और सुख बुद्धि मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! कहो, बल्लभदासभाई! दिखता है, विषय में-भोग में दिखता है परन्तु अन्तर में सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में आत्मा में अतीन्द्रिय सुख मुझमें ही है (– ऐसा है) उस दृष्टि में पुरुषार्थ की कितनी जागृति है! मुझ आत्मा में आनन्द है, इन्द्रियसुख को मैं सुख मानता ही नहीं, वह तो दुःख है, जहर है, उपसर्ग है। आहा...हा...! समझ में आया?

मैं अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को सच्चा ज्ञान और सुख जानता हूँ। देखो! सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा का अतीन्द्रियज्ञान है, उस अतीन्द्रिय ज्ञान को ज्ञान जानता है। शास्त्रज्ञान, लौकिक ज्ञान को सम्यग्दृष्टि धर्मी ज्ञान नहीं जानता। समझ में आया? **और न सुख जानता हूँ।** समझ में आया? अतीन्द्रियसुख को ही सच्चा ज्ञान और सुख जानता हूँ। आत्मा में मन से पार, राग से अतीत-भिन्न भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। सम्यग्दृष्टि धर्मी 'मुझमें आनन्द है – ऐसा मानता है।' आहा...हा...! (यह) भेदज्ञान है। इन्द्रियसुख को सुख नहीं जानता, अतीन्द्रियसुख को सुख (जानता है)। इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान नहीं (जानता), अतीन्द्रियज्ञान को ज्ञान (जानता है)। परवस्तु से पृथक्, मेरे ज्ञानस्वभाव से मैं अपृथक् / अभेद हूँ। समझ में आया?

इसीलिए मेरा धन मेरे पास है। लो! यह लक्ष्मी के पीछे दौड़ते हैं न? धर्मी अपना धन अपने में देखता है, उसके पास दौड़ता है। दौड़ता है, कहते है न? समझ में आया? गृहस्थाश्रम में हो, पुरुष हो, स्त्री हो, या आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि बालिका हो परन्तु अपने आत्मा में आनन्द है, उसे लेने के लिये अन्दर दौड़ते हैं। कदाचित् विवाह भी हो जाये, बड़ी होवे तो विवाह भी करे, (परन्तु जानती है कि) नहीं, उसमें आनन्द नहीं है। आनन्द लेने के लिए मैं विवाह नहीं करती; मुझमें ऐसा राग है, वह दूर नहीं होता; मेरी कमजोरी से वह

दु:ख आता है – ऐसे दु:ख से उसमें जुड़ान होता है। समझ में आया? **मेरा धन मेरे पास है।** देखो, मलूकचन्दभाई! उस लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं रही। मेरे आत्मा में अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द पड़ा है। (ऐसी) मेरी लक्ष्मी मेरे पास है।

सम्यग्दृष्टि इतना छोटा मेढ़क हो या हजार योजन का मच्छ हो.... स्वयंभूरमण समुद्र में सम्यग्दृष्टि होते हैं, हाँ! वे मानते हैं कि मेरी लक्ष्मी मेरे पास है। आहा...हा...! मेरा धन, पुण्य-पाप का भाव होता है, उसमें भी मेरा धन नहीं है और बाहर में पुण्य-पाप का फल बाहर में संयोग प्राप्त हो, उसमें भी मैं नहीं हूँ; मेरी लक्ष्मी उसमें है ही नहीं। ओ...हो...! समझ में आया?

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि त्यागी... देखो! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में होने पर भी **त्यागी, श्रद्धा और ज्ञान परिणति की अपेक्षा से परम संन्यासी है...** श्रद्धा, ज्ञान की परिणति की अपेक्षा से... देखो! पर्याय। अपना शुद्धस्वभाव, मैं आत्मा हूँ – ऐसी श्रद्धा और मैं ज्ञान हूँ – ऐसी पर्याय में परिणति, ऐसी अवस्था के कारण से आत्मा में पर का परम त्यागी है। आहा...हा...! उसे (अज्ञानी को) चुभता है कि नहीं... नहीं। अरे! सुन तो सही, प्रभु! जहाँ भ्रान्ति गयी और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, वहाँ पर का स्वामीपना गया। अपना सहजात्मस्वरूप का स्वामी रहा तो दृष्टि में पर का त्यागी हुआ। है? सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वामी। मैं तो सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वामी हूँ। रागादि मेरी चीज है, वह स्व और मैं उसका स्वामी (–ऐसा) नहीं है। सम्यग्दर्शन में रागादि का इतना त्याग दृष्टि में और ज्ञान की परिणति में आ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

बाहर का त्याग करके बाहर से साधु हो जाये परन्तु अन्तर में अपनी शुद्ध श्रद्धा, अपनी परमानन्द की मूर्ति की श्रद्धा नहीं है तो राग की दया-दान की क्रिया को अपनी मानता है। कहते हैं कि वह तो मूढ़ है। राग का आदर करता है तो राग का आंशिक भी त्याग नहीं है। समझ में आया? राग – दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उत्पन्न होता है, वह कषाय का मन्दपरिणाम अपने स्वरूप से बाहर है। उस बाह्य को अपना मानता है और उससे लाभ मानता है, उसे आंशिक भी राग का त्याग नहीं तो बाह्य पदार्थ का असद्भूत व्यवहारनय से त्याग कहने में आवे वैसा भी त्याग वहाँ नहीं है। समझ में आया?

जैसे कोई प्रवीण पुरुष... प्रवीण पुरुष। **अपने अन्दर होनेवाले रोगों को पहचानकर...** अपने शरीर में अन्दर रोगादि हों और ख्याल में आ जाये कि अन्दर में रोग है। यहाँ दुखता है या ऐसा होता है – ऐसा नहीं कहते? **रोगों को पहचानकर...** कितने ही (रोगों को) डॉक्टर खोज नहीं कर सके परन्तु रोगी तो जानता है या नहीं कि मुझे रोग है, अन्दर में दुःख है। मैं भी कुछ पकड़ नहीं सकता परन्तु अन्दर दुःख होता है, अन्दर में गहरे... गहरे... गहरे... दुःख होता है। ऐसे **रोगों को पहचानकर और उनसे अपना अहित होता जानकर उन रोगों के प्रति सम्पूर्ण उदासीन हो जाता है...** रोगों से उदासीन हो जाता है या रोग का आदर करता है ? है ?

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विशिष्ट कर्मों के संयोग से होनेवाले रागादिभाव और शरीरादि रोगों को रोग और आत्मा के लिए हानिकारक जानकर... देखो! मिथ्यादृष्टि राग से लाभ मानते हैं और शरीरादि बाह्य साधन को अपने में साधन मानते हैं। सम्यग्दृष्टि, अपने में राग होता है, उसे दुःख / रोग जानता है और रोग के त्याग का उपाय करता है। रोग रखने का उपाय नहीं करता। रहने दो, रोग रहने दो ऐसा करता है ?

मुमुक्षु : शरीर के लिए क्या मानता है ?

उत्तर : शरीर के लिए जड़, अपने से भिन्न लकड़ी है – ऐसा मानता है। पहले आ गया है कि मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। **न पुद्गल के किसी परमाणु या स्कन्ध के साथ (सम्बन्ध) है।** लकड़ी, लकड़ी। जैसे लकड़ी है, वैसे शरीर है। मेरे आत्मा की चीज में उसका कोई स्पर्श नहीं है। आहा...हा...! अज्ञानी को शरीर में जरा (कुछ होवे तो ऐसा मानता है कि) अरे...! मुझे हुआ, मुझमें हुआ। मुझे हुआ और मुझमें हुआ (ऐसा मानता है)। तुझमें कहाँ होता है ? वह तो जड़ में है। समझ में आया ? यह तो **परभावों का त्याग ही संन्यास...** है, यह (बात) चलता है न ? **परभावों का त्याग ही संन्यास...** है। पहले यह स्पष्ट किया।

जैसे अज्ञानी रोग को रोग जानकर रोग का त्याग करने का उपाय करता है, वैसे ही धर्मी निरोग आत्मा... 'आरोग्य वोहि लाभं' ऐसा आता है, 'लोगस्स' में आता है – 'आरोग्य वोहि लाभं' मेरा आरोग्यपना बोधिलाभ है। मैं शुद्ध चैतन्य रागरहित

शरीररहित हूँ। ऐसी अपनी स्वरूप की रुचि – दृष्टि होवे, उसका नाम 'आरोग्य वोहि लाभं' है। निरोगता–बोधि का लाभ होना, उसका नाम आरोग्यता का लाभ है और राग मेरा, शरीर मेरा है, उससे मुझे लाभ होता है (–ऐसा जो मानता है उसे) बड़ी भ्रान्ति का, सन्निपात का रोग लागू पड़ा है।

मुमुक्षु : त्याग का माहात्म्य है?

उत्तर : त्याग का तो माहात्म्य कहते हैं। यह क्या कहते हैं? यह बात तो करते हैं। क्या कहा? अन्दर में रोग होवे तो अज्ञानी रोग को जानता है या नहीं? रोग को छोड़ने का उपाय करता है या नहीं? ऐसे अन्दर में रोग है, वह मेरा है और मैं उसका हूँ। इस प्रकार अन्दर में रोग है वह मेरा है और मैं उसका हूँ – ऐसे रोग को छोड़ने का उपाय करे या उसे रखने का उपाय करे? छोड़ने का। राग को छोड़ने का इलाज करे, रखने का इलाज नहीं करे, समझ में आया?

उसके प्रति पूर्ण वैरागी हो जाता है... लो! आहा...हा...! शरीर में रोग के ढेर हों तो प्रसन्न होता है? शरीर में सोलह रोग, लो! सोलह रोग। समझ में आया? नारकी को सोलह रोग एक साथ (होते हैं)। सम्यग्दर्शन है तो जानता है कि मुझे रोग ही नहीं हैं, इस शरीर में है मुझमें नहीं। अज्ञानी जानता है कि रोग मुझे हुआ, मुझमें हुआ। अज्ञानी होवे तो भी रोग रखने का उपाय करता है? समझ में आया? ऐसे ही धर्मी में पुण्य-पाप का भाव होता है, वह रोग है, फुंसी है, फुंसी। आहा...हा...! समझ में आया? उसे (पुण्य को) तो ऐसा गले पकड़ा है, पुण्य का भाव, हाँ! गले पकड़ा है। पुण्य कहाँ था तेरे? सुन न! ओहो...हो...! पवित्रता, भगवान आत्मा अकेला पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसकी दृष्टि का (जिसे) अभाव है, उसे पुण्य-पाप का आदर करने का भाव है, ज्ञानी को नहीं। समझ में आया?

रागादिभाव और शरीरादि रोगों को रोग और आत्मा के लिए हानिकारक जानकर उनके प्रति पूर्ण वैरागी हो जाता है। उनकी साज सम्हाल करूँ तो मुझे ठीक (होगा), ऐसा नहीं मानता। विकल्प आता है परन्तु वह विकल्प भी निरर्थक है। मेरे शरीर की व्यवस्था उस विकल्प से होती है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? **अब**

रोग मिटाने का उद्यम करना ही रोगी के लिए बाकी रहता है। जिसे रोग जाना उसका निवारण करने की भावना (बाकी) रही।

इसलिए प्रवीण रोगी बहुत भावपूर्वक प्रवीण वैद्य द्वारा बतलाई गयी... देखो! दोनों लिए हैं – एक तो प्रवीण रोगी, उसे पता है कि यह रोग है। भानरहित मूढ़ होवे उसे पता भी नहीं होता कि यह रोग है या नहीं? प्रवीण रोगी और **बहुत भावपूर्वक प्रवीण वैद्य द्वारा...** ज्ञानी द्वारा **बतलाई गयी औषधि...** जो यह तेरी चीज में रागादि-पुण्यादि होते हैं, वह तुझे रोग है। समझ में आया? **औषधि का सेवन करके धीरे-धीरे निरोगी हो जाता है।**

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीय के विकारों को दूर करने के लिए... चारित्रमोह के निमित्त से राग का रोग होता है। राग का रोग, शुभराग का रोग, अशुभराग का रोग। आहा...हा...! धर्मी की दृष्टि कहाँ है और कहाँ से उठ गयी है! (वह बताते हैं)। विकार से दृष्टि उठ गयी है। मेरे चैतन्य में विकार है ही नहीं। विकार को रोग जानकर उसे छोड़ने का, मिटाने का उपाय करता है या रखने का (करता है)? यह (अज्ञानी) तो कहता है शुभराग रखो, शुभराग से धर्म होगा। यहाँ तो कहते हैं, शुभराग आता है (तो उसे) रोग के समान जानकर धर्मी उसे छोड़ने का उपाय करता है। कहो, यह तो सादी बात है। समझ में आता है या नहीं? भाई! सरल बात है।

शरीर में रोग होवे तो रोग रखने की इच्छा है? दवा की बोतलें भर के रखो, दवा भर के रखो, भाई! बहुत दवा रखो, अपने को रोग रखना है और रोग ऊपर की दवा भी रखो। अरे...! चल... चल...! भाईसाहब! रोग आज ही मिट जाए तो दवा-फवा कौन करे? वह तो रोग जानता है।

इसी प्रकार धर्मी, धर्म उसे कहते हैं कि अपनी आत्मा में धर्मी ने अतीन्द्रिय आनन्द माना है और राग-पुण्य, दया-दान-व्रत का भाव आता है, उसे धर्मी रोग जानता है। आहा...हा...! अरे...! भगवान... और राग को मिटाने का उपाय करता है तथा मिटाने का उपाय भी (यह है कि) अपने स्वरूप में एकाग्रता करना, वह मिटाने का उपाय है। समझ में आया? दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुमुक्षु : इसका नाम त्याग, बाहर का...

उत्तर : फिर स्थिरता होती है तो क्रम-क्रम से राग घट जाता है, उतना निमित्त का संयोग छूट जाता है, बस! यह त्याग हुआ। बाहर का त्याग क्या? बाहर की वस्तु क्या (अन्दर) घुस गयी है तो त्याग करना है? राग-द्वेष का विकार अपनी पर्याय में है, उसे अपना मानता है, उसे छोड़ दे। अपना (स्वरूप) आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य है, उसकी दृष्टि कर तो दृष्टि और ज्ञान की परिणति में राग का त्याग हो जाएगा। पश्चात् जितनी स्वरूप में स्थिरता होगी, उतना राग / अस्थिरता मिट जायेगी, उतना संयोग निमित्त से तेरा लक्ष्य छूट जाएगा। जहाँ करना है वहाँ कर न, जहाँ नहीं करना वहाँ करने जाता है। छोड़ो बाहर की चीज। अन्य कहते हैं, बाहर की चीज छूटे तो राग छूटता है – ऐसा कहते हैं। लो!

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

उत्तर : आता है, उसका अर्थ क्या? पर का लक्ष्य छोड़ दे, दूसरा क्या है? यहाँ आत्मा में लक्ष्य कर। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पड़ा है। चैतन्यमूर्ति, अतीन्द्रिय आनन्द निकाल (प्रगट कर), अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... निकालेगा तो भी वहाँ कमी नहीं होगी। आहा...हा...! इतने अतीन्द्रिय आनन्द की खान आत्मा है।

जैसे यह ज्ञान, ज्ञानमय है। यह आत्मा जैसे ज्ञान, ज्ञानमय है, वैसे वह अतीन्द्रिय आनन्दमय है। पुण्य-पाप रागमय आत्मा है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? प्रवीणभाई! देखो, यहाँ प्रवीण रोगी और प्रवीण (वैद्य) दोनों लिए हैं। दोनों (प्रवीण होने) चाहिए। उस रोगी को भान होना चाहिए कि कौन-सा रोग है? कुछ का कुछ बतावे तो वह सारे रोग कहाँ पकड़ सकेगा? बहुत जाँच करावे कि हमें यहाँ दु:खता है। यह बेन नहीं? जगजीवनभाई की पुत्री ने बहुतों को बताया परन्तु कोई पकड़ नहीं सका और अन्दर रोग है, मुझे बहुत दु:ख होता है... कहाँ गये जगजीवनभाई? उनकी पुत्री परसों कैरोसीन छिड़क कर जली। किसी ने परखा नहीं कि रोग क्या है?... लगा दी। जैसे लगाई ऐसे फट...फट भगवान... भगवान...। दूसरी कोई बात नहीं। अरिहन्त... अरिहन्त... अरिहन्त... णमो अरिहन्ताणं... जली, जलकर यहाँ शरीर सुलगता है, भबका... भबका इस प्रकार के भाव आये। हो गया... फिर विचार बदले। यह तो परिणामों की विचित्रता है। रोग नहीं

पकड़ सके, लो ! मुम्बई बताया, दूसरी जगह बताया, अनुमान करते हैं, यह सब डॉक्टर अनुमान करते हैं। प्रयोग करते हैं, करते-करते एक दो का ख्याल में (आवे तो) दूसरों को भी लगा देते हैं, तुम्हारे भी ऐसा लगता है।

मुमुक्षु : खून की जाँच करते हैं।

उत्तर : खून की जाँच करे तो भी कितना अन्तर पड़ेगा ? यह कहते हैं, खून की जाँच करते हैं। यह जाँच न, यह कहते हैं। तेरे आत्मा में तेरा खून-कितनी ताकत है। तुझमें अनन्त बल है, समझ में आया ? आहा...हा... ! पेशाब की जाँच करते हैं, पेशाब की क्या जाँच करते हैं ? पेशाब राग है। समझ में आया ? जाँचे कि राग विकार दुःखरूप है, चाहे तो शुभ हो या चाहे तो अशुभ हो; दोनों राग रोग है। ऐसे सम्यग्दृष्टि को अपनी नाड़ी पकड़कर निरोगता कैसे करना, इसका उसे पता पड़ता है। समझ में आया ?

विकार दूर करने के लिए पूर्णरूप से कटिबद्ध हो जाता है, उसने श्रीगुरु परम वैद्य से यह भी जाना है कि भावकर्म का रोग मिटाने के लिए सत्ता में रहे हुए कर्मों का नाश करने के लिए... ऐसे दोनों लिए – पुण्य-पाप का भाव और जड़कर्म। **नवीन रोग के कारण से बचने के लिए शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषध है।** 'श्रीमद्' ने कहा है न ? 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान; गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान' – विचार और ध्यान औषध है। आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान; गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान। भगवान आत्मा पूर्णानन्द अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का रसकन्द प्रभु, उसमें रागादि विकल्प मेरे हैं – ऐसी भ्रान्ति-मिथ्याभ्रान्ति जैसा जगत् में दूसरा कोई बड़ा रोग नहीं है, बड़ा रोग है। गुरु उसके वैद्य-सुजान वैद्य है। भाई ! यह तेरा रोग है। कहा न ? राग तेरा रोग है। तू लाभदायक मानता है, वह तेरी खोटी बुद्धि है। हमारे प्रति भी तू राग करता है, वह राग रोग है – ऐसा कहते हैं। ओहो...हो... ! समझ में आया ?

भावकर्म का रोग मिटाने के लिए और सत्ता में रहे हुए कर्म... अर्थात् निमित्तरूप... **नवीन रोग के कारण से बचने के लिए शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषध है।**

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय शान्तरस के चैतन्य रत्नाकर पर दृष्टि करके अन्दर आत्मा का अनुभव करना, वह ही एक रोग मिटाने का उपाय है। समझ में आया? कोई क्रियाकाण्ड करना, वह रोग (मिटाने का उपाय नहीं है)। क्रियाकाण्ड का राग है, वह स्वयं ही रोग है। आहा...हा...! समझ में आया? **शुद्धात्मानुभव ही एक....** देखा? शुद्धात्मा है न? विकार तो अशुद्ध है।

यह सम्यग्दृष्टि समय निकाल कर स्वानुभव करता रहता है। देखो! धर्मी जीव चाहे जितने व्यापार धन्धे में पड़ा हो, उसमें से समय निकालकर अपनी आत्मा को स्पर्श कर लेता है। आहा...हा...! समझ में आया? समय निकालकर अपने आत्मा में अन्दर नजर करके अनुभव कर लेता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : आज कल तो समय निकालने का समय ही नहीं मिलता।

उत्तर : सदा समय ही है। क्या समय ले? सदा समय ही है। समय निकाले नहीं तो उसमें क्या करना? आत्मा निवृत्त ही है, राग से और पर से सदा निवृत्त ही है और निवृत्त है, उसे प्रवृत्तिवाला मानना वही दृष्टि में भ्रम है। आहा...हा...! कहो, कुछ समझ में आया?

कषाय के अनुभाग को सूखाते रहते हैं... वह तो सूख जाता है, ठीक। स्थिरता करते-करते इतना आनन्द आ जाता है कि **आत्मरस में मानो कि उन्मत्त हो जाए, तब बाह्य सकल त्याग करके संन्यासी अथवा निर्ग्रन्थ हो जाता है।** लो! अन्तर आनन्द में, धर्मी जीव गृहस्थदशा में हो तो भी राग, विकल्प, बाह्य संयोग आदि का स्वामीपना नहीं है, इस अपेक्षा से उनका त्यागी ही है परन्तु अभी अस्थिरता का राग है तो उसे रोग जानता है; अत: समय निकालकर राग से रहित अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसका अन्तर में स्पर्श करके वेदन कर देता है। आत्मा का स्पर्श करके अनुभव कर लेता है। इतनी संवर और निर्जरा, शुद्धि की वृद्धि होती है। समझ में आया? जितनी शुद्धि कायम है, उतना संवर-निर्जरा तो है ही परन्तु अन्तर का अनुभव करे तो विशेष शुद्धि होती है और विशेष आनन्द आते-आते बाह्य की आशक्ति में कुछ नहीं रुचता, धन्धे-पानी में कहीं वृत्ति को

नहीं रुचता (इसलिए) अन्तर का आनन्द लेने के लिए बाहर का त्यागी हो जाता है। अन्दर का विशेष आनन्द लेने के लिए बाहर का त्यागी हो जाता है। कहीं नहीं रुचता, कहीं नहीं रुचता। रुचता नहीं अर्थात् श्रद्धा की बात नहीं, अस्थिरता में (नहीं रुचता), कहीं चैन नहीं पड़ता। व्यापार में, धन्धे में, पुत्र में, स्त्री सबके बीच बैठा हो परन्तु कहीं चैन नहीं पड़ता। तब उसे ऐसा होता है कि मैं तो आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए सबसे अलग हो जाता हूँ – इसका नाम मुनिपना कहा जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? है न ?

आत्मतत्त्व का स्वाद लिया करे और बाहर जाने का कोई प्रपञ्च रुचे नहीं... बाहर जाने का अर्थात् बाहर व्यापार-धन्धे में। **आत्मरस में मानो कि उन्मत्त हो जाए तब सकल बाह्य त्याग करके संन्यासी अथवा निर्ग्रन्थ...** दिगम्बर मुनि। आहा...हा... ! जहाँ बैठे वहाँ वन, जहाँ जाए वहाँ जङ्गल। आहा...हा... ! तुम कैसे हो.... और यह सब विकल्प छूट गये। समझ में आया ? अपने आत्मा का अनुभव करने में प्रयत्न उग्र हो गया, वहाँ वह बाहर का त्याग सहज हो जाता है। (अज्ञानी को) अन्तर का अनुभव और दृष्टि का भान नहीं है और बाहर का त्याग करता है, वह त्याग ही नहीं है। समझ में आया ? कहीं नहीं रुचता। समझ में आया ?

हड़किया (पागल) कुत्ता काटा हो न ? हड़किया समझे ? क्या कहते हैं ? पागल कुत्ता। पागल कुत्ता काटे फिर कहीं नहीं रुचता। नहीं पानी, नहीं हवा, नहीं भोजन। हवा नहीं रुचती, हाँ! एक ब्राह्मण की लड़की थी, उसे सौंप गये थे, फिर अन्तिम बारह वर्ष तक जलांतक रोग। काका ! मुझे कहीं (चैन नहीं पड़ता) । फिर अन्तिम अड़तालीस घण्टे पानी नहीं, आहार नहीं, पवन नहीं, कुछ नहीं रुचता। अन्दर में हड़क लगा, नजदीक नहीं आने दे। एक बाई को तो मैंने देखा है, वृद्ध थी, वृद्ध (वह कहे), मुझे दर्शन करना है, दूर खड़ी रही (फिर कहे) मुझे अन्दर से हड़क आवे तो ऐसा काट खाने का मन हो जाता है 'राणपुर'। वह लड़की तो बेचारी छोटी थी, अड़तालीस घण्टे न रुचे पवन, न रुचे पानी। पानी नजर में नहीं पड़ना चाहिए, पानी पड़े तो पीड़ा (होती है) । पानी नजर पड़े और पीड़ा हो। पागल होता है न, पागल कुत्ता, ऐसे कहीं रुची नहीं जमती।

इसी प्रकार धर्मी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की ऐसी लगन लगी होती है कि कहीं नहीं रुचता, कहीं मन नहीं ठहरता। समझ में आया? व्यापार, धन्धा, बोलना, चलना, प्रतिष्ठा, कीर्ति कहीं मन नहीं ठहरता। अपने आनन्द की रुचि में तल्लीन होने के कारण बाहर का त्याग करके विशेष अनुभव करता है, उसका नाम निर्ग्रन्थदशा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

वह लड़की बेचारी कहती थी, काका! मुझे कहीं (चैन नहीं पड़ता)। पंखा चलाए (तो भी नहीं रुचता) अन्दर पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा...। एक गाय को हमने देखा था, यहाँ एक गाय थी। 'हीराभाई' के मकान में से (देखी थी), बड़ी गाय, हड़कने लगी। दो दिन ऐसे चक्कर लगाये, दो दिन तक पानी नहीं, आहार नहीं, रुचे नहीं; शरीर बड़ा लट्ठ, वह अन्त में नीचे गिरी तड़फी... तड़फी... तड़फी... कौवे माँस खायें फफोले चार-छह घण्टे ऐसे रही, तड़फी... तड़फी... तड़फी...। वहाँ एक सिपाही निकला कहा देखो, कुछ है या नहीं? क्या है यह? कोई कर्म, कोई पाप, उसका फल ऐसा कुछ है या नहीं? उसमें आत्मा है, देखो न! अन्दर आत्मा है, वह अभी इस शरीर की स्थिति से तड़फता है। गाय का शरीर बड़ा लट्ठ जैसा, उसमें पागल हो गयी। पछाड़े, पैर पछाड़े, पूंछ पछाड़े, पैर पछाड़े, अन्दर रहा न जाए। अड़तालीस घण्टे (के बाद मर गयी)।

इसी प्रकार धर्मी को बाहर कहीं चैन नहीं पड़ता। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्रीति और रुचि हो गयी, तब से राग का त्याग है, परन्तु राग को रोग जानकर त्याग करने का अभिलाषी है, छोड़ने का अभिलाषी। आहा...हा...! अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद, अतीन्द्रिय अमृत का उग्र स्वाद लेने की अभिलाषा क्यों न होगी? कहते हैं कि सब छूट जाता है।

श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो अवृत्त सम्यक्त्व के चौथे गुणस्थान में ही वह संन्यासी हो गया है... लो! समझ में आया? **अब छठवें-सातवें गुणस्थान में रहकर चारित्र की अपेक्षा से भी संन्यासी हो गया है...** लो! दो प्रकार के संन्यासी कहे। समझ में आया? आहा...हा...! मेरे आत्मा के अतिरिक्त मुझे कोई पदार्थ नहीं रुचता। समकिती को शुभभाव भी नहीं रुचता, आहा...हा...! शुभभाव रुचे तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ है।

(वह) अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनादर करता है। समझ में आया? धर्मी ऐसी चीज है, उसका फल भी महा अमृत फल है। अमर फल! अमर फल 'पिंगला' को नहीं था? वह तो खोटा अमर फल था। आता है न! 'पिंगला' को? किसी ने राजा को दिया, राजा ने 'पिंगला' को दिया, 'पिंगला' ने अश्वपाल को दिया, अश्वपाल ने किसी बाई को (दिया), उस बाई के पास से वापस राजा के पास आया। (राजा को लगा), अरे... ! यह फल कहाँ से (आया)? अरे... ! यह फल (तेरे पास) कहाँ से (आया)? बाई कहने लगी, अन्नदाता! एक अश्वपाल है वह मेरे पास आता है, उसने मुझे दिया है। अश्वपाल के पास कहाँ से आया? बुलाओ अश्वपाल को! कहाँ से (आया) यह फल? (अश्वपाल कहता है) महाराज! यह 'पिंगला' रानी के पास से आया है। अरे... ! पिंगला! यह क्या? 'देखा नहीं कुछ सार जगत में, देखा नहीं कुछ सार, प्यारी मेरी पिंगला नारी, देखा नहीं कुछ सार...' छोड़कर चला गया। आहा...हा... ! वानवे लाख मालव का अधिपति चल निकला, यह संसार! गुप्त रीति से मेरा यह फल वैश्या को किसी ने दिया होगा, तो लगा कि अन्नदाता को दो। वैश्या, अश्वपाल के साथ चलती होगी, अश्वपाल को पिंगला ने दिया, ऐसे चलते-चलते (चला)। आहा...हा... ! ऐसे सम्यग्दृष्टि को अन्तर में से पूरी बात उड़ जाती है। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि को अन्तर में ही वैराग्य है। ज्ञान, वैराग्य शक्ति आती है न? भाई! 'निर्जरा अधिकार' में नहीं आता? ज्ञान, वैराग्य चौथे गुणस्थान से है। अन्य लोग कहते हैं नहीं, वह तो सातवें में होता है। सुन न, भगवान! अरे... ! तुझे तेरे माहात्म्य का पता नहीं है प्रभु! आहा...हा... ! अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द, वह भी परिपूर्ण आनन्द, वह भी अनन्त... अनन्त... आनन्द पर्याय में प्रगट हो तो भी कम न हो, ऐसा आनन्द! ऐसा समुद्र अन्य कहाँ है? ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय... अतीन्द्रिय आनन्द के रस का समुद्र जहाँ दृष्टि में आया, (वहाँ) राग का त्याग हो गया। राग का रोग है। अरे... ! मेरा अमृत लुटता है, मेरे अमृत का स्वाद लुटता है। आहा...हा... ! समझ में आया? इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अमृत के आनन्द के स्वाद की अभिलाषा में राग की भावना छूट जाती है – इस अपेक्षा से त्यागी है। श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान की अवस्था की अपेक्षा से (त्यागी है)।

मुनि, निर्ग्रन्थदशा में रहकर दिन-रात स्वानुभव का अभ्यास करते हैं... यह अन्तर में राग का भी अभाव हो गया। मुनि हुए... मुनि किसे कहते हैं...! आहा...हा...! जो अन्दर में उग्र अतीन्द्रिय आनन्द लेने के लिए शीघ्रता करते हैं। आहा...हा...! छोटे बालक को तरबूज की मिठास होती है न? तरबूज... तरबूज...। क्या कहते हैं? खरबूजा। ऐसा आधे मन, आधे मन का एकदम लाल, छुरी मारकर निकलते हैं न! छोटा बालक होता है, उससे कहते हैं ले यह, दे भाई को। वह देने का नहीं समझता, वह उसे सीधा खाने लगता है। समझ में आया? हमारे आते हैं न? छोटे लड़के आहार देने में आते हैं न! उनसे कहे कि पापड़ दे, तो वह पापड़ लेकर खाने लगता है। उसकी माँ कहे कि दे, तो वह सीधा पापड़ (खाने लगता है)। ऐसे कोई कहे, यह भाई को दे, तुझे बाद में देंगे, हाँ! दे बड़े भाई को दे। 'बड़े भाई को दे' वह नहीं सुनता, एकदम लाल देखकर सीधा चूसने लगता है। आहा...हा...!

इसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का (बिम्ब है)। एकदम लाल तरबूज की मिठास हो, जड़ की मिठास है, यह तो चैतन्य की मिठास है। एकाग्रता की छुरी (चलाकर), जितनी एकाग्रता करे उतना आनन्द झरता है। समझ में आया? ऐसा परमात्मा मेरे पास है। मैं ही आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। आहा...हा...!

निर्ग्रन्थदशा में रहकर दिन-रात स्वानुभव का अभ्यास करते हैं। लो, निर्ग्रन्थ दशा में यह अभ्यास है। लेना, देना, पुस्तक बनाना, अमुक-अमुक करना, वह उनका अभ्यास नहीं है। सुन न! इतनों को समझाया और इतनों को देश में बताया और इतने राजाओं को समझाया और इतनी पुस्तकें बनायीं... अरे...! यह तेरा कर्त्तव्य है? सुन तो सही! प्रभुदासभाई! यहाँ तो भगवान आत्मा, अपने निज स्वरूप की सम्पत्ति की दृष्टि का अनुभव हुआ तो राग होने पर भी उसका स्वामीपना नहीं है, इतना त्याग है और स्वरूप में स्थिरता करने को निर्ग्रन्थ पद में आ जाए तो बाह्य में दिगम्बर (दशा और) अन्दर में तीन कषाय के अभावपूर्वक का आनन्द है। स्वानुभव के आनन्द की उग्रता का वेदन करने के लिए ही मुनि होते हैं। आहा...हा...! दुनिया को समझाने के लिए, बोध देने के लिए, उपदेश देने के लिए मुनि नहीं होते। कहो, ज्ञानचन्दजी! क्या कहते हैं? देखो, स्वानुभव का दिन-रात अनुभव करने के लिए मुनि होते हैं। आहा...हा...!

अपना भगवान आत्मा... ऐसा अभ्यास.... प्रभु आत्मा... आत्मा... आत्मा...। अमृत का महासागर, उसमें जितनी एकाग्रता हो, उतना आनन्द का झरना (झरता है)। जैसे पर्वत में से पानी झरता है, वैसे आनन्द झरता है, वह विशेष आनन्द झरे, उसके अनुभव के लिए मुनिपना लेते हैं। ओ...हो...! कुछ बोलने या लेने के लिए या पढ़ने के लिए या सुनने के लिए (मुनिपना लेते हैं) यह कारण है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

जो तद्भव मोक्षगामी होते हैं तो क्षायिकश्रेणी चढ़कर (शीघ्र ही चारघातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाते हैं...) समझ में आया? (फिर) समयसार का दृष्टान्त दिया है। **सन्यस्त** शब्द पड़ा है न? **मोक्ष की चाह रखनेवाले महात्मा को सर्व क्रियाकाण्ड और मन-वचन-काया की क्रिया का ममत्व त्याग देना योग्य है।** ममत्व त्याग देना। मन-वचन-काया की जड़ की क्रिया का ममत्व छोड़ दे। दया-दान के विकल्प की ममता छोड़ दे, वह मेरे नहीं।

जहाँ आत्मा के निजस्वभाव के अतिरिक्त सर्व का त्याग होता है, वहाँ पुण्य और पाप के त्याग की क्या बात? उन दोनों का त्याग है ही... अहो! जहाँ अन्तर में दृष्टि में भी पुण्य-पाप का त्याग हो गया, फिर चारित्र पद में पुण्य-पाप की अस्थिरता का त्याग हो गया। अन्तर में जितनी वीतरागता प्रगट हो, उतना धर्म है। निर्ग्रन्थ पद में वीतरागता की बहुत वृद्धि होती है।

उन दोनों का त्याग है ही... देखो, धर्मात्मा मुनि सन्त को (और) सम्यग्दृष्टि को भी सम्यग्दर्शन में पुण्य-पापभाव का दृष्टि और ज्ञान की अपेक्षा से त्याग है, मुनि को अस्थिरता की अपेक्षा से त्याग है। अस्थिरता का भी त्याग हो गया है और आत्मा में लीनता हो गयी, उसका नाम संन्यास है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि स्वभाव में रहना वह ही मोक्ष का मार्ग है। लो, अपने शुद्धस्वभाव में रहना वह मोक्षमार्ग है। **जो इस मार्ग में रहता है, उसके पास कर्मरहित भाव से प्राप्त और आत्मिकरस से पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं दौड़ता आता है।** लो, **ज्ञानं स्वयं धावति** भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने

का उग्र प्रयत्न करता है तो अल्प काल में केवलज्ञान दौड़ता आता है। केवलज्ञान को बुलाते हैं कि लाओ केवलज्ञान, लाओ! अनुभव की उग्रता केवलज्ञान को बुलाती है। केवलज्ञान अल्प काल में आ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? तीनों बोल आ गये – सम्यग्दर्शन, फिर मुनिपना, फिर केवलज्ञान। समझ में आया?

☆ ★ ☆

रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥ ८३॥

रत्नत्रय युत जीव ही, उत्तम तीर्थ पवित्र।
हे योगी! शिव हेतु हित, तन्त्र-मन्त्र नहिं मित्र॥

अन्वयार्थ – **(जोइया)** हे योगी! **(रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु)** रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है **(मोक्खहं कारण)** यही मोक्ष का उपाय है **(अण्णु तंतु ण मंतु ण)** और कोई तन्त्र या मन्त्र नहीं है।

☆ ★ ☆

८३, **रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है**। लो, यह उत्तम तीर्थ! सम्मेदशिखर और शत्रुञ्जय और गिरनार, वह तो शुभभाव हो, अशुभ से बचने को वह शुभभाव आता है, तब उन्हें निमित्त से तीर्थ कहा जाता है। उत्तम तीर्थ तो अपने भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र है।

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥ ८३॥

ओ...हो...! योगीन्द्रदेव! छठी शताब्दी में हुए हैं। मैंने कल देखा था, तेरह सौ वर्ष पहले हो गये हैं। योगीन्द्रदेव दिगम्बर सन्त-मुनि-वनवासी निर्ग्रन्थपद में रहनेवाले, महादिगम्बर, एक वस्त्र का धागा नहीं, पात्र का टुकड़ा नहीं। एक जल का कमण्डल और एक मोर पिच्छी, कोई पुस्तक ज्ञान का उपकरण हो तो हो, न हो तो न हो। बस! ऐसे मुनि

लगभग तेरह सौ वर्ष पहले (हो गये हैं) । वे कहते हैं, देखो! समझ में आया ? जैसे सिंह जङ्गल में दहाड़ मारता आवे, दहाड़ मारता आवे तो सारे हिरण फट... फट... फट... भगते हैं।

इसी प्रकार इसी प्रकार दहाड़ मारते हुए कहते हैं कि उत्तम तीर्थ प्रभु आत्मा है। बाहर के सब तीर्थ व्यवहार और पुण्यबन्ध के कारण हैं। यहाँ तो (अज्ञानी कहता है) 'एक बार वन्दे जो कोई नरक पशुगति न होई', यह आता है न ? भाई! यह 'सम्मेदशिखर' (के लिए कहते हैं), तो क्या है सम्मेदशिखर ? एक बार क्या, लाख-करोड़ बार वहाँ जा न! वह तो शुभभाव है, पुण्यभाव है, बन्धभाव है। कहो, समझ में आया ? भगवान आत्मा... समझ में आया ?

कर्म बन्ध से छुटने का उपाय अथवा भवसागर से पार होने का उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। वही तीर्थ है, उत्तम तीर्थ वह है। पवित्र तीर्थ है, पवित्र तीर्थ। **निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है...** अपना शुद्ध स्वरूप, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता निर्विकल्प आनन्दसहित (होना), वह निश्चय साक्षात् मोक्षमार्ग है। वही **उपादानकारण है**। स्वयं का कारण है। **व्यवहाररत्नत्रय उपादान के प्रकाश के लिए बाह्य निमित्त है**। व्यवहाररत्नत्रय बाह्य निमित्त है। बाह्य निमित्त है। बाह्य निमित्त है ऐसा कहा है। 'प्रकाश के लिए' हमने निकाल दिया। फिर बहुत लम्बी बात है। उपादान अपने शुद्धस्वभाव से प्रगट होता है – ऐसा बताना है। व्यवहाररत्नत्रय तो एक निमित्त मात्र है।

मिट्टी स्वयं घटरूप हो जाती है, कुम्हार का चाक इत्यादि निमित्त है। कार्यरूप स्वयं उपादानकारण हो जाता है। समझ में आया ? **आत्मा अपनी शुद्धि अथवा उन्नति में स्वयं ही उपादानकारण है**। उपादान दो प्रकार का है – अशुद्ध उपादान (और शुद्ध उपादान) । यह शुद्ध उपादान की बात चलती है। अशुद्ध उपादान का अर्थ यह कि आत्मा अपनी पर्याय में राग-द्वेष-विकार करता है, वह अशुद्ध उपादान है और विकार नहीं, आत्मा अकेला शुद्ध परमानन्द है, वह शुद्ध उपादान है। शुद्ध उपादान में दो प्रकार हैं –ध्रुव उपादान, एक क्षणिक उपादान। ध्रुव उपादान शुद्ध त्रिकाल है और उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वह क्षणिक शुद्ध उपादान है। वह (एक) समय का है। समझ में आया ?

स्वयं ज्ञान चेतनामय है, परम निराकुल है। भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानचेतनामय है। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... अर्थात् ज्ञानस्वभाव। ज्ञानस्वभाव वह आत्मस्वभाव। चैतन्यमय, उसका वेदन वह चैतन्यमय वेदन है। अपना शुद्ध चेतनमय वेदन है। पुण्य-पाप रागादि का वेदन वह तो आकुलता का वेदन है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप का वेदन वह ज्ञानचेतना है। **परम निराकुल है। वही परमात्मादेव है... वही परमात्मादेव है – ऐसा दृढ़ श्रद्धान, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।**

उसकी प्राप्ति का उपाय अन्तरङ्ग निमित्त अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम है... बाहर का निमित्त बताते हैं। **बाह्य उपाय देव-गुरु-शास्त्र का श्रद्धान और जीवादि सात तत्त्वों का पक्का श्रद्धान...** वह निमित्त है। **तथा स्व-पर का भेद-विज्ञानपूर्वक का विचार है, मन-वचन-काया की सर्व क्रिया निमित्त है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्त मिलने से निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा की ही भूमिका में से उत्पन्न होता है**। वह निश्चय आत्मा का सम्यग्दर्शन आत्मा की भूमिका में आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, वह राग की भूमिका में उत्पन्न नहीं होता। भगवान आत्मा स्वयं परमेश्वर अपनी भूमिका में निश्चयसम्यग्दर्शन अन्दर से प्रगट करता है। पर की सत्ता में क्या है? अपनी सत्ता में (स्वयं) प्रगट करता है। समझ में आया?

आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा का आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्त्वों का व द्रव्यों का मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान निमित्त है। आत्मा के अभ्यास से व गुरु के उपदेश के निमित्त से भीतर उपादान आत्मा से ज्ञान का प्रकाश होता है। अन्तरङ्ग निमित्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। निमित्त से बात (की) है। ठीक!

आत्मा के भीतर आत्मा द्वारा ही पर के अवलम्बन से रहित भ्रमण करना, वह निश्चयसम्यक्चारित्र है। लो, यह चारित्र! **आत्मा में आत्मा के भीतर आत्मा द्वारा...** निर्विकल्प द्वारा, **पर के अवलम्बनरहित...** व्यवहार के अवलम्बन रहित स्वरूप में रमणता करना, वह निश्चयसम्यक्चारित्र है। वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मलिनता का नाश होता है। आहा...हा...! समझ में आया? **आत्मानुभव ही तीर्थ है...** वह आत्मानुभव तीर्थ है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अनुभव और वह तीर्थ!

उत्तर : वह आत्मानुभव हुआ न! अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह तीर्थ है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : जीव तीर्थ है न!

उत्तर : वह जीव तीर्थ बाद में, अभी तो मूल तीर्थ यह है, वह तीर्थ तो अनादि है, वह तीर्थ तो अनादि है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करे तब उस अनादि तीर्थ की श्रद्धा हुई। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्तम तीर्थ है – ऐसे तीर्थ का पिण्ड प्रभु द्रव्य, वह तो त्रिकाल तीर्थ है परन्तु उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट किए, वह उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मलिनता का नाश होता है। उस तीर्थ की यात्रा करने से बन्ध का नाश होता है। कहो, समझ में आया? बाहर के तीर्थ में तो शुभभाव का बन्ध होता है। चाहे तो सम्मेदशिखर की यात्रा हो और चाहे तो गिरनार की हो; शुभभाव है, पुण्य बँधता है, पुण्य बँधेगा; संवर-निर्जरा नहीं (होंगे)।

मुमुक्षु : शाश्वत् तीर्थ है।

उत्तर : चाहे जो हो, आत्मा शाश्वत् तीर्थ है।

जहाज है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन आत्मिक धर्मों से रचित है। लो, यह तीन धर्म से रचित तीर्थ है। **इस जहाज पर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाज को अपने ही आत्मारूपी समुद्र पर चलाता है, वह आप ही मोक्षद्वीप को पहुँच जाता है, वह द्वीप भी आप ही है। अपना पूर्ण भाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चित होकर आत्मा का सतत् अनुभव करता है, वही परमानन्द का स्वाद पाता हुआ व कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है, यही कर्तव्य है।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

रत्नत्रय का स्वरूप

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु॥ ८४॥

दर्शन सो निज देखना, ज्ञान जो विमल महान।
पुनि-पुनि आतम भावना, सो चारित्र प्रमाण॥

अन्वयार्थ – (**अप्पा विम महंतु**) यह आत्मा मल रहित शुद्ध व महान परमात्मा है (**जं पिच्छियइ बुह दंसणु**) ऐसा जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है (**पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्र**) बारबार इस आत्मा की भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ९, मंगलवार, दिनाङ्क १२-०७-१९६६
गाथा ८४ से ८५ प्रवचन नं. ३२

यह योगसार चलता है, इसकी ८४ वीं गाथा।

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु॥ ८४॥

भगवान योगीन्द्रदेव, जङ्गलवासी दिगम्बर आचार्य थे चौदह सौ वर्ष पहले (हुए)। इन्होंने यह एक परमात्मप्रकाश और एक यह अमृताशीति आदि बनाये हैं। अपने यहाँ दो प्रसिद्धि में हैं। यह योगसार है। योगसार का अर्थ – अपना शुद्धस्वरूप, एकरूप पवित्र है। इसमें एकाकार होकर, योग अर्थात् जुड़ान करके सार अर्थात् निर्विकल्पदृष्टि, ज्ञान और रमणता करने का नाम योगसार – मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ तो सब सार ही है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, योगसार – सन्तों ने सब सार-सार ही

बनाया है। दिगम्बर सन्तों ने तो तत्त्व का सार दोहन करके सार-सार निकाला है।

योगसार – भगवान आत्मा परिपूर्ण वस्तु स्वरूप अखण्ड एकरूप है, उसमें यह योग है, वह पर्याय है। योगसार वह पर्याय है परन्तु योगसार पर्याय का विषय द्रव्य है। समझ में आया ? योगसार, वह पर्याय है परन्तु वस्तु एकरूप त्रिकाल ज्ञायकस्वभावभाव परमस्वरूप, जिसमें कोई उत्पाद-व्यय नहीं है। ध्रुव शाश्वत् सत् ध्रुववस्तु में एकाकार, उसका लक्ष्य करके, ध्येय बनाकर, उसमें श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना, उसका नाम यहाँ पर भगवान, योगसार कहते हैं। व्यवहार योगसार निकाल डालते हैं। जो विकल्प-व्यवहार बीच में है, वह सार नहीं है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वह कहते हैं, देखो !

यह आत्मा **विमल महंतु, मलरहित शुद्ध और महान... अप्पा महंतु-महान परमात्मा है**। एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में वह तो अनन्त परमात्मा का पेट अन्दर में है। जो सर्वज्ञ या सिद्ध परमात्मा होते हैं – ऐसी-ऐसी परमात्मदशा तो जिसके गर्भ में – ध्रुव में अनन्त पड़ी है – ऐसा वह आत्मा-परमात्मा ध्रुवरूप शाश्वत्, उसका श्रद्धान करना। **पिच्छियइ** शब्द लिया है। **पिच्छियइ** अर्थात् देखना; देखना अर्थात् श्रद्धान करना। वह श्रद्धा ऐसे के ऐसी नहीं, कल्पना नहीं। वह श्रद्धा स्वसन्मुख होकर, परसन्मुखता के भेद के विकल्प से निराली होकर अपने शुद्ध अन्तर्मुख स्वभाव में देखना अर्थात् उस स्वभाव की प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यह **पिच्छियइ** शब्द से लिया है। **श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन है।**

ऐसा जानना, वह ज्ञान है... ऐसा जानना कि भगवान आत्मा परिपूर्ण स्वरूप को ज्ञेय करके, वह वस्तु अखण्ड एकरूप है, उसे ज्ञेय करके उसका ज्ञान करना, उसका नाम मोक्ष के मार्ग का दूसरा अवयव – ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया ? भगवान आत्मा परम पारिणामिकस्वभावभावस्वरूप त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... असंख्य प्रदेश का पिण्ड किन्तु वह असंख्य भेद भी नहीं, एकरूप है। उसमें असंख्य प्रदेश, है, उसमें अनन्त गुण परन्तु गुणभेद नहीं, एकरूप, दृष्टि हुए बिना एकाकार नहीं होता। एकाकार हुए बिना एक रूप दृष्टि नहीं आती। समझ में आया ?

कहते हैं कि भगवान **अप्पा विमल महंतु महंतु** (अर्थात्) वह तो महान आत्मा

है। महान आत्मा। उसके एक-एक गुण अनन्त पर्याय प्रगट करने लायक है। एक-एक गुण से भी अनन्त शक्तिवान है। अनन्त शक्तिवान है। ऐसे अनन्त गुण, उनका एकरूप **महंतु** महात्मा भगवान की अन्तर्मुख श्रद्धा करना। वह जैसा है, वैसा। भगवान सर्वज्ञ कहते हैं वैसा। अन्य सर्व लोग आत्मा कहते हैं कि आत्मा ऐसा आत्मा ऐसा, ऐसा नहीं। सर्वज्ञ ने कहा वैसा (आत्मा)। बाद की गाथा में आयेगा। ८५ (गाथा) 'जहाँ आत्मा वहाँ सकल गुण, अनन्त गुण, केवली बोले ऐम'। जहाँ आत्मा वहाँ सकल गुण केवली बोले ऐम। निर्मल अनुभव आपका प्रगट करो सो प्रेम। यह ८५ में आएगा। इसलिए यहाँ पहले यह लिया है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर ने जो एक-एक आत्मा देखा तो भगवान ने आत्मा कैसा देखा? असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का पिण्ड और त्रिकाल एकरूप स्वभाव देखा। ऐसा जो आत्मा, उसमें पुण्य-पापभाव नहीं आते, शरीर-वाणी नहीं आते और उसकी पर्याय के भेद भी उसमें नहीं आते। उसमें यह गुण है और यह गुणी है ऐसा भेद भी नहीं आता। ऐसे महन्त आत्मा का अन्तर्मुख दर्शन करना, उसका नाम भगवान परमेश्वर, त्रिलोकनाथ, सम्यग्दर्शन है – ऐसा फरमाते हैं। उसका ज्ञान... शास्त्र का ज्ञान आदि नहीं... उस ज्ञानस्वरूपी भगवान का ज्ञान, ज्ञायकभगवान एक स्वरूपी प्रभु, एक स्वरूपी ज्ञायक का ज्ञान, उसका नाम ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञान वह ज्ञान नहीं है, समझ में आया? वह बर्हिसत्तावलम्बी ज्ञान है। स्वसत्तावलम्ब होकर अपने शुद्धस्वरूप में एकाकार होना, जो ज्ञान स्वरूप त्रिकाल है, उसमें से ज्ञान की पर्याय का प्रगट होना, वह अपना ज्ञान है। उसे ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...!

पुण पुणु अप्पा भावियए यह चारित्र की व्याख्या चलती है। चारित्र (अर्थात्) क्या? **बारम्बार इस आत्मा की भावना करना, वह पवित्र अथवा निश्चय शुद्ध चारित्र है।** भगवान आत्मा शुद्ध पूर्णानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द एकरूप की दृष्टि हुई है, ज्ञान हुआ है, (अब) बारम्बार उसमें लीन होना, आत्मा में लीन होना, हाँ! विकल्प, शरीर की क्रिया उसमें है ही नहीं। ओ...हो...! देखो न, जीवित शरीर की क्रिया से धर्म होता है – ऐसा कहते हैं न? ऐसा प्रश्न उठा है जयपुर में (जयपुर-खानियां तत्त्वचर्चा में) आहा...हा...!

भगवान यहाँ कहते हैं, प्रभु ! वह शरीर की क्रिया तो जड़ की है, अन्दर दया-दान का विकल्प उठता है, वह पुण्यास्रव है, पाप की, हिंसा झूठ की तो बात ही क्या करना ? और उसकी एक समय की प्रगट पर्याय है, उसका आश्रय करना वह भी चीज नहीं है; उसका आश्रय करना तो विकल्प है। उसका ज्ञान और पर्याय का ज्ञान करना वह भी ज्ञान नहीं है। एक समय में चैतन्यप्रभु, उसका ज्ञान करके बारम्बार उसमें लीन होना – आत्मा में लीन होना, उसे पवित्र निश्चयचारित्र कहा जाता है। देखो ! दो शब्द पड़े हैं। शुद्धोहम्.... शुद्धोहम्। शुद्ध क्या करे ? वह तो विकल्प आया।

एकरूप (स्वरूप का) पहले ज्ञान में लक्ष्य करके फिर एकरूप में एकाकार दृष्टि करना, जिसमें भेद का लक्ष्य नहीं रहे और निर्विकल्प प्रतीति उत्पन्न हो, ऐसे द्रव्य का आश्रय करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान है और उसी आत्मा में... जैसा अखण्ड अभेद श्रद्धा-ज्ञान में लिया है, उसी आत्मा में स्थिरता, स्थिरता, जम जाना, लीन होना, चरना... चरना... चरना अर्थात् चारा चरना, आनन्द का चारा चरना, आनन्द का अनुभव करना, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं। दो शब्द प्रयोग किये हैं। पवित्र... समझ में आया ? और उसका अर्थ चारित्र अर्थात् निश्चय लेना। समझे ? **पुण पुणु अप्पा भावियए, सो चारित्त पवित्तु** वह निश्चयचारित्र – सच्चा चारित्र, वही पवित्र है और वही मोक्ष का कारण है। ऐसा है, भाई ! व्यवहारचारित्र, व्यवहारज्ञान और व्यवहारश्रद्धा, वह तो परावलम्बी विकल्प है, वह कहीं मोक्षमार्ग में नहीं है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का कथन दो है, मार्ग दो नहीं हैं। अभी बड़ी विपरीतता चलती है। नहीं, मार्ग दो है। भगवान ! मार्ग दो नहीं हैं, मार्ग एक ही है परन्तु कथनशैली में दो प्रकार निमित्त देखकर आए हैं परन्तु निमित्त है, वह मार्ग है ही नहीं। यह एक ही मार्ग है। यह 'योगसार' है। ८४ गाथा है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु है या नहीं ? एकरूप अखण्ड अभेद चीज है या नहीं ? पर्याय में परिणमन है, उसका अभी लक्ष्य (नहीं है)। पर्याय है, हाँ। पर्याय उसका स्वभाव है, स्वभाव है, ऐसा नहीं है। वह पर्याय स्वभाव ही अभी लेंगे परन्तु उस पर्याय का आश्रय नहीं करना है। पर्याय का आश्रय करने से विकल्प उत्पन्न होते हैं क्योंकि पर्याय तो एक अंश

है, स्थिर नहीं। स्थिर नहीं, उस पर लक्ष्य करने से तो अस्थिर विकल्प उत्पन्न होता है। यह वस्तुबिम्ब स्थिर... स्थिर... स्थिर... ध्रुव अनादि अनन्त है; जिसमें अनादि-अनन्त ऐसा काल भेद भी नहीं है, एकरूपता (है)। उसमें बारम्बार रमण करना, लीनता करना, रमना, आनन्द का अनुभव (करना), बारम्बार अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम पवित्र चारित्र है। (उसे) मोक्ष का मार्ग कहते हैं। अद्भुत बात, भाई! अट्ठाईस मूलगुण और पञ्च महाव्रत तो कहीं रह गये, वह तो विकल्प है भगवान! भाई! यहाँ तो मार्ग तो स्वस्वभाव में से आता है या परलक्ष्यी राग में से आता है? भगवान अन्तर परिपूर्ण पड़ा है न, प्रभु! इसे विश्वास नहीं है। अनन्त... अनन्त... चैतन्यरत्नाकर... ओ...हो...! समझ में आया?

एक आकाश का अस्तित्वगुण लो तो सम्पूर्ण व्यापक है। यहाँ अस्तित्वगुण लो तो भी इतने में व्यापक है, पूर्ण है। ऐसा नहीं है कि इतने क्षेत्र में ज्ञानगुण है तो थोड़ा है, अस्तित्व गुण है तो थोड़ा है और आकाश अनन्तगुने क्षेत्र में व्यापक है तो बड़ा है – ऐसा नहीं है। क्षेत्र से बड़ा, उसकी महत्ता नहीं है; उसके भाव की महत्ता है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेश के धाम में जो अनन्त गुण हैं, एक-एक गुण की महान अनन्त... अनन्त... सामर्थ्य है, महानता है। ऐसे एकरूप सामर्थ्य (स्वरूप) द्रव्य में लीन होना, वह चारित्र है। वास्तव में वह चारित्र मोक्ष का मार्ग है। चारित्र का कारण दर्शन, ज्ञान है। दर्शन-ज्ञान के बिना (चारित्र नहीं), परन्तु वास्तव में मोक्ष का मार्ग तो **चारित्र चारित्तं खलु धम्मो** (है)। समझ में आया? परन्तु यह चारित्र।

मुमुक्षु : एकाग्र अर्थात् बारम्बार स्थिर होना।

उत्तर : बारम्बार का अर्थ उसी-उसी में एकाग्र होना ऐसा। बारम्बार विकल्प में आ जाए न? अस्थिरता (हो) अमुक स्थिरता तो कायम होती है परन्तु अन्तर में जमने की (बात है)। एकाकार निर्विकल्प शुद्धोपयोग में से हट जाए, फिर निर्विकल्प उपयोग में आना, ऐसा। अमुक चारित्र की स्थिरता तो कायम होती है। समझ में आया? यहाँ **पुणु पुणु** कहा, उसका अर्थ यह कि निर्विकल्प उपयोग में बारम्बार आना, बारम्बार आना। पञ्च महाव्रत आदि के विकल्प आ जाते हैं परन्तु बारम्बार वहाँ जम जाने का नाम पवित्र

चारित्र है। लो, इतना तो इस श्लोक का शब्दार्थ हुआ। फिर भाई ने 'शीतलप्रसादजी' ने जरा (भावार्थ लिखा है)।

अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए। थोड़ी साधारण बात की है। **यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है...** यह आत्मा द्रव्य है, वस्तु है और वर्तमान परिणमन है, परिणमन अर्थात् पलटता स्वभाव है; पलटना उसका स्वभाव है। **गुणों का समूह है...** भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। आता है या नहीं? ऐई...! कहाँ (आता है)? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। द्रव्य किसे कहना? यह तो पहली व्याख्या है। गुणों के समूह को। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका... है? द्रव्य किसे कहते हैं? गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं – ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में आता है। वही यहाँ कहा है। देखो! गुणों का समूह वह द्रव्य है। द्रव्य तो एक है, गुण का समूह कहा है न? समूह, गुणभेद है, वह अलग बात, एक-एक गुण की दृष्टि करने से तो खण्ड-खण्ड होता है। गुणों का समूह वस्तु है, एकरूप वस्तु है।

गुणों में स्वभाव परिणमन होना, वह द्रव्य का धर्म है। उन गुणों में, पर्याय में –अवस्था में स्वभाव परिणमन होना, वह द्रव्य का धर्म है, पर्याय का, हाँ! **परिणमनशक्ति से ही गुणों की समय-समय पर्यायें होती हैं।** बदलने के कारण से वह पर्यायधर्म आत्मा का स्वभाव है। अपना पर्यायधर्म है, पलटना धर्म है, क्षणिक पर्याय में पलटना। तो कहते हैं समय-समय पर्याय होती है।

व्यवहारनय से यह आत्मा कर्मसहित मलिन दिखता है। व्यवहार से संयोग दिखता है। स्वभावनय से नहीं, वह निश्चय है। **कर्मों के संयोग से चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणारूप आत्मा की जो अवस्थाएँ होती हैं, वे आत्मा का निजशुद्ध स्वभाव नहीं है।** वह भेद है, आश्रय करने योग्य नहीं है। भूतार्थ एकरूप स्वभाव है। गुणस्थान अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ 'नहीं है' ऐसा नहीं है। आश्रय करने योग्य नहीं है। क्षणिक अवस्था है, इस अपेक्षा से उसे अभूतार्थ निश्चय की अपेक्षा से कहा है।

जब शुद्धनिश्चय से जाना जाए तो यह आत्मा यथार्थ में जैसा मूल द्रव्य है वैसा जानने में आता है। भेद नहीं, चौदह गुणस्थान आदि व्यवहारनय का विषय है

अवश्य, हाँ! है सही, यह विषय छोड़ दे तो तीर्थ का नाश हो जाए। चौथा, पाँचवाँ, छठा पर्याय भेद भी न रहे। व्यवहार का विषय ही न हो, यह मिथ्या बात है। व्यवहारनय का विषय है (परन्तु) आश्रय करने योग्य नहीं है।

मुमुक्षु : दोनों रखो।

उत्तर : दो किस प्रकार रखें? आश्रय करने योग्य एक। दूसरी चीज जानने योग्य का अस्तित्व जानना। चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान सब है। नहीं है, ऐसा नहीं है। वह तो आश्रय करने योग्य नहीं है, इस अपेक्षा से व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। व्यवहार कहकर गौण करके (अभूतार्थ) कहा है, उसे गौण करके (कहा है), उसका अभाव करके नहीं। (क्योंकि) पर्याय उसकी है। पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा – इतना लेना। पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर, गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण-पूर्ण मुख्य करके, निश्चय कहकर, उसे भूतार्थ कहा है। समझ में आया? अभाव करके (कहे तो) पर्याय है ही नहीं – ऐसा हुआ। पर्याय का लक्ष्य छोड़ना है, इसलिए उसे गौण करना परन्तु है ही नहीं ऐसा है? पर्याय है ही नहीं? परिणमन है ही नहीं? गुणस्थान है ही नहीं? (यदि ऐसा होवे तो) वस्तु का नाश हो जायेगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र वह यह मोक्षमार्ग और यह सब पर्याय हैं, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, तेरहवाँ (गुणस्थान) यह सब क्या है? यह तो सब पर्याय है। पर्याय नहीं? है, परन्तु उसमें अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रयोजन सिद्ध करने के लिए पर्याय के भेद को गौण करके; अभाव करके नहीं (किन्तु) गौण करके व्यवहार कहा है और व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। भगवान आत्मा का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए एकरूप निश्चय मुख्य नहीं; मुख्य त्रिकाल मुख्य वस्तु को निश्चय कहकर, अभेद करके उसे भूतार्थ कहा है। वस्तु यथार्थ, यथार्थ, यथार्थ... आहा...! समझ में आया? ऐसी वस्तु सर्वज्ञ के सिवाय तीन काल में दूसरे किसी स्थान में नहीं है। वेदान्त भले बड़ी-बड़ी बात करे कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है; सब मिथ्या बात है, सब विपरीत बात है। समझ में आया? यहाँ निश्चय की बात करते हैं, इसलिए वेदान्त के साथ मिल जाता है – ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा अभेददृष्टि में मुख्य करके उसका आश्रय करना है, प्रयोजन सिद्ध करना है। पर्याय के आश्रय से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अपने कार्य में शान्ति प्रगट करना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों शान्ति है। तीनों धर्म है, शान्ति है, तीनों आनन्द है। तो आनन्द का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अपना स्वभाव त्रिकाल जो मुख्य है, उसे निश्चय कहकर भूतार्थ – एक वही है, वही है – ऐसा कहा, परन्तु पर्याय है ही नहीं – ऐसा नहीं है। समझ में आया?

यह आत्मा सत् पदार्थ है, वह कभी जन्मा नहीं, कभी नष्ट होनेवाला नहीं स्वतः सिद्ध है। किसी ने उसे उत्पन्न नहीं किया... जो होवे उसे कौन उत्पन्न करे? है... है... है... आदि – अन्तरहित सत् भगवान आत्मा सत्... सत् है। सत् कहो या है कहो। है... है... है... तो उसका स्वभाव भी त्रिकाल है, स्वभाव त्रिकाल है, परिणमन एक समय की पर्याय है। **यह लोक अनादिकाल से है, छह द्रव्यों के समूहों को लोक कहते हैं।** ठीक। यह तो बात की है।

आत्मा, आत्मारूप से सर्व समान है तो भी प्रत्येक आत्मा की सत्ता दूसरे आत्मा की सत्ता से पृथक् है। अनन्त आत्मा... निगोद के एक शरीर में अनन्त (आत्मा हैं)। ओ...हो...! इतनी कीमत तो दे, कहते हैं। एक निगोद का इतना टुकड़ा, बटाटा को क्या कहते हैं? आलू, हरी काई, एक इतना टुकड़ा लो, उस टुकड़े में असंख्य शरीर, एक शरीर में अभी तक जितने सिद्ध हुए उनसे अनन्त गुणे जीव, संख्या से अनन्त हैं – इस अपेक्षा से समान हैं; सत्ता सबकी अलग-अलग है। आहा...हा...! यह वस्तु बापू! यह वस्तु है, भाई! एक तो तेरे ज्ञान की एक समय की पर्याय में इतने ही छह द्रव्यों का इतना अस्तित्व स्वीकार करे, इतनी तो इसके ज्ञानगुण की एक समय की परलक्ष्यी पर्याय की सामर्थ्य है। समझ में आया? यह भगवान आत्मा का लक्ष्य करके जो ज्ञानपर्याय प्रगट हुई, उसमें तो अनन्त... अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु जानने की, स्वीकार करने की एक समय की पर्याय में ताकत है। समझ में आया? यह कहते हैं। देखो, **प्रत्येक आत्मा की सत्ता दूसरे आत्मा की सत्ता से निराली है।**

अपने आत्मा को एकाकी देखो... श्रद्धा का विषय है न! भगवान आत्मा

एकाकी अकेला है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। **उसमें न आठ कर्म का बन्ध है...** ऐसा एकाकी देखना है न! अकेला तो फिर आएगा परन्तु इन्होंने यहाँ अर्थ किया है, वरना अकेला आएगा। ८६ (गाथा में)। ८६ में तो स्पष्ट 'अकेला' शब्द ही आएगा। ८६वीं गाथा में (कहेंगे) **एक्कलउ इंदिय रहियउ** इसलिए यहाँ से अकेला लेना है न! ८६ में पहला शब्द यह है। भगवान आत्मा को ऐसा देखना कि जिसमें आठ कर्मों का सम्बन्ध नहीं है। **न इसमें रागादि विकारी भाव है, न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रियक शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का सागर है। यह आत्मा न किसी का उपादानकारण है, न किसी का निमित्तकारण है।**

भगवान आत्मा किसी का कारण नहीं है और किसी का कार्य नहीं है – ऐसा उसका अनादि-अनन्त गुण है। आत्मा में अकार्यकारण नाम का गुण अनादि-अनन्त है। ऐसा एक गुण है तो सब गुण ऐसे हैं और पूरा द्रव्य ऐसा है। समझ में आया? अध्यात्म की अन्दर की बातें जरा ग्राह्य होने को पुरुषार्थ बहुत चाहिए, तब ख्याल में आता है। आहा...हा...! है?

वस्तु, वस्तु किसी की निमित्त कहाँ होगी? वस्तु के स्वभाव में अकार्यकारण नाम की शक्ति अनादि-अनन्त पड़ी है। जैसे, भगवान आत्मा में ज्ञानगुण है, आनन्दगुण है, अस्तित्वगुण है, ऐसे अकार्य-कारण नाम का त्रिकाल उसमें रहा हुआ गुण अनादि अनन्त है। वह द्रव्य वस्तु, गुण वस्तु और उसकी पर्याय, हाँ! किसी का कार्य नहीं और वह पर्याय किसी का कारण नहीं। आहा...हा...! क्यों? कि अकार्य-कारण नाम का गुण है – ऐसी जब द्रव्यदृष्टि हुई तो द्रव्य में अनन्त गुण है तो अकार्यकारण गुण का भी परिणमन हुआ। क्या कहा, समझ में आया? सैंतालीस शक्ति जो प्रकाशित होगी वह बहुत अच्छी निकलेगी। आत्मप्रसिद्धि में छपे हैं परन्तु अभी सैंतालीस शक्तियों के व्याख्यान हुए हैं, वे बहुत अच्छे हुए हैं। धीरे-धीरे बाहर आयेंगे। सैंतालीस शक्तियाँ नयी छपेगी। आत्मा में अकार्य-कारण नाम का गुण है, ऐसे गुण का धारक द्रव्य है, ऐसे अखण्ड अभेद द्रव्य की दृष्टि हुई तो जितने अनन्त गुण हैं, उन सभी गुणों का परिणमन उनकी पर्याय में आया। द्रव्य अकार्यकारण है, गुण अकार्यकारण है, पर्याय भी अकार्यकारण है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह तो भगवान का घर है, उसे जानने के लिए पुरुषार्थ की उग्रता चाहिए। आहा...हा... ! यह धर्म कोई साधारण चीज नहीं है, जिसके फलस्वरूप सादि अनन्त सिद्ध पद आनन्द प्रगट होता है। आहा...हा... ! जिसके फल में सादि अनन्त... भूतकाल की पर्यायों से भविष्य की सादि-अनन्त अनन्तगुनी पर्यायें हैं। संसार की पर्याय की संख्या से सिद्ध की पर्याय की संख्या अनन्तगुनी है। अनन्तगुनी... अनन्त... अनन्तगुनी है। आहा...हा... ! ऐसे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दरूप जिसका फल, उस धर्म की क्या महत्ता ! और वह धर्म जिसके आश्रय से प्रगट हो उस द्रव्य का क्या कहना !! समझ में आया ?

कहते हैं, किसी का उपादान नहीं और किसी का निमित्त नहीं। वह भगवान ज्ञायक तो पिण्ड है न ! अपने आत्मा में, द्रव्य में ऐसी शक्ति है। जब उस शक्ति की प्रतीति, ज्ञान हुआ तो सर्व गुणों की पर्यायों का परिणमन हुआ तो अकार्यकारण नामक गुण अकेला द्रव्य-गुण में नहीं रहा; पर्याय में भी अकार्यकारण (परिणमन आया)। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो गया। निर्मलानन्द भगवान की जो पर्याय है, उसकी जो दृष्टि हुई तब वह पर्याय किसी का कार्य नहीं और किसी का कारण नहीं। समझ में आया ? समझने में इसे (ऐसा लगता है कि) यह क्या है ? मूल तो इसे अन्दर में स्वतन्त्रता की बात रुचती नहीं है, अनादि से पराधीन पंगु... पंगु... पंगु... (जैसा हो गया है)। भगवान पंगु समझते हो ? आँखें ऐसी हों, हाथ-पैर ऐसे हों, शक्तिरहित ऐसे पंगु पड़े हों।

यह तो भगवान आत्मा सिंह, उसका एक-एक (गुण) ओ...हो... ! समझ में आया ? वह सिंह की लड़ाई की बात आयी थी, दो बाघ थे, बड़े बाघ ! एक बाघ पर दूसरा बाघ चढ़ गया परन्तु बाघ ने मारा नहीं, इतना तो पशुओं में भी ख्याल है। ऊपर चढ़ बैठे फिर वह निकलने का था, तब ऐसे गर्दन कर ली, नीचे कर ली, हो गया, जाओ, वह कहे हारा, और यह कहे जीता। छोटाभाई ने कहा – यह कल समाचार पत्र में आया है। 'जैनदर्शन' में, 'जैन सन्देश' कल आया है न ! उसमें है। है ?

मुमुक्षु : हार स्वीकार हो गयी।

उत्तर : हार स्वीकार हो गयी। पहले तो बहुत लड़े, बहुत लड़े। एक बाघिन थी, बैठी थी, देखती रही, बस ! जैसे साक्षी हो ऐसे देखती। एक की बाघिन थी। दो ऐसे लड़े

-झगड़े, लहुलुहान! लोही कहते है न? फिर चढ़ गया, वह विजेता था न? उसके ऊपर बैठा, मुँह ऐसा... ऐसा करे परन्तु काटे नहीं...। दूसरा चला गया। कल 'जैन सन्देश' में आया है। पशु में भी इतना (स्वीकार आता है कि) वह हार मानता है।

आत्मा जब अपना विजेता हुआ तो सब हार गये। राग, पर्यायभेद सब हार गये। भगवान आत्मा... मैं अकार्यकारण स्वभाववन्त हूँ, मैं किसी के कारण से उत्पन्न पर्याय हूँ ऐसा नहीं, पर्याय, हाँ! और मेरी पर्याय किसी के कार्य में कारण होवे – ऐसा मैं हूँ ही नहीं। ओ...हो...! आत्मा के विजेता का यह लक्षण है।

संसारदशा में आत्मा... कषाय के उदय से शुभाशुभ उपयोगवाला होता है। यह योग और उपयोग ही लौकिक कार्यों में निमित्त है। कुम्हार घड़ा बनाता है वहाँ मिट्टी घड़े का उपादान कारण है, कुम्हार के मन-वचन-काया का योग और अशुद्ध उपयोग निमित्तकारण है। यह तो ठीक। **शुद्ध आत्मा में न योगों का कार्य है, न कोई शुभ या अशुभ उपयोग है।** भगवान आत्मा, अपनी जहाँ दृष्टि-ज्ञान और रमणता अपने में करे तो वहाँ न योग है, न इच्छा है। समझ में आया?

आत्मा स्वभाव से अकर्ता और अभोक्ता है। भगवान आत्मा तो राग का भी कर्ता-भोक्ता स्वरूप में नहीं है। पर का कर्ता तो कहाँ है? (लोगों में) गजब बात चलती है। कोई पूछनेवाला ही नहीं होता, अरे...रे...! प्रभु! करे किसे? भगवान आत्मा, राग को करे? क्या राग उसकी शक्ति में पड़ा है? उसके स्वभाव की खान में राग पड़ा है? राग का कर्ता होता है तो उसका अर्थ हुआ कि पूरा द्रव्य विकारी है (परन्तु) ऐसा है नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल आनन्दकन्द है, वह तो राग का भी कर्ता और राग का भोक्ता वस्तु में है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? तो पर का कर्ता और भोक्ता तो (कहाँ से होगा)? आहा...हा...! पर की दया पालने का शुभभाव हो परन्तु वह शुभभाव स्वभाव में नहीं है और उस शुभभाव से उसमें कार्य नहीं होता। उस शुभभाव से पर में दया का कार्य नहीं होता और शुभभाव से अपनी निर्मल पर्याय का कारण शुभभाव हो और कार्य हो – ऐसा भी नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! सर्वज्ञ नहीं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। सर्वज्ञ ने कुछ किया है? बनाया है? जैसा है, वैसा सर्वज्ञ ने जाना; जाना वैसा वाणी में आया; आया वैसा है। आहा...हा...!

कहते हैं, भगवान! तू तो आत्मा है न प्रभु! तो आत्मा में तो महान... महान... महान... पवित्रता पड़ी है न प्रभु! उस पवित्रता का धाम भगवान है। उस पवित्रतारूप से परिणमित, वह परिणमन हुआ, वह भी उसका व्यवहार हुआ। आहा...हा...! है ? वह परिणमन उसका व्यवहार है और ध्रुव उसका निश्चय है।

कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वभाव से तो अकर्ता-अभोक्ता है। रजकण का, पर की दया का (भाव), पर को बचाने का-मारने का कर्ता भगवान आत्मा नहीं होता। भाई! ऐसा नहीं होता भाई! यह भगवान को कलंक चढ़ता है, उसमें जो स्वभाव नहीं है, उसे ऐसा कहना, प्रभु! उसे कलंक लगता है, भाई! तुझे कलंक लगता है, बापू! उस कलंक का फल, भाई! नुकसानकारी है परन्तु अब यह बात कैसे हो ? यह कोई किसी की दी जा सके ऐसी नहीं है।

भगवान आत्मा ज्ञायक का पिण्ड प्रभु, जिसमें अकर्ता-अभोक्ता नाम का गुण है परन्तु राग का कर्ता और पर का कर्ता – ऐसा कोई गुण नहीं है, तो पर्याय भी नहीं है। यह तो भगवान के देश की बात है। समझ में आया ? परदेश में से निकलना हो और स्वदेश में आना हो, उसकी बात है। भगवान आत्मा महान जिसकी शक्ति, कहते हैं कि शक्ति है परन्तु उस शक्ति में कोई एक शक्ति ऐसी नहीं है कि राग की रचना करे, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, शुभ उपयोग की रचना करे – ऐसा कोई गुण नहीं है। शुभ उपयोग को रचे ऐसा कोई गुण नहीं है तो पर की पर्याय को रखे या मिटाये, उत्पाद करे या व्यय करे, जिलाना अर्थात् उत्पन्न और मरण अर्थात् व्यय, भगवान! वह आत्मा में नहीं है। भाई! उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में तीनों में नहीं है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा को जाने, तब आत्मा जाना कहा जाता है। आत्मा ऐसा है और उससे विपरीत जाने तो आत्मा को जाना ही नहीं। समझ में आया ?

वह न तो परभावों का कर्ता है, न परभावों का भोक्ता है। सर्वविशुद्धि में आया है न ? भाई! यह लिया है। **आत्मा स्वभाव से अपनी शुद्धपरिणति का कर्ता है...** यह भी व्यवहार हुआ। आत्मा में अपनी पर्याय, आत्मा कर्ता और पर्याय कर्म, यह भी उपचार / व्यवहार हुआ। **सहज शुद्ध सुख का भोक्ता है...** भगवान आत्मा परमानन्द से

भरपूर है। अतीन्द्रिय आनन्द का भाव चैतन्य में ठसाठस भरा है, अरूपी के लिए बड़े क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। वह तो इसमें महा सामर्थ्य है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द का रस-कश... सम्पूर्ण असंख्य प्रदेशों में सराबोर... सराबोर है। जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता है। आहा...हा...! यह भी व्यवहारनय से भेद डालकर कहते हैं।

मुमुक्षु : ठसाठस...।

उत्तर : ठसाठस अर्थात् उसमें दूसरे किसी के प्रवेश होने का अवकाश नहीं है। अरूपी भी दल है या नहीं? क्या? जैसे बर्फ की शिला है। बर्फ की शिला में भी अवकाश है, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्कन्ध है, भिन्न-भिन्न स्कन्ध है तो उनमें भी अवकाश है। थोड़ा खाली भाग है। भगवान आत्मा के असंख्य प्रदेश में कोई खाली भाग है ही नहीं। अखण्ड पिण्ड और अनन्त गुण का रसकन्द है। उसमें आकाश के एक प्रदेश में बीच में अवकाश है ऐसा है ही नहीं। आहा...हा...! बर्फ की शिला, समझे। तुम्हें ऐसा लगता है कि बर्फ ऐसा ठसाठस है। अन्दर में आकाश के असंख्य प्रदेश, बहुत सूक्ष्म (प्रदेश) खाली रह जाते हैं। ऐसी बात है। क्योंकि अनन्त स्कन्ध हैं। अनन्त परमाणुओं का एक द्रव्य कहाँ है? स्कन्ध के अन्दर अवकाश रह जाता है। भगवान आत्मा में एक-एक गुण में कोई एक प्रदेश का अवकाश / खाली नहीं है। पूरा अभेद एकाकार (द्रव्य) पड़ा है परन्तु वह आत्मा क्या चीज है? उसे इसने समझ में लिया ही नहीं। आत्मा का क्या माहात्म्य है! वह तो परमात्मा का गर्भ है, उसमें से परमात्मा का प्रसव होता है। आहा...हा...! परमात्मा की प्रसूति का घर आत्मा है।

मुमुक्षु : कितने?

उत्तर : अनन्त। आत्मा अनन्त परमात्मा का प्रसव करता है। एक समय का परमात्मा, दूसरे समय का परमात्मा... परमात्मा पर्याय है या नहीं? सिद्ध पर्याय है या नहीं? सिद्ध एक समय की परमात्मा की पर्याय है। दूसरे समय दूसरा परमात्मा, तीसरे समय तीसरा... भले ही वही है, परन्तु है दूसरी पर्याय; ऐसे सादि अनन्त परमात्मा (होवे उन्हें) आत्मा ने अपने गर्भ में रखे हैं, पेट में रखे हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : पेट खोलकर निकाले तो निकले न।

उत्तर : एकाकार होवे तो निकले बिना रहेगी नहीं। है? आहा...हा...! वस्तु तो ऐसी

है। इस घड़ी क्या आज ही, ऐसा कहते हैं। 'अमृतचन्द्राचार्य' 'प्रवचनसार' में अन्त में दो गाथाओं में कहते हैं। आज। भाई! बताया था, नहीं? प्रवचनसार में अन्त में है। आज ही करो, आज ही करो। टाइम की क्या बात है, देखो! अन्त में है, अन्त में। देखो! (श्लोक २१) **एक सम्पूर्ण शाश्वत् स्व तत्त्व को प्राप्त करके आज ही अव्याकुलपने नाचो। अद्य** है न? **वल्गत्वद्य** कहते हैं कि **वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप से परिणमते हैं, आत्मा उन्हें नहीं परिणमा सकता...** भाषा को आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। इसलिए ऐसा नहीं जानो कि यह टीका मैंने की है। अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं।

मुमुक्षु : वह तो अभिमान नहीं है, इसलिए कहते हैं।

उत्तर : अभिमान नहीं; कर ही नहीं सकता – ऐसा कहते हैं। कर तो सकता है परन्तु अभिमान नहीं करना – ऐसा लोग कहते हैं, हाँ! भगवान! ऐसा नहीं है। भाई! कर नहीं सकता क्योंकि परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र है। अनन्त परमाणुओं में एक-एक में अनन्त गुण की पर्याय का उत्पाद उस समय में होता है। आत्मा क्या करे?

स्वयं ज्ञेयरूप प्रमेयरूप परिणमते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना कर - समझा नहीं सकते। इसलिए आत्मा सहित विश्व वह व्याख्ये (समझाने योग्य) है, वाणी की रचना वह व्याख्या है और अमृतचन्द्र सूरी व्याख्याता (व्याख्या करनेवाले समझानेवाले) हैं। ऐसे मोह से मत नाचो। आहा...हा...! हे जीवों! ऐसा मत मानो, मैंने व्याख्या की, शब्द किये – ऐसा मत मानो। प्रभु! यह तो भाषा में स्व-पर वार्ता कहने की ताकत है और आत्मा में स्व-पर को जानने की ताकत है। भगवान आत्मा में स्व-पर को जानने की ताकत है, वाणी में आत्मा या निमित्त की अपेक्षा बिना स्व-पर को कहने की ताकत है। निमित्त की अपेक्षा होवे तो स्व-पर को कहने की ताकत कहाँ रही? समझ में आया? भाई! केवलज्ञान निमित्त है न, इसलिए भाषा में ताकत आयी (–ऐसा) बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु : यह तो सूचित करता है केवलज्ञान।

उत्तर : वह तो केवलज्ञान सूचित करता है परन्तु केवलज्ञान है, इसलिए भाषा में, दिव्यध्वनि में स्व-पर वार्ता कहने की पूर्ण ताकत आयी – ऐसा बिलकुल नहीं है। आहा...हा...!

स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला से यह एक सम्पूर्ण शाश्वत् स्व तत्त्व को प्राप्त करके आज ही (जनों) अव्याकुलरूप से नाचो। (परमानन्द परिणाम से परिणमो)। प्रभु ! आज ही, आज ही शब्द है। दूसरे में (श्लोक २२ में) भी ऐसा लिया है। **आज ही प्रबलरूप से उग्ररूप से अनुभव करो... उस चैतन्य को ही चैतन्य आज ही प्रबलरूप से उग्ररूप से अनुभव करो...** वहाँ आज है। **अनुभवतु तदुच्चैंश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्** अन्तिम श्लोक में है। आज, दूसरा समय क्या ? आहा...हा... ! वायदा करता है, वह कर्जदार वायदा करते हैं न ! पचास हजार का कर्जा होवे तो किस्त करते हैं न ? किस्त अर्थात् क्या ? एक महीने पाँच सौ भरूँगा, दूसरे महीने पाँच सौ भरूँगा। हफ्ता ! नहीं, यह वायदा है। साहूकार ऐसा करेगा ? (वह तो यह कहेगा) ले, ले जा... ऐसे भगवान आत्मा ऐसे पूर्णानन्द से भरपूर अभेद प्रभु, वह किसी का कर्ता-हर्ता नहीं है – ऐसा अभी स्वीकार ले, वायदा नहीं। वायदा कैसा ? भगवान (आत्मा) के स्वरूप में वायदा है ? समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं कि) **यह आत्मा परम निराकुल और समभावधारी परम पवित्र, निश्चल रहनेवाला है। वह परमपदार्थ परमात्मा है। मैं ऐसा ही हूँ, ऐसा निश्चय अनुभवपूर्वक होना, वही सम्यग्दर्शन गुण का प्रगट होना है।** कल्पना से नहीं, बाहर से नहीं, शास्त्र की धारणा से नहीं, शास्त्र के ज्ञान से नहीं... आहा...हा... ! अन्तर भगवान आत्मा, ऐसे पूर्ण स्वरूप का अन्तर अनुभव करके सम्यग्दर्शन गुण का प्रगटना है। **वह मिथ्यात्व कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम बिना नहीं होता।** वह सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वकर्म और अनन्तानुबन्धी का उपशम (होवे तब होता है) यह जब सम्यग्दर्शन होता है, तब वहाँ उपशम होता ही है। न हो ऐसा नहीं होता।

शास्त्रों को ठीक-ठीक जानने पर भी जहाँ तब स्वानुभव न हो वहाँ तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। शास्त्र के ज्ञान को बराबर समझता हो परन्तु वह भी पर ज्ञान है। अभी तो शास्त्र के ज्ञान का ठिकाना नहीं। अरे... भगवान ! कठिनता से थोड़ा समय मिला, अनन्त काल में यह समय बहुत थोड़ा समय है, हाँ ! मनुष्यपने का समय बहुत थोड़ा है, भाई ! महा कठिनता से समय मिला इसमें फिर ऐसे का ऐसे रुक जायेगा

तो तेरे कल्याण का काल चला जाएगा। छोड़ दे, हम ऐसा करते हैं और अभी तक माना, माना छोड़ न! सत्य को ले न! उसमें क्या है।

कहते हैं, **शास्त्रों को ठीक-ठीक जानने पर भी जहाँ तब स्वानुभव...** 'अनुभव रत्न चिन्तामणि अनुभव है रसकूप अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप' बस! अनुभव एक ही मोक्ष का मार्ग है। रत्नत्रय उसमें (होता है)। अनुभव – भगवान जैसा है, उसे अनुसरण कर दशा में होना, वेदन में आना – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को अनुभओ। **सम्यग्दर्शन के प्रकाश होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। मुमुक्षु को उचित है कि आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में बार-बार रमण करे।** यह चारित्र। **बार-बार भावना भावे। भावना में चलना सो चारित्र है।** भावना में रहना, वह चारित्र है। **जहाँ आत्मा आपसे आप में स्थिर हो जाता है, वहाँ रत्नत्रय की एकता होती है। वही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय धर्म निज आत्मा का स्वभाव ही है।** लो! पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है **अपने आत्मा का निश्चय, वह सम्यग्दर्शन है। दर्शनमात्मविनिश्चिति** भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में फरमाते हैं। महा अमृतचन्द्राचार्यदेव... आहा...हा...! अभी नौ सौ वर्ष पहले भरतक्षेत्र में थे, ऐसे चलते थे, भिक्षा / आहार के लिए जाते थे, आहा...हा...! वे तो सिद्ध... सिद्ध! विकल्प बाहर, शरीर बाहर, अभी तो नौ सौ वर्ष पहले... भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव अकेले अमृत का घोलन करनेवाले! कहते हैं आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन, **अपनी आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, अपने आत्मा में स्थिरता सम्यक्चारित्र है, इन तीनों से कर्म बन्ध नहीं होता।** समझ में आया?

☆ ★ ☆

आत्मानुभव में सब गुण हैं

जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।
तिहि कारणएँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥ ८५॥

जहाँ चेतन तहाँ सकल गुण, यह सर्वज्ञ वदन्त।
इस कारण सब योगिजन! शुद्ध आतम जानन्त॥

अन्वयार्थ – (**जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण**) जहाँ आत्मा है वहाँ उसके सर्व गुण हैं। (**केवलि एम भणंति**) केवली भगवान ऐसा कहते हैं (**तिहि कारणाएँ जोइ फुडु विमलु अप्पा मुणंति**) इस कारण योगीगण निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं।

☆ ★ ☆

८५, **आत्मानुभव में सब गुण हैं।**

जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।
तिहि कारणएँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥ ८५॥

आहा...हा...! आचार्य को केवली की साक्षी देनी पड़ी, बापू! जो सर्वज्ञ है न! जो केवलज्ञानी प्रभु है न! उन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल – तीन लोक की पर्याय में परिपूर्णता जानने पर उसमें सब ज्ञात हो गया। पानी में देखने पर, पानी में नजर पड़ने पर, पानी में, ऊपर जो तारे होते हैं, वे पानी में देखने पर दिख जाते हैं। ऐसे ही भगवान आत्मा की निर्मल पर्याय देखने से तीन काल – तीन लोक उसमें ज्ञात हो जाते हैं। पानी स्वच्छ होता है न! स्वच्छ पानी... ऐसी नजर पड़े (पानी में) वहाँ (दिखता है)। इसे ऐसे नजर (तारों की तरफ) नहीं करनी पड़ती। वहाँ नक्षत्र, तारे सब पानी की स्वच्छता में ज्ञात हो जाते हैं। ऐसे भगवान आत्मा अपने अवलम्बन से प्रगट हुई, ज्ञानगुण की परिपूर्ण केवलज्ञान पर्याय, उसमें देखने से तीन काल-तीन लोक उसमें आ जाता है, ज्ञात हो जाता है।

मुमुक्षु : पानी में तारे साथ हैं न?

उत्तर : तारे कहाँ थे? तारे तो वहाँ हैं। तारे सम्बन्धी जो जल की स्वच्छता है, वह वहाँ है। तारे वहाँ हैं? ऐसे ही आत्मा की स्वच्छता की पर्याय में क्या लोकालोक है? लोकालोक सम्बन्धी का अपना ज्ञान वहाँ है, वह ज्ञान वहाँ ज्ञात हो जाता है, वह ज्ञान है। आहा...हा...! वहाँ क्या नीम यहाँ आ जाता है? हमारे सेठ ठीक हैं, धीरे से लड़की डालते हैं, पानी में तारे साथ हैं न? पानी में है या नहीं? तारे वहाँ होंगे, तारे तो वहाँ हैं। पानी की

स्वच्छता का यह सब रूप है, पानी की स्वच्छता का यह सब पूरा रूप है। ऐसे भगवान आत्मा कैवल्यदशा की पर्याय जहाँ प्रगट हुई, उसे देखने से लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान, वह अपना ज्ञान वहाँ है, उस ज्ञान को देखता है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा आत्मा, बापू! जिसकी एक समय की पर्याय, लोकालोक के समक्ष देखे बिना यहाँ देखने से ज्ञात हो जाए, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का तो एक गुण, ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य, उसकी क्या बात करना! जिसे धर्म करना है, वह करनेवाला कैसा? – उसकी इसे खबर नहीं होती। करनेवाला आत्मा, परन्तु वह कैसा और कहाँ, किस प्रकार? यह अपने को कुछ पता नहीं है। अब पता नहीं है तो करेगा क्या वह? समझ में आया? इसका गुजराती है न? इसमें डाला है न हमने –

जहाँ आत्मा तहाँ सकल गुण, केवली बोले ऐम।
प्रगट अनुभव आपनो निर्मल करे सो प्रेम॥

चैतन्यप्रभु! चेतन सम्पदा रे तेरे धाम में। हे चेतनप्रभु! चेतन सम्पदा रे तेरे धाम में। यह लोकालोक की सम्पदा यहाँ है। वहाँ कहाँ लोकालोक उसके घर रहा। वह कहीं ज्ञान की पर्याय में आया है? और ज्ञान की पर्याय में लोकालोक यहाँ आया है। वह तो ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य में स्वयं देखते हुए वह ज्ञात हो जाता है। उसे जानता है, कहना व्यवहार है। आत्मज्ञानमय सर्वज्ञता है। आहा...हा...! अरे! ऐसा आत्मा! उसे महिमा से दृष्टि में नहीं लिया और इसे महिमा राग की-पुण्य की, निमित्त की और इस धूल की, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की महिमा (रही), उसे यह एक क्षण में उपाधि का मेल, उसकी महिमा (रही)। भगवान इतना महान महिमावन्त, इसे रुचा नहीं, अभी नहीं रुचता उसका परिणमन कब होगा? कहते हैं न? एकान्त हो जाता है। अरे... भगवान! सुन न भाई! जाने दे न! अन्दर में जाने दे न! इसका नाम एकान्त है। पण्डितजी! है न? आहा...हा...!

भगवान तेरे घर की बात है भाई! उसके अपने घर की बात है बापू! यह किसी की बात नहीं है। समझ में आया? इसे पकड़ना है और इसे जानना है और इसे ग्रहण करना है। कोई करा दे – ऐसा नहीं है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर भी क्या करेंगे? अनन्त

तीर्थङ्कर हुए, मूसलधार (उपदेश) चलता था, धर्म धुरन्धर धोरी.... महाविदेहक्षेत्र में अनेक तीर्थङ्कर विचरण करते हैं तो क्या वहाँ सब समकिती हैं ? वहाँ भी मिथ्यादृष्टि के ढेर पड़े हैं। यहाँ तो अभी सातवें नरक जानेवाले भी नहीं हैं। वहाँ तो अभी सातवें नरक जानेवाले हैं। जैसे केवल (ज्ञान) प्राप्त करके (मोक्ष) जानेवाले हैं, (उसी प्रकार) सातवीं नरक में जानेवाले भी हैं। भाई! यह तो उनकी स्वतन्त्रता बताते हैं। यहाँ सातवें नरक में जानेवाले नहीं हैं, वैसे ही चार ज्ञान या केवलज्ञान होवे – ऐसी शक्ति भी नहीं है।

जहाँ आत्मा है, वह उसके सर्व गुण हैं। यहाँ क्या कहते हैं ? भाई! जितने गुण हैं, वे तेरे आत्मा में ही हैं; कहीं बाहर ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है। जितने-जितने प्रशंसा करने योग्य अच्छाई भलाई, पवित्रता जितना कुछ कहा जाता है, सब गुण भगवान तेरे आत्मा में हैं, भाई! वे नहीं संयोग में, नहीं कर्म में, नहीं दया-दान के विकल्प में, नहीं एक समय की पर्याय में, सब गुण आ जाते हैं। त्रिकाल, त्रिकाल...।

केवली भगवान ऐसा कहते हैं। लो, योगीन्द्रदेव को ऐसा कहना पड़ा। भगवान परमात्मा, जिन्हें अनन्त चक्षु हैं न, भाई! वे तो परमात्मा केवलज्ञानी हैं, जिन्हें अनन्त चक्षु हैं। वे अनन्त चक्षु असंख्य प्रदेशों में खिल गये हैं। वे भगवान ऐसा कहते हैं – जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ अनन्त पवित्र गुण; जहाँ-जहाँ अनन्त पवित्र गुण, वह आत्मा। कहो समझ में आया? योगीन्द्रदेव को भगवान को रखना पड़ा। ऐसे अनन्त गुण, भाई! तू ऐसा कहता है कि यह आत्मा है या नहीं? तो फिर जितने अच्छे... अच्छे... अच्छे... गुण कहे जाते हैं, जितनी स्वच्छता निर्मलता, पवित्रता की उग्रता जो कुछ कही जाती है, वह सब तेरे आत्मा में बसे हैं। प्रभु! श्रद्धा-ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, परमेश्वरता, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, भावअभाव, अभावभाव, भावभाव, अभावअभाव – ऐसे अनन्त गुण। जहाँ आत्मा वहाँ अनन्त गुण व्यापकरूप से ठसाठस भरे हैं।

इस कारण योगी निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं। लो, इस कारण से भगवान आत्मा पूर्ण पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसी का अनुभव सन्त करते हैं।

समझ में आया ? अनुभव करते हैं, देखा ? **निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं। विमलु, विमलु अप्पा मुणंति विमलुं** निर्मल का ही अनुभव करते हैं। **मुणंति** का अर्थ अनुभव करते हैं, हाँ! अकेला जानना, जानना ऐसा नहीं। जानने का अर्थ ही अनुभव करना, उसे जानना कहा जाता है। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप, उसके सन्मुख होकर, पर से विमुख होकर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसमें अनन्त गुण हैं। एक को अनुभव करने पर अनन्त गुण का अनुभव उसमें आ जाता है – ऐसा कहते हैं। एक भगवान आत्मा को अन्तर्दृष्टि में अनुभव करने से भगवान में रहनेवाले सभी गुण अनुभव में आ जाते हैं। आहा...हा... !

देखो, अभी यह बड़ा विवाद चलता है। अभी चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं होता... अरे... ! भगवान ! चारित्र के गुण का अंश न आवे तो वह द्रव्य परिणमित कहाँ से हुआ ? आनन्द का अंश न आवे तो उस अनन्त आनन्द को धरनेवाला द्रव्य वह दृष्टि में –प्रतीति में आया कहाँ से ? आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन कोई ऐसी चीज है कि सर्व गुण के अंश को प्रगट करके परिणमता है। समझ में आया ? 'सर्व गुणांश वह समकित' है न अपने यहाँ ? बड़े अक्षरों में लिखा है 'सर्व गुणांश वह समकित'। सर्व गुण में जितने अनन्त गुण भगवान आत्मा में भगवान ने देखे, उनमें सम्यग्दर्शन में समस्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से, प्रगटरूप से–प्रगटरूप से अनुभव में आता है। समझ में आया ? आहा...हा... ! शक्तिरूप से तो है परन्तु उसमें क्या ? इसलिए कहा न, अनुभवता है। अनुभव तो पर्याय में है न ? द्रव्य का अनुभव नहीं होता, द्रव्य-गुण का अनुभव नहीं होता; द्रव्य-गुण का ज्ञान होता है... अनुभव पर्याय में होता है, पर्याय का होता है। पर्याय में – अवस्था में द्रव्य क्या है – ऐसा लक्ष्य करके पर्याय को अनुभवते हैं। उसे आत्मा को अनुभवते हैं ऐसा कहने में आता है।

शुद्धात्मा का जहाँ श्रद्धान है, ज्ञान है व उसी का ध्यान है अर्थात् जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, उपयोग पञ्चेन्द्रिय व मन के विषयों से हटकर एक निर्मल आत्मा ही की तरफ तन्मय है, वही यथार्थ मोक्षमार्ग है। जब आत्मा का ग्रहण हो गया, तब आत्मा के सर्व गुणों का ग्रहण हो गया। ठीक है ? **क्योंकि द्रव्य**

के सर्व गुण उसके भीतर ही रहते हैं। भगवान परिपूर्ण द्रव्य की जहाँ अनुभव-दृष्टि हुई तो द्रव्य में अनन्त गुण रहते हैं तो अनन्त गुण भी उसमें आ गये। **मिश्री को ग्रहण करने से मिश्री के सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं।** ठीक है? मिश्री की डली हाथ ले तो मिश्री में जितने गुण हैं, वे सब आ जाते हैं।

आम का ग्रहण करने से, दूसरा दृष्टान्त दिया है, भाई! आम... आम का ग्रहण करने से आम का स्पर्श गुण आदि का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा को ग्रहण करने से आत्मा के समस्त गुणों का ग्रहण हो जाता है। कोई गुण बाकी नहीं रहता। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गणधर भी जिन्हें वन्दन करते हैं

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं, जैसे - गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि; इस प्रकार भगवान का मार्ग तो तलवार की धार जैसा अर्थात् दुःखरूप है, दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

बापू! तुझे पता नहीं है, तुझे सत्पुरुषों के चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है, क्योंकि तूने तो चारित्र को दुःखरूप माना है। जबकि चारित्र तो सुखरूप दशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सम्यक् दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति आनन्द का धाम मेरी वस्तु है - ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ उसमें आनन्दमय रमणता होती है अर्थात् आनन्दसहित सुखाकार-स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है।

(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण १०, बुधवार, दिनाङ्क १३-०७-१९६६
गाथा ८५ से ८६ प्रवचन नं. ३३

यह योगसार शास्त्र है। योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि हो गये, उन्होंने यह योगसार स्वयं के सम्बोधन के लिए बनाया है – ऐसा अन्त में लिखा है। पहले ऐसा कहा है कि जो भव भ्रमण से भयभीत है, जिसे त्रास लगा है, उसके लिए मैं बनाता हूँ। फिर लिखा कि मैंने अपनी भावना के लिए, सम्बोधन के लिए बनाया है। अन्त में वह गाथा है। योगसार का अर्थ, देखो! यह ८५ (गाथा में) कहा। '**जहाँ चेतन वहाँ सकल गुण**' यह पाठ है।

जहाँ चेतन तहाँ सकल गुण, केवली बोले ऐम।
प्रगट अनुभव आपनो, निर्मल करे सो प्रेम॥

आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न एक वस्तु है, उसकी अन्तर्दृष्टि अनुभव करने से एक आत्मा के ग्रहण में उसमें अनन्त गुणों का ग्रहण हो जाता है। समझ में आया?

एक भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त गुणरूप एकरूप, अनन्त गुणरूप एकरूप (वस्तु है)। कितने अनन्त गुण? आकाश के प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुने गुण हैं। आहा...हा...! छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति –परमात्मदशा को प्रवाह में प्राप्त होते हैं। छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति (प्राप्त करते हैं)। अभी तक में जितने मुक्त हुए उनसे अनन्तगुने जीव निगोद के एक शरीर में हैं। ऐसे-ऐसे जीव सिद्ध से अनन्तगुने हैं, जीव से पुद्गल की संख्या अनन्तगुनी है, पुद्गल से तीन काल के समयों की संख्या अनन्तगुनी है, उनसे आकाश के प्रदेश की संख्या अनन्तगुनी है। आहा...हा...!

यह भगवान कहते हैं कि, अनन्त गुण है। दोष तो कोई गुण का अल्प दोष है। समझ में आया? अनन्त गुण में दोष नहीं है। किसी गुण की किसी पर्याय में अल्प दोष है। गुण

तो अनन्त-अनन्त है। वे अनन्त-अनन्त गुण असंख्य प्रदेश में व्यापक है। आकाश के प्रदेश अमाप है, उसका कोई माप है? आकाश का कहीं अन्त आया? बाद में... बाद में... बाद में... बाद में... बाद में... (क्या)? नास्तिक को भी तर्क से कहना पड़ेगा कि आकाश है, उसमें चले जाओ तो उसका अन्त कहाँ? अन्त होवे तो बाद में क्या? ऐसा ही आकाश के क्षेत्र का, प्रदेश का भी अचिन्त्य स्वभाव है, अनन्त स्वभाव है, अमाप क्षेत्र है। ऐसे आकाश के अमाप अनन्त प्रदेश से एक भगवान आत्मा के अनन्त गुण हैं। ओहो...हो...! उन अनन्त गुणों का एकरूप भगवान आत्मा है। उसे अन्दर में से विश्वास आना चाहिए न! ऐसे का ऐसे कल्पना से, क्षयोपशम से धारणा कर ले वह बात नहीं है। समझ में आया?

अन्तर में उस भगवान आत्मा में इतने अनन्तानन्त... अनन्तानन्त गुण व्यापक हैं। भगवान आत्मा ऐसे एक रूप का अनुभव करने से, उस पर दृष्टि देने से, उसको ज्ञेय बनाने से, चारित्र में उसको आश्रय बनाने से, चारित्र में उसे आश्रय बनाने से अनन्त गुण की पर्याय (एक) समय में प्रगट होती है। समझ में आया?

वही कहते हैं, देखो! एक **आत्मा का ग्रहण हो गया, वहाँ आत्मा के सर्व गुणों का ग्रहण हो गया...** कल वहाँ आया था, भाई! दूसरा पैराग्राफ का अर्थ किया था। आहा...हा...! जहाँ विकल्प को अवकाश नहीं... वे अनन्तानन्त गुण जो स्वभावस्वरूप, आकाश का स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव, वहाँ तर्क और विकल्प क्या काम करेंगे? जिस ज्ञान में अमाप आकाश की प्रतीति हुई कि अमाप... अमाप... अमाप – ऐसे आकाश की संख्या से अनन्तगुने अमाप... अमाप... कोई माप नहीं। ओहो...हो...! ऐसा भाव समुदाय एक आत्मा, गुण समुदाय आत्मा... भाव समुदाय कहो या गुण समुदाय कहो, उसकी अन्तर रुचि करके अपने में वह वस्तु पोषाण में (आवे)। पोषाण को क्या कहते हैं हिन्दी में? पोषाण, पोषाण समझ में आया? व्यापारी को यह माल पोषाता है न? पोषाता है। यह अन्दर में पोषाण होना चाहिए... व्यापारी पाँच रुपये मन लाये, उसके छह रुपये पैदा हों तो माल लेगा न? पोषाता होगा तो माल लेगा या बिना पोषाये माल लेगा? पाँच रुपये मण ले और साढ़े चार में बिके (वह लेगा)?

इसी प्रकार आत्मा में इतने अनन्त गुण हैं, उनका पोषाण होना चाहिए। लक्ष्य में पोषाण (होना चाहिए कि) एक स्वरूप भगवान में अनन्त स्वरूप से गुण। कहते हैं, भगवान एक आत्मा को अन्तर्मुख दृष्टि करने से, पकड़ने से अनन्त गुण की पर्याय प्रगट होना उसमें आ जाता है। श्रद्धागुण प्रगट होता है, ज्ञानगुण प्रगट होता है, चारित्रगुण प्रगट होता है, आनन्दगुण प्रगट होता है, शान्तिगुण प्रगट होता है, स्वच्छता, प्रभुता आदि अनन्त गुण की पर्याय का अनुभव (प्रगट होता है)। सर्व गुणांश समकित की पर्याय में सर्व गुणांश आ जाते हैं। आहा...हा...! जितने द्रव्य में गुण हैं, उतनी उसकी प्रतीति करने से, निर्विकल्प अनुभव करने से उतने ही गुण के अंश पर्याय में प्रगट हो जाते हैं। समझ में आया? अपने आत्मा का अनुभव करने से इतना लाभ है। आहा...हा...! समझ में आया?

एक-एक गुण को ग्रहण करने से आत्मा का एक-एक अंश... खण्ड-खण्ड हो जाता है। सम्पूर्ण आत्मा ग्रहण नहीं होता, वह तो भेद हो जाता है, (इसलिए) विकल्प उत्पन्न होता है। गुण भी अनन्त हैं, उन एक-एक गुण को ग्रहण करने से (आत्मा का अनुभव नहीं होता)। एक-एक गुण (गिनों तो) तीन काल से अनन्तगुने गुण हैं। तीन काल के समय से अनन्त गुण हैं, कितनों को पकड़ना? आहा...हा...! एक समय में एक, एक समय में एक, अरे...! असंख्य चौबीसी में एक समय, एक गुण तो भी पार नहीं आवे इतने तीन काल से अनन्तगुने गुण हैं। आहा...हा...! भाव! जिसकी शक्ति का सत्व, उसकी संख्या का अमापपना भगवान ने (देखा है)। **जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण, केवली बोले ऐम;** प्रगट... **फुडु,** शब्द पड़ा है न? फुडु **प्रगट अनुभव आपका...** प्रगट श्रद्धा-ज्ञान से तू अनुभव कर। निर्मल प्रेम से अनुभव कर, पुण्य-पाप का प्रेम छोड़ दे। पर का प्रेम छोड़कर भगवान आत्मा का प्रेम लगाओ। **निर्मल करो सो प्रेम...** अनन्त गुण हैं, ऐसा तेरी पर्याय में प्रगट में और प्रतीति में आ जाएगा। अंशरूप से प्रगट में और प्रतीतरूप से सम्पूर्ण अनन्त (आ जाएगा)। आहा...हा...!

आत्मा महान प्रभु है, यह बात अन्दर में नहीं बैठी। महिमा यह पुण्य की, विकल्प की, दया, दान और धूल की (रही)। वीर्य की उल्लसितता, उल्लसितता (अर्थात्)

उत्साह वह राग में या संयोग में या अनुकूलता में (चालू रही)। उस उत्साह के आगे चिदानन्दभगवान अनन्त गुण के पिण्ड का अनादर हो जाता है, असातना होती है, उसका पता नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा एक समय में आत्मा को पकड़ने से, ज्ञेय करने से अनन्त गुण ज्ञान में ज्ञेय हो गये, प्रतीति में अनन्त गुण की प्रतीति हो गयी, स्थिरता में अनन्त गुण में अनन्त गुणरूप एकरूप आत्मा में भी स्थिरता हो गयी, वीर्य भी अनन्त गुणरूप एक द्रव्य की रचना करने के कार्य में वीर्य भी ऐसा कार्य करता है। आहा...हा...! समझ में आया? एक-एक गुण को ग्रहण करने से नहीं होता परन्तु अखण्ड-अभेद एक आत्मा को ग्रहण करने से अन्दर व्याप्त रहे हुए समस्त गुणों का ग्रहण हो जाएगा। इसलिए धर्मी जीव निश्चल होकर एक भगवान आत्मा... बाह्य से उपयोग को सबसे समेट कर अन्दर चैतन्य में लगाता है। (यह कोई) भाषा नहीं है, वस्तु है। भाषा से पार पड़े – ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा... आहा...हा...! अनन्तानन्त... अनन्तानन्त गुणरूप एक प्रभु है। मैं परमेश्वर साक्षात् प्रभु मैं ही हूँ – ऐसी महिमा आकर अन्दर में घुस जाए तो कहते हैं कि भगवान आत्मा में सर्व गुण व्याप रहे हैं, इसलिए उसका ध्यान करने से मुख्य तीन गुण प्रगट हो जाते हैं। अनन्त तो होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अपने निज एकरूप में तीनों अंश आ जाते हैं। कोई कहे कि ध्यान करने से उसमें दर्शन और ज्ञान (दो ही) आये, चारित्र नहीं आया। मोक्षमार्ग की अपेक्षा से (ऐसा नहीं है...) ऐसे तो अनन्त गुण प्रगट हैं, भगवान आत्मा अपना पूर्ण स्वरूप प्रभु, उसमें दृष्टि लगाने से दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता तीनों अंश उस समय में प्रगट हुए। अनन्त गुण प्रगट हुए, यहाँ से तो मोक्षमार्ग लिया है न!

वही सम्यक् तप है। देखो, समझ में आया? वह सम्यक् तप है। भगवान आत्मा अनन्त गुण का एकरूप (स्वरूप है), ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से इच्छा उत्पन्न नहीं हुई और अतीन्द्रिय आनन्द की प्रतपना, अतीन्द्रिय आनन्द का तपना, विशेष शोभित होना... जैसे स्वर्ण गेरु से ओपता है / शोभता है, गेरु... गेरु... गेरु को क्या कहते हैं? स्वर्ण... गेरु। ऐसे भगवान आत्मा अपनी उग्र दृष्टि से जहाँ आत्मा को पकड़ा, वहाँ इच्छा का अभाव हुआ

और अतीन्द्रिय आनन्द से प्रतपन ऐसी दशा प्रगट हुई, उसका नाम तप है। जहाँ आत्मा वहाँ अनन्त गुण प्रगट (हो जाते हैं)। समझ में आया ? आहा...हा... !

भगवान आत्मा एक स्वरूप से प्रभु अन्तर्मुख दृष्टि का आश्रय भगवान को बनाया तब राग-द्वेष का अभाव होने पर निश्चय अहिंसाव्रत भी हो गया। अहिंसक परिणाम हुए। अपना भगवान आत्मा पूर्णानन्द को पकड़ कर दृष्टि में लिया तो अहिंसक परिणाम / रागरहित परिणाम उत्पन्न हुए। रागरहित परिणाम उत्पन्न हुए, वही अहिंसा, सत्यव्रत है। अहिंसा, सत्यव्रत है। अहिंसा का सच्चा व्रत है। दया के परिणाम, वह अहिंसा का सत्यव्रत नहीं है। आहा...हा... ! अहिंसा का सत्य (व्रत), और अहिंसा का झूठा (व्रत)। भगवान तेरी चीज ऐसी है, भाई ! आत्मा एक समय में पूर्ण शुद्ध ध्रुव को अन्तर में सन्मुख होकर दृष्टि करने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए और राग की उत्पत्ति नहीं हुई। अन्दर में एकाकार होने से उतना सच्चा अहिंसाव्रत हुआ। समझ में आया ? पर तरफ का लक्ष्य (करके) जो अहिंसा का शुभभाव (होता है), वह अहिंसा सत्यव्रत नहीं है, वह झूठा व्रत है। झूठे का अर्थ वह शुभभाव है तो उपचार व्यवहार है। व्यवहार उपचार है, निश्चय से झूठ है, सत्यव्रत भगवान आत्मा... ! अरे... ! लोगों को यह कठिन पड़ता है, हाँ ! यह पर की दया का भाव... भाई ! वह तो राग है न भगवान ! उस राग में स्वरूप की हिंसा होती है। दुनिया के साथ मेल न खाये तो कोई दिक्कत नहीं है। बात तो ऐसी है।

भगवान आत्मा ऐसे परलक्ष्य में जाता है तो विकल्प उत्पन्न होता है, भाई ! विकल्प उत्पन्न होता है तो उतनी निर्विकल्प स्वरूप की हिंस्यते... हिंस्यते... हिंस्यते – हिंसा हो गयी। (लोगों को) यह बात नहीं रुचती, कुछ-कुछ करें तो उसमें कुछ है, कुछ है परन्तु राग नहीं करना और स्वभाव की एकाग्रता करना, उसमें सुख है। आहा...हा... ! यह दया धर्म अहिंसक परिणाम होना, वह दया धर्म का मूल है। उसने तो बाहर की बात कहना है। तुलसीदास ने ! यह कहा वहाँ था ? सब सुना है न, साठ वर्ष से सुनते हैं, 'दया, धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान, तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण।' यह तो हम दुकान पर बैठते थे, तब बहुत बाबा निकलते थे, बहुत सुना।

यह भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा वह आत्मा, उसकी अन्तर में दृष्टि करने से

एकाकार होकर अनुभव होता है, वही सच्ची दया है, अपनी दया है। समझ में आया? बात ऐसी है, भाई!

मुमुक्षु : दया तो किसी की पलती है न?

उत्तर : दया अपनी पाले, किसी की पाल नहीं सकता। (पर की दया पाले वह) बात ही मिथ्या है। परद्रव्य की अवस्था आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। क्या परद्रव्य वर्तमान पर्याय से रहित खाली है? 'पर्याय विहूम द्रव्यं' पर्यायरहित द्रव्य है कि उसकी पर्याय दूसरा कर दे? कल यह आया था। 'पज्जम् विहूणं द्रव्यं, द्रव्यं विहूणं पज्जम्' महासिद्धान्त, महासिद्धान्त। कोई भी पदार्थ किसी भी समय पर्यायरहित नहीं होता। भगवान! अब तुझे क्या करना है? तुझे दूसरी पर्याय करना है? वह द्रव्य पर्यायरहित है? और तू भी तेरी पर्याय बिना का द्रव्य है? कि तेरा कार्य किये बिना रहे? आहा...हा...!

यह तो बहुत स्पष्ट तो आया है, भाई! इतनी अधिक बात बहुत आ गयी है। शास्त्रों के अर्थ, स्पष्टीकरण तो बहुत (हो गये हैं)। चार लाख साठ हजार तो बाहर आ गयी है। चालीस हजार तो इस वर्ष छपना है। वे कहते हैं, ऐई...! एकान्त है... एकान्त है। 'उदयपुर' में तेरहपन्थ में पढ़ते थे न? उन्हें कहे एकान्त है जाओ। बन्द करो, बीस पन्थियों ने तो बन्द कर दिया है। अरे... भगवान! भाई!! एकान्त है, सोनगढ़ का साहित्य एकान्त है। तेरा पन्थी अकेले में कहते हैं – ऐसा खुल्ला नहीं कहते हैं। अरे... प्रभु! तूने सुना नहीं है। प्रभु! तेरा पन्थ, तेरा पन्थ – भगवान का पन्थ क्या है? ओहो...हो...! उसे बात ऐसी लगती है कि राग से आत्मा में कुछ लाभ होता है और निमित्त से कार्य में कुछ फेरफार होता है तो निमित्त की निमित्तता रहती है और राग-शुभराग से आत्मा में कुछ लाभ होता है तो शुभराग की शुभरागता रहती है। भगवान! ऐसा नहीं है, हाँ! आहा...हा...!

मुमुक्षु : अशुभ में से बचता है।

उत्तर : अशुभ से बचे वह वास्तव में तो स्वरूप की दृष्टि के कारण से बचता है। वरना तो जहाँ दृष्टि राग के ऊपर है, वहाँ बचा कहाँ से? मिथ्यात्वभाव तो है। राग की रुचि है, वहाँ मिथ्यात्वभाव तो है तो अशुभ तो मिथ्यात्व है, बचा कहाँ से? आहा...हा...! भाई मार्ग ऐसा है, हाँ! यह कोई कल्पना की बात नहीं है, वस्तु ही ऐसी है, उसमें करना क्या?

भगवान ने क्या किया है? भगवान ने बनाया है? कहा है इसलिए बनाया है? उन्होंने तो जाना वैसा कहा, वैसी वस्तु ही है, अनादि की वस्तु है, उसमें तुझे क्या (करना है) ? उसमें गड़बड़ करे तो नहीं चलेगा। आहा...हा...!

कहते हैं भगवान आत्मा इन राग-द्वेष के अभाव से अपने स्वरूप में एकाकार हुआ। 'जहाँ चेतन, वहाँ अनन्त गुण' उसमें यह जरा सी पर्याय लेते हैं। गुण तो अनन्त हैं, परन्तु अपने स्वरूप की एकाग्रता करने से वहाँ अहिंसा (होती है)। एक-एक गुण की, अहिंसा गुण की पर्याय भी प्रगट होती है। वह स्व का आश्रय करने से, स्व का आश्रय करने से अहिंसा की पर्याय भी प्रगट होती है। उसमें कोई (गुण) बाकी नहीं रहता।

सर्व असत् परपदार्थों के त्याग से और सत् निजपदार्थ के यथार्थ ग्रहण से आत्मा में ही निश्चय सत्यव्रत है। भगवान सत्स्वरूप परमात्मा, सत्यस्वरूप, सत्साहेब का अन्तर परमात्मा का दृष्टि में अनुभव किया तो उसमें परम सत्यव्रत भी आ गया। परम सत्यव्रत, व्यवहार सत्यव्रत का विकल्प वह तो (राग है)। आहा...हा...! परम सत्य का स्वीकार, परम सत्य का स्वीकार, परम पूर्णानन्द का स्वीकार और उसकी परिणति हुई तो उस परिणति की पर्याय में परम सत्य महाव्रत भाव भी प्रगट हो गया, निश्चय सत्यमहाव्रत आ गया। आहा...हा...! समझ में आया? यह सब हिन्दी (लोग आये हैं) तो हिन्दी में (व्याख्यान) करते हैं। दोपहर में गुजराती में करते हैं, उसमें थोड़ा सा हिन्दी आता है न इसलिए हिन्दी रखा है। दोपहर में गुजराती। यहाँ तो हिन्दी है, इसका हिन्दी अर्थ करना और फिर गुजराती करना। यह करने से कहा ऐसा लगाओ। आहा...हा...! भाषा निकलने की हो वैसी निकलती है। समझ में आया?

पुद्गल आदि गुण-पर्याय, राग की चोरी नहीं करते। भगवान आत्मा अपने अनन्त गुणरूप से विराजमान प्रभु, उसकी अनुभव में दृष्टि करके जहाँ अनुभव हुआ तो राग की पर्याय को अपने में नहीं लिया तो महा अचौर्यव्रत प्रगट हुआ। आहा...हा...! एक राग का कण भी अपने में नहीं लिया और त्रिकाल आनन्दकन्द भगवान की निर्मल अचौर्यदशा प्रगट हुई। पर को पकड़े बिना अपनी पकड़ की और पर की पकड़ छोड़ दी। आहा...हा...! समझ में आया?

जहाँ चेतन तहाँ अनन्त गुण, केवली बोले एम।
प्रगट अनुभव आपनो, निर्मल करो सो प्रेम॥

चेतन प्रभु चैतन्य सम्पदा रे तेरे धाम में... प्रभु! तेरे धाम में अनन्त सम्पदा विराजमान है। बैकुण्ठपना तेरे धाम में विराजमान है। आहा...हा...! वे बैकुण्ठ वहाँ ढूँढने जाते हैं। 'मथुरा' में है और अन्य कहे यहाँ है अथवा यहाँ है। यह कहता है मुक्तिशिला में है। यहाँ है। समझ में आया? आहा...हा...! **सन्तोष रखने से आत्मा में ही निश्चय अचौर्यव्रत है।**

भगवान आत्मा, परपदार्थ में एकाकार नहीं होकर परम ब्रह्मस्वरूप आत्मा में विहार करने लगा। स्वभाव की दृष्टि करने से एकाकार हुआ, वह ब्रह्मव्रत हुआ। ब्रह्मानन्द भगवान में एकाकार हुआ, वह ब्रह्मव्रत हुआ। पर्याय में ब्रह्मव्रत आ गया। निश्चय ब्रह्मव्रत, हाँ।

सर्व विकार और मूर्च्छा का त्याग... भगवान आत्मा में शुद्ध दृष्टि हुई, अनन्त गुण के पिण्ड को पकड़ लिया तो सर्व विभाव और पर की मूर्च्छा मिट गयी, वही अपरिग्रहव्रत की परिणति है। आत्मा में निवृत्तरूप परिणमन हुआ, असंगभाव में रमण करने से परिग्रह त्याग व्रत भी हुआ। उसमें क्या नहीं आता? समझ में आया?

जब आत्मा, आत्मा में सत्यभाव से स्थिर हुआ तो निश्चय सामायिक भी आ गयी। लो, सामायिक (आयी)। कल सामायिक आयी थी न 'तत् सामायिक होई केवली भाखे ऐम' भाई! तेरे क्षेत्र में कहाँ गुण की हीनता है? तेरे क्षेत्र में कहाँ गुण की कमी है कि अपने क्षेत्र के सिवाय दूसरे क्षेत्र में तुझे ढूंढना है। समझ में आया?

भगवान असंख्य प्रदेशी प्रभु, परम पारिणामिक स्वभावभाव का द्रव्यस्वभाव पिण्ड है। उदय आदि है, वे एक समय के हैं, भले वे असंख्यप्रदेश में व्यापक हैं। उदय-उपशम -क्षयोपशम क्षायिक, ये असंख्य प्रदेश में व्यापक हैं परन्तु उनकी स्थिति एक समय की है और भगवान त्रिकाल अनन्त गुण के पिण्डरूप परिणमन स्वभाव, वह है असंख्य प्रदेश में परन्तु उसकी स्थिति त्रिकाल है। समझ में आया? ऐसा भगवान त्रिकाल असंख्यप्रदेश में परम पारिणामिक अनन्त गुण का संग्रह रखता है। संग्रह... संग्रह... यह भगवान (आत्मा) संग्रहालय है। अनन्त गुण का संग्रहालय! आहा...हा...! यह बाहर के दाने,

चाय और शक्कर संग्रह करते हैं, उसे संग्रह कहते हैं ? संग्रह करते हैं। यह तो अनन्त गुण का संग्रहालय, कितने अनन्तानन्त केवली भी एक-एक समय में असंख्य गुण की बात करें, एक समय में तो उनकी करोड़ पूर्व की स्थिति आठ वर्ष में इतने नहीं कह सकते। स्वभाव है न! वस्तु और स्वभाव... वस्तु स्वभाववान। स्वभाव, वस्तुस्वभाव रहित होती है ? स्वभाव।

ऐसा अनन्तगुण का पिण्ड प्रभु, उसमें एकाकार होने से, कहते हैं कि सत्यभाव का आदर हुआ। सत्यरूप स्वभाव भगवान आत्मा की एकाग्रता हुई, यह सत्य का आदर हुआ, वह सामायिक है। जब वीतरागता हुई, आत्मा की दृष्टि करके अनुभव किया, जहाँ आत्मा वहाँ अनन्त गुण... **तब भूतकाल के बँधे हुए कर्मों के प्रति वीतरागता होती है और वे कर्म स्वयं निर्जरा को प्राप्त होते जाते हैं, इसलिए वहीं निश्चयप्रतिक्रमण है।** निश्चयप्रतिक्रमण हुआ। भगवान आत्मा अपना अनन्त गुणरूप एक द्रव्यस्वरूप का अनुभव करने से उसकी पर्याय में भूतकाल के रागादि का नाश हो गया। निवृत्तरूप परिणमन हुआ, वही निश्चयप्रतिक्रमण है। समझ में आया ?

भविष्य में होनेवाले विभावों का भी त्याग हुआ... उसका नाम निश्चयप्रत्याख्यान है। अपने यह सब आ गया है। पहली गाथा, नियमसार, नहीं ? कौन-सी गाथा ? समाधि पहले की न ? प्रायश्चित्त ? प्रायश्चित्त की पहली गाथा। व्रत, नियम सब (लिया है) मूल पाठ – पाँच महाव्रत, गुप्ति और समिति सब आत्मा की पर्याय में समा जाते हैं। निर्मल, हाँ! यह आ गया है। मूल पाठ में है। निश्चय... निश्चय... समझ में आया ? भगवान आत्मा में अन्तरस्वरूप का आश्रय किया (वहाँ) उसकी दशा में क्या कमी रह गयी ? ऐसा कहते हैं। सभी गुण, जितना तुम कहते हो उन सब गुण की पर्याय का परिणमन प्रगट हो गया। समझ में आया ?

एकाग्रभाव में लीन है... भगवान आत्मा अपने गुणों में अथवा गुणी में एकाग्र है। **वही (गुण की) निश्चय स्तुति है।** इसका नाम स्तुति हुई। समयसार ३१ गाथा में कहा है न ? कुन्दकुन्दाचार्यदेव को पूछा – प्रभु! केवली की स्तुति किसे कहते हैं ? भगवान! केवलज्ञानी की स्तुति आप किसे कहते हैं ? तो उत्तर देते हैं। हम तो पूछते हैं कि

केवलज्ञानी की स्तुति किसे कहते हैं ? तो कहते हैं कि तेरा अनन्त गुणरूप एक द्रव्य अतीन्द्रिय स्वरूप का अनुभव कर, यह केवलज्ञान की स्तुति है। जवाब यह दिया है। मैं तो केवली परमात्मा भगवान केवली की स्तुति पूछता हूँ। पण्डितजी ! ऐसा उसमें आया न ? केवलज्ञान की स्तुति पूछता हूँ, प्रभु ! केवलज्ञान की स्तुति तो हम उसे कहते हैं, **जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं**। आहा...हा... ! भाई ! तेरा आत्मा राग और विकल्प से पार अधिक / भिन्न चिदानन्द एकरूप स्वभाव है – ऐसी दृष्टि का अनुभव करना, उसे ही हम केवलज्ञानी की स्तुति कहते हैं। परन्तु मैं पूछता हूँ कि भगवान की स्तुति किसे कहते हैं ? और आप ऐसा कहते हो ? सुन तो सही ! आहा...हा... ! वे कहते हैं, जब व्यवहार की बात चलती है तब निश्चय की बात करते हैं। वे, तलोद... तलोद में पहले आते थे। भगवान सुन न भाई !

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को पूछा कि महाराज ! आप केवलज्ञानी की स्तुति किसे कहते हो ? (तो कहते हैं कि) हम केवलज्ञानी की स्तुति को उसे कहते हैं कि अपना ज्ञानानन्दस्वभाव राग से अधिक अर्थात् भिन्न, विकल्प से भिन्न, निमित्त से भिन्न और कर्म से भी भिन्न तथा अपने अनन्त गुण से अभिन्न द्रव्य, ऐसा अनुभव करनेवाला केवली की स्तुति करता है – ऐसा हम नहीं, सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! यह सर्वज्ञ कहते हैं। कौन कहते हैं ? 'केवली बोले ऐम'। भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारी स्तुति का अर्थ क्या ? कि तेरे अनन्त गुण में एकाकार होना, वही केवली की स्तुति है। समझ में आया ? स्तुति हुई न ?

(अब) आराधना... भगवान आत्मा विकल्प से हटकर, भगवान पूर्णानन्द की ओर की आराधना हुई, सेवन हुआ, स्वभाव सन्मुख की लीनता हुई तो कहते हैं कि वही अपना विनय करता है, वही निश्चय वन्दना, गुरु की वन्दना है। तख्तमलजी ! यह बात अद्भुत, भाई ! भगवान ! तेरी तो सर्वस्थिति तुझमें ही समा जाती है। परमेश्वर ऐसा कहते हैं। परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि हम यह कहते हैं। आहा...हा... ! जिनको एक समय में तीन काल-तीन लोक स्वयं की पर्याय में ज्ञात हो गये हैं, पर्याय में ज्ञात हो गये, हाँ ! एक गुण की एक पर्याय एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान एक समय में आ गया। उन

भगवान की वाणी में ऐसा आया कि तेरी वस्तु भगवान अखण्ड अभेद की दृष्टि कर, अनुभव कर। यही गुरु की वन्दना है, यह गुरु की वन्दना है। आहा...हा...! भगवान कहते हैं कि यह गुरु की वन्दना है। यह बाहर से गुरु की वन्दना करते हैं, वह तो विकल्प है, व्यवहार है, पराधीनता है। यह होता है, वह अलग बात है परन्तु वह वस्तुस्थिति नहीं... होता है, व्यवहार बीच में आता है। जब तक निश्चय में पूर्णता प्राप्त न होवे, तब बीच में व्यवहार आये बिना नहीं रहता। राग आता है, भक्ति, स्तुति, वन्दन, पूजा (का भाव आता है) परन्तु उसकी मर्यादा पुण्य-बन्ध की है। उससे आगे ले जाओ तो वस्तुस्थिति में वह समाहित नहीं हो सकता। समझ में आया? लो, यह वन्दना हुई, ठीक!

अपने में स्थिरता कर ले, वही निश्चय कायोत्सर्ग है। यह कायोत्सर्ग हुआ। यह अपने आगे आ गया है, नियमसार में आ गया, कायोत्सर्ग। सात गाथा है। कायोत्सर्ग योग का। यह योगसार है तो इसमें भगवान ने योग लिया है। आत्मा पूर्णानन्द प्रभु अभेद वस्तु में जुड़ान करना। योग... योग... योग... जुड़ान (करना) बस! उसका नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग... आत्मा... एकान्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं। हमारे व्यवहार का तो कोई मूल्य नहीं रहता... व्यवहार से कुछ लाभ होता है, यह कुछ (नहीं कहते)। भगवान! व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : कर्म तो कम बँधते हैं न?

उत्तर : बिलकुल कम नहीं। वह तो स्वभाव का आश्रय हुआ, उतना बन्धन घट गया है।

मुमुक्षु : व्यवहार है तो निश्चय है?

उत्तर : व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं है। राग की मन्दता है तो अराग परिणमन है, ऐसा है? ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता। आहा...हा...! पूर्ण आश्रय जब तक न हो, भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय जब तक न हो, तब तक वहाँ पराश्रय में भगवान कहते हैं वैसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता परन्तु उसकी मर्यादा जानता है। उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा अमृतचन्द्राचार्य महाराज (समयसार में) बारहवीं गाथा में कहते हैं। पण्डितजी! बारहवीं गाथा है न? **सुद्धो**

सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं। वहाँ **यदात्वे** ऐसा संस्कृत में पाठ है। **यदात्वे** उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। जब तक सर्वज्ञ न हो, तब तक (जाना हुआ प्रयोजनवान है)।

मुमुक्षु : किया हुआ प्रयोजनवान् नहीं?

उत्तर : किया हुआ नहीं। करे क्या? जाना हुआ प्रयोजनवान है। तेरहवें वर्ष में इन्दौर में भी कहा था, व्याख्यान हुआ था, तब 'बंशीधरजी' थे न? सोलापुर के, वे आये थे, हम वहाँ उतरे थे न, क्या कहलाता है वह? नसियाजी... नसियाजी...। पहले वहाँ उतरे थे, वहाँ आये थे। पहले तो आकर कहा मैं अभिनन्दन देता हूँ। (मैंने कहा) क्या है? ऐसे साधारण गरीब जैसे लगते हैं। पण्डितजी आये हैं – ऐसा पता नहीं (आकर) पैरों में गिर गये (और कहा) अभिनन्दन देता हूँ। कहा क्या है? तुम कौन हो? बंशीधरजी! कहाँ के! अरे... पण्डितजी! आपने कहा व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसी बात अभी तक तो हमने सुनी नहीं। व्यवहार है **यदात्वे** उस काल में... उस काल में अर्थात् उसमें विशेषता है। जितना स्वभाव का आश्रय करके शुद्धता प्रगट हुई, वह तो निश्चय है और जितना अभी राग बाकी रहा, उतनी शुद्धता की अल्पता और राग का ज्ञान करना उस काल में, फिर शुद्धता की वृद्धि हुई और राग घटा तो उस काल में उतना ज्ञान करना, वह प्रयोजनवान है। उतनी-उतनी जैसे जैसे शुद्धि बढ़ती जाए और राग घटता जाए, उस प्रकार का ज्ञान वहाँ करना, वह प्रयोजनवान है। उस-उस काल में वैसा ज्ञान करना, वह प्रयोजनवान है। समझ में आया? भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है।

व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं है, दोनों में अन्तर है। दोनों की दिशा में अन्तर है। दोनों के फल में अन्तर है और दोनों के भाव में अन्तर है, भाई! क्या हो? यह कहाँ कोई वस्तु बदली जा सके ऐसी है? कि भाई! नहीं... नहीं... यह सबको ठीक लगे तो ऐसा कहो। भाई! तुझे ठीक ही इसमें पड़े ऐसा है, हैं? आहा...हा...! आत्मा शुद्ध प्रभु आत्मा है। तुझे कहीं ठीक न लगे तो वहाँ ठीक लगे ऐसा अन्दर में है।

बहिन ने (बहिनश्री ने) एक बार कहा था, कहीं न रुचे तो आत्मा में रुचे ऐसा है, समझ में आया? आहा...हा...! पता है? बात तो यही है, शब्दों में फेर है। आत्मा,

भगवान आत्मा, तुझे कहीं ठीक न लगे तो जा अन्दर! समझ में आया? तेरे हाँकने से कोई साथ न आवे तो तू अकेला जाना, तुझे किसी का क्या काम है? कि अरे...! हम ऐसी बात करते हैं और यह (मानते नहीं) अब तुझे काम क्या है? ***हाँकल,*** वाणी जड़ है, विकल्प है वह बन्ध का कारण है कोई समझे न समझे वह कोई तेरे आश्रित नहीं है। कहो, समझ में आया?

'अकेला जाना रे' आता है न कहीं? नहीं? क्या आता है? 'मेघाणी', 'नहीं', मूल तो 'रविन्द्रनाथ टैगोर' का है। वह तो उनकी शैली से बात है, अपनी दूसरी शैली है, हाँ! 'तेरी पुकार सुनकर कोई न आवे तो अकेला जाना रे...' यह श्लोक अभी आयेगा, यह आयेगा। **एक्कलउ** यह छियासी (गाथा में भी) आयेगा। छियासी गाथा का पहला शब्द है। यह पिच्चासी (गाथा) अपने चलती है न? छियासी में है। पण्डितजी! छियासी है न? यह गाथा **एक्कलउ** यह छियासी गाथा है। अपने पिच्चासी चलती है। **एक्कलउ इंदिय रहियउ** अकेला **इंदिय रहियउ** भगवान!

योगसार तो अलौकिक बात। दिगम्बर सन्तों की क्या बात! ओ...हो...! इनके तो एक-एक श्लोक में चौदह पूर्व का सार है। सन्त, जिनकी अन्तरदशा छठवें-सातवें... आहा...हा...! क्षण में अन्तर्मुहूर्त में, यह अन्तर्मुहूर्त अर्थात् पौन सेकेण्ड कहलाता है। असंख्य समय को भी अन्तर्मुहूर्त कहते हैं, छोटे को। परन्तु वह पौन सेकेण्ड रहा। परन्तु अन्तर्मुहूर्त कहलाता है, असंख्य समय है। पौन सेकेण्ड में भी असंख्य है, हाँ! और इससे आधा काल सातवें का। क्षण में अतीन्द्रिय आनन्द, क्षण में यह (विकल्प); क्षण में यह (आनन्द)। एक दिन में हजारों बार छठा-सातवाँ यह भी कोई बात! प्रतिक्षण साक्षात् परमात्मा का स्पर्श करते हैं, वह तो फिर मन्द पुरुषार्थ है, इसीलिए शीघ्र विकल्प उठता है। छठवें का प्रमाद विकल्प वह बन्ध का कारण है। इतम... इतम... ऐसा जाता है। ऐसे जाए वहाँ सातवाँ, ऐसी दशा मुनि की। उन्होंने यह श्लोक बनाये हैं, लो! बनाये हैं अर्थात् उनका निमित्त है। समझ में आया?

वही निश्चय कायोत्सर्ग है... कहो, ठीक! यह तीन गुप्ति भी यह है, भगवान आत्मा! अपने निज स्वरूप में अन्दर में सावधान... सावधान... सावधान... होकर, दृष्टि

ज्ञान और चारित्र – तीनों अन्दर में एकाकार हुए तो तीन गुप्ति हो गयी। वहाँ तीन गुप्ति हो गयी, मन-वचन-काया, सबका अवलम्बन नहीं रहा। इसमें ही तीनों गुप्ति हो गयी। ओ...हो... ! पाँच इन्द्रियों का निरोध स्वयं हो गया। लो ! पाँच इन्द्रियों का लक्ष्य नहीं रहा। अतीन्द्रिय पर स्वयं एकाकार हो गया। उसका नाम संयम है। समझ में आया ? उसका नाम उत्तम क्षमा है, इत्यादि दूसरे धर्म ले लेना।

समस्त ही शुद्धगुणों को निवास आत्मा में है। जिसने आत्मा का आराधन किया, उसने सर्व आत्मिक गुणों को आराधन कर लिया। आत्मा के ध्यान से ही आत्मा के गुण विकसित होते हैं। विकसित अर्थात् पर्याय में प्रगट होते हैं। समझ में आया ? **श्रुतज्ञान की पूर्णता होती है।** अपने स्वरूप में एकाकार होने से श्रुतज्ञान की पूर्णता होती है। पढ़ने-लिखने से कोई पूर्ण ज्ञान होता है ? **अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की रिद्धि प्रगट होती है...** यह रिद्धि है, वह साधन नहीं है। अवधि, मनःपर्यय (ज्ञान) कहीं मोक्ष का साधन नहीं है परन्तु बीच में रिद्धि (प्रगट होती) है। आहा...हा... ! मति-श्रुतज्ञान तो साधन है, स्वरूप में एकाग्रता होकर केवलज्ञान लेते हैं। यह तो बीच में एक रिद्धि आती है। **अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की रिद्धि प्रगट होती है, केवलज्ञान का लाभ होता है...** लो ! **निर्वाण का परम उपाय एक आत्मा का ध्यान है...** लो !

तत्त्वानुशासन में कहा है – जो वीतरागी आत्मा, आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है और जानता है, वह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है। दृगवगमचरणरूपस्य ऐसा है न ? तीसरा पद। आहा...हा... ! 'तत्त्वानुशासन...' समझ में आया ? स्वयं सम्यग्दर्शन आदि (रूप होता है) **इसलिए निश्चय मोक्षमार्गस्वरूप है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। जिनोक्तिः** ऐसा है। देखो, ओ..हो... ! दिगम्बर सन्त भी जहाँ-तहाँ भगवान को मुख के आगे रखते हैं, हाँ ! परमात्मा ऐसा कहते हैं, भाई ! हम कहते हैं, वह परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ (कहते हैं) इनकार मत करना, हाँ ! इनकार मत करना। हैं ? बहुत दया, करुणा (करके कहते हैं) भाई ! मार्ग तो ऐसा है प्रभु ! केवली ऐसा कहते हैं। देखो, इसमें भी केवली आया। उसमें (छियासी गाथा में)

जिनोक्तिः आया। उसमें केवली कहते हैं ऐसा आया (छियासी में) **जिनोक्तिः** कहते हैं। **जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं**। उसमें मुनि कहते हैं – ऐसा आया था।

☆ ★ ☆

एक आत्मा का ही मनन कर

एक्कलउ इन्द्रिय-रहियउ-मण-वय-काय-ति-सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि॥ ८६॥

एकाकी इन्द्रिय रहित, करि योग त्रय शुद्ध।
निज आत्म को जानकर, शीघ्र लहो शिवसुख॥

अन्वयार्थ – (**एक्कलउ**) एकाकी निर्ग्रन्थ होकर (**इन्दिय रहियउ**) पाँचों इन्द्रियों से विरक्त होकर (**मण-वय-काय-ति-सुद्धि**) मन-वचन-काय की शुद्धि से (**तुहुँ अप्पा अप्पु मुणेहि**) तू आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर (**सिव-सिद्धि लहु पावहि**) मोक्ष की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

☆ ★ ☆

८६ ! **एक आत्मा का ही मनन कर**। योगसार है न।

एक्कलउ इन्द्रिय-रहियउ-मण-वय-काय-ति-सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि॥ ८६॥

लहु और फुडु ऐसे बहुत शब्द आते हैं। अल्प काल में तेरी मुक्ति होगी, भगवान! **एकाकी... एक्कलउ** का भाई ने जरा ऐसा अर्थ किया है, निर्ग्रन्थ होकर ऐसा। यहाँ तो गुणस्थान के भेद भी व्यवहार में जाते हैं। अपना अकेला स्वरूप चिदानन्द अभेद, बस! उसमें तू एकाकार हो जा।

इन्द्रियों से विरक्त होकर... पाँच इन्द्रियों से विरक्त होकर, **मन-वचन-काया की शुद्धि से तू आत्मा द्वारा आत्मा का मनन कर**। ओहो...हो... ! आत्मा सम्पूर्ण पूर्ण

प्रभु, उसका पूर्ण स्वभाव, उस स्वभाव का ही एक का घोलन कर, घोलन कर, उस स्वभाव का ही घोलन कर। समझ में आया ? किसी विकल्प को स्पर्श न कर। यह स्वभाव पूर्ण स्वरूप व्यापक असंख्य प्रदेशी, अनन्त, इसमें ही, इसमें ही घोलन कर।

आत्मा द्वारा आत्मा का मनन कर... मनन का अर्थ विकल्प की बात नहीं है, हाँ! मनन अर्थात् विकल्प, चिन्ता बिलकुल नहीं। अन्तर में ऐसा का ऐसा एकाकार स्वरूप में पूर्ण एकाकार (हो)। **मोक्ष की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा...** तुझे मुक्ति की सिद्धि हो जायेगी, उसका फल मुक्ति है। समझ में आया ?

आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिए। गृहस्थपने में इतनी चिन्ता का त्याग नहीं हो सकता। इतनी बात विशेष करते हैं। **गृहस्थ का व्यवहार धर्म...** व्यवहार धर्म षट्कर्म, दया, दान आदि का विकल्प, **पैसा कमाना...** (यह) अर्थ पुरुषार्थ; **कामभोग करना...** यह काम पुरुषार्थ; **इन तीनों कार्यों के लिए मन-वचन-काया को चञ्चल और राग-द्वेष से पूर्ण आकुलित रखना पड़ता है...** धर्म, काम, अर्थ, मोक्ष फिर, यहाँ तो अभी तीन के विकल्प हैं न ? अर्थ (अर्थात्) पैसा कमाने का अशुभराग, काम अशुभ(राग) और धर्म शुभ परन्तु है तो शुभविकल्प की जाल।

कोई ऐसा कहता है कि उसे भी धर्म कहा है और उसे तुम पुण्य कहते हो ? फिर कितने ही ऐसा कहते हैं। परन्तु भाई ! उसे 'समयसार' में पुण्य कहा है। प्रभु ! व्यवहार धर्म कहो या पुण्य कहो। निश्चय धर्म नहीं, व्यवहारधर्म। व्यवहार धर्म अर्थात् धर्म नहीं, धर्म नहीं; नहीं उसे कहना, उसका नाम व्यवहार है। अब उसे भाषा में तकलीफ आती है, वे पण्डित आये थे न, नहीं ? तर्क तीर्थ, जमनालालजी। उन्हें अधर्म कहा तो कहने लगे नहीं... नहीं... नहीं... परन्तु तुम्हें शब्द में क्या तकलीफ आती है ? भगवान आत्मा !

मुमुक्षु : सुनना रुचता नहीं है ?

उत्तर : अरे... ! परन्तु किसलिए नहीं रुचता ? प्रभु ! तेरी शान्ति तुझे नहीं रुचे और राग रुचे ? तो तू कहाँ जाएगा ? समझ में आया ? जहाँ तक राग का पोषण और रुचि है, वहाँ तक वीर्य अन्दर में जाने का कार्य नहीं कर सकता। समझ में आया ? जैसा उसका स्वरूप स्वतन्त्र शुद्ध है, वैसी अन्तरदृष्टि करने में यदि राग की रुचि रह गयी और उससे कुछ लाभ

है, किञ्चित् लाभ है, कुछ लाभ है (ऐसा रह जाएगा) तो दृष्टि वहाँ से हटेगी नहीं – ऐसी वस्तु है। हो, व्यवहार हो, उससे कौन इनकार करता है ? परन्तु यदि उसकी रुचि रह गयी तो अन्तरङ्ग में (नहीं जाया जा सकेगा)।

वीर्य का काम ही यह है कि स्वरूप की रचना करना। वीर्य का काम राग की रचना करना ऐसा है ही नहीं। सैतालीस शक्तियाँ हैं, पण्डितजी ! सैंतालीस शक्तियाँ आती हैं न ? उसमें ऐसा लिया है, वीर्यगुण किसे कहते हैं ? भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं – वीर्य, स्वरूप की रचना करे, उसे हम वीर्य कहते हैं। भगवान आत्मा अपने अनन्त गुण की निर्मल रचना पर्याय में करे, उसका नाम वीर्य है। राग रचना (होती है) वह वीर्य अपना वीर्य है ही नहीं। है तो अपना पुरुषार्थ, हाँ ! परन्तु वह कृत्रिम है, दोष है, इसलिए गिनने में नहीं आया है। शास्त्र में ऐसा लिया है ! भगवान ! सैंतालीस शक्ति का वर्णन अलौकिक वर्णन है।

वीर्यगुण का कार्य क्या ? स्वरूप की रचना। तो क्या राग अपना स्वरूप है ? व्यवहार रचना, वह वीर्य का कार्य है ? सम्यक् वीर्य अपना है, उसका कार्य है ? आत्मा के वीर्य का वह काम है ? समझ में आया ? ऐसी बात बाहर प्रसिद्ध हो तब कहते हैं, घर का अर्थ करते हैं। ऐसा कहते हैं भाई ! ऐसा नहीं है, भाई ! यह तो अन्दर लिखा है, उसके भावों को गूढ़रूप है, उसे खोलते हैं, खोले हैं, दूसरा कुछ नहीं है। घर की एक बात नहीं है। आहा...हा... ! परन्तु इसे अन्दर जँचा न हो, इसलिए समझ में नहीं आता, इसलिए दूसरा अर्थ करता है। क्या करें ? स्वतन्त्र जीव है। भाई ! अनन्त काल से इसने ऐसा ही किया है। तीर्थङ्कर के जीव ने ऐसा किया है। क्यों पण्डितजी ! तीर्थङ्कर के आत्मा ने पहले ऐसा किया था न ? पहले अज्ञान में ऐसा किया था। नौवें ग्रैवेयक गया उसने ऐसा ही किया था। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, **गृहस्थ का व्यवहार धर्म...** देखो, यह व्यवहार धर्म कैसा है ? कि **मन-वचन-काया को चञ्चल और राग-द्वेष से पूर्ण आकुलित रखना पड़ता है...** व्यवहार धर्म में आकुलता है, विकल्प है, भाई ! **और पाँच इन्द्रियों के भोगों में फँसना पड़ता है...** पर की तरफ लक्ष्य जाता है न ?

जब सर्व चिन्ताएँ मिटती हैं, तब ही मन स्थिर होकर सङ्कल्प-विकल्परहित होकर अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का मनन कर सकता है। थोड़ी भी शल्य रहेगी कि यह ऐसा, यह ऐसा (है), वह शल्य मिथ्यात्वशल्य है तो अन्दर में नहीं जा सकेगा। परवस्तु में उत्साहित वीर्य काम करे, राग में, पुण्य में, संयोग में तो वह वीर्य वहाँ रुक गया, वह अन्तर में काम नहीं करेगा। समझ में आया? पहले वीर्य में से यह निकाल देना चाहिए कि राग और परवस्तु मुझे बिलकुल सहायता नहीं करते। मेरी सहायक मेरी चीज है। सदा सहायकपना उसमें पड़ा है, तीन काल-तीन लोक में करण / साधनगुण उसमें रहा हुआ है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को शुभभाव तो होता है?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि को शुभभाव होता है वह एकान्त बन्ध का कारण है। एकान्त आस्रव है। कहो! सिद्ध को आया न? प्रवचनसार में आया, सिद्ध को एकान्त शुद्धता है... नहीं आया?

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि को तो बन्ध का कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टि को तो वे काम के हैं?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि... सम्यग्दृष्टि को काम के बिलकुल नहीं। निमित्तरूप राग है, दूसरा कुछ नहीं। ज्ञानधारा में वह विघ्नधारा है। भाई! वह विघ्नधारा है, भाई! कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, वह तो कर्मधारा है, वह स्वभावधारा नहीं है। समकिती को हो या मुनि को हो कोई लाभ नहीं। उसका ज्ञान करने का लाभ है, प्रमाण ज्ञान करने का। यह निश्चय का ज्ञान हुआ (साथ में) राग का व्यवहार का ज्ञान (हुआ)। प्रमाणज्ञान हुआ, इतना। बात तो यह है, दूसरा क्या है? दूसरा लाना कहाँ से? जैसा सत्य स्वरूप हो, उस प्रकार आयेगा या दूसरा आयेगा? तीन काल-तीन लोक में सत्य पन्थ एक ही प्रकार का है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को किञ्चित् लाभ तो अवश्य है न?

उत्तर : बिलकुल लाभ नहीं है, जितना स्वाश्रय है उतना लाभ है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ'। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ भरत, ऐरावत या महाविदेह हो, पन्थ तो एक ही है।

मुमुक्षु : किसी प्रकार ढीला रखे ऐसा नहीं ?

उत्तर : तो इस लोहे को करो, थोड़ा न निपटता हो तो थोड़ा ढीला करो परन्तु सत्य में ढीला किस प्रकार रखा जाए। लहंतु अर्थात् समझे ? पोला... पोला... ढीला करो। आहा...हा... ! भगवान तुझमें ढीले की बात ही नहीं है। आहा...हा... ! तू अकेले वीर्य का पिण्ड है। यदि वीर्यगुण से देखे तो अकेला वीर्य का पिण्ड है। ज्ञान से देखे तो अकेले ज्ञान का पिण्ड है। आनन्द से देखे तो अकेला आनन्द का पिण्ड है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा गुणपुञ्ज आत्मा। गुणपुञ्ज आत्मा है। कहा है न, सिद्धान्त प्रवेशिका में ! द्रव्य किसे कहते हैं ? गुणों के समूह को (द्रव्य कहते हैं)। समूह कहो या पुञ्ज कहो। गुण का पुञ्ज, अनन्त गुण का ढेर। है ? जत्था कहते हैं ? हिन्दी में ढेर... ढेर...। और गुण किसे कहते हैं ? लो, इसमें है, रात्रि में कहा था। गुण किसे कहते हैं ? द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं। एक ही सिद्धान्त ले लिया। उसकी किसी भी दशा में वह गुण काम करता है। गुण प्रत्येक दशा में है। उस दशा में पर है तो दशा है ? समझ में आया ? ऐसा सीधा-सादा सिद्धान्त है। गुण सर्व भाग में और सर्व अवस्थाओं में (रहता है)। गुण-भाव तो अपना है और द्रव्य का भाव है, द्रव्य में भाव है, क्षेत्र वह सर्व भाग में आ गया; सर्व अवस्थाओं में काल आ गया। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों आ गये। आहा...हा... ! शास्त्रकार की कथन पद्धति अलौकिक ! दिगम्बर सन्तों की पद्धति ही कोई अलौकिक है ! एक-एक शब्द में पूरा सिद्धान्त उसमें भर दिया है। समझ में आया ? श्वेताम्बर शास्त्र देखो तो कहीं यह बात नहीं है, ऐसी बात नहीं है। इस बात का स्वरूप ही बदल डाला है, स्वरूप बदल डाला है। हैं ? यह तो सर्वज्ञ ने देखा, सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा है। ऐसा अनुभव में आता है, ऐसा ही आता है। ऐसी चीज है। आहा...हा... ! यह आ गया है न ? 'प्रगट अनुभव आपका' पहले पिच्यासी में कह गये हैं, प्रभु ! तू अनुभव कर तो तुझे ऐसा ही लगेगा। हम कहते हैं, वैसा ही तुझे ज्ञात होगा।

जब सर्व चिन्ताएँ मिटें तब ही मन स्थिर होकर सङ्कल्प-विकल्प रहित होकर अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का मनन कर सकता है। निर्ग्रन्थपने में अधिक ऐसा होता है। पहले ग्रन्थीभेद है, वह ठीक है, परन्तु ग्रन्थीभेद के अतिरिक्त दूसरी ग्रन्थी रहती है, उसे छोड़कर निर्ग्रन्थ (होता है)। पहले तो ग्रन्थीभेद हुआ, इस अपेक्षा से दृष्टि से

निर्ग्रन्थ हुआ। राग की एकता की गाँठ टूट गयी। राग की एकता की गाँठ टूट गयी, पृथक् हो गया और स्वभाव की पर्याय स्वभाव में एकत्व हो गयी तो दृष्टि में तो निर्ग्रन्थ ही हो गया परन्तु चारित्र में निर्ग्रन्थ कब होता है ? उस अस्थिरता को छोड़कर जब स्थिर हो जाता है, (तब) चारित्र में निर्ग्रन्थ होता है। समझ में आया ? यह निर्ग्रन्थ तो आत्मा का स्वरूप है। 'नियमसार' में 'शुद्धभाव अधिकार' में आया है, भाई! 'शुद्धभाव अधिकार' – निर्ग्रन्थ तो आत्मा का स्वरूप ही है। **णिग्गंथो णिदंडो णिद्वंदो** तीनों काल, हाँ! नियमसार शुद्धभाव अधिकार की गाथा है। **णिग्गंथो णिदंडो णिद्वंदो** दण्डरहित, द्वन्द्वरहित, देहरहित उसका निर्ग्रन्थस्वरूप ही है, आत्मा का स्वरूप ही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ अर्थात् रागरहित, विकल्परहित। कर्मरहित तो है ही। (क्योंकि) वह तो परद्रव्य है। विकल्परहित है, यह दृष्टि कौन स्वीकारे ? सहितपने होने पर भी, रहित मानना... आहा...हा... ! व्यवहार से कर्मसहित, रागसहित। रागरहित (है वह) दृष्टि का जोर है। समझ में आया ? नहीं, मैं तो राग और शरीर, कर्म से रहित हूँ। अरे! परन्तु अभी नहीं... अरे... ! अभी (ऐसा हूँ)। निश्चयदृष्टि में समय-समय में ऐसा ही त्रिकाल है। व्यवहार वह ज्ञान करने की चीज है कि राग है। कहा न, जाना हुआ प्रयोजनवान है। जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदर किया हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी है। वरना किसी प्रकार वस्तु सिद्ध नहीं होती। निश्चय-व्यवहार एक भी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? हो गया (समय)!

ऊँचा-आत्मध्यान निर्ग्रन्थ व निर्विकार हुए बिना नहीं हो सकता। जहाँ तक काम-विकार की वासना न मिटे, स्त्री-पुरुष का भेद न मिटे, लज्जा का भाव दिल से न हटे, वहाँ तक इस ऊँचे पद को ग्रहण न करे... ऐसा कहते हैं। एकदम मुनिपना (आने के लिए) ऐसी शक्ति चाहिए। ऐसे एकदम नग्न हो जाए, शीघ्रता से व्रत ले ले, निभ नहीं सके, फिर कुछ गड़बड़ किये बिना रहे नहीं। अपनी शक्ति को (देखकर ग्रहण करे) शक्तितप त्याग है। आता है न, पण्डितजी! यह वहाँ विवेक है। मर्यादा में अपना कितना पुरुषार्थ सहज काम करता है, उतना त्याग करके अपना काम करना। विशेष मुनिपना न हो सके तो गृहस्थाश्रम में अपनी शक्ति अनुसार ध्यान करके अपना काम करना – ऐसा यहाँ कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण ११, गुरुवार, दिनाङ्क १४-०७-१९६६
गाथा ८६ से ८७ प्रवचन नं. ३४

'योगीन्द्रदेव' मुनि दिगम्बर आचार्य हुए हैं। छठवीं शताब्दी – १३००-१४०० वर्ष पहले हुए, उन्होंने योगसार बनाया। योगीन्द्रदेव ८६वीं गाथा में कहते हैं, एक आत्मा का मनन करो। देखो!

एक्कलउ इन्द्रिय-रहियउ-मण-वय-काय-ति-सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि॥ ८६॥

यह शब्द पड़ा है। हे भाई! तू अकेले आत्मा को देख! इन्द्रिय से रहित, कर्म, शरीर के सम्बन्ध से रहित...। भगवान आत्मा में परमार्थदृष्टि से शरीर, कर्म और विकार के सम्बन्धरहित आत्मा अकेला है। ऐसा इन्द्रिय से रहित **मण वय काय ति सुद्धि** और मन -वचन-काया से भी हटकर अपनी शुद्धि अपने स्वभाव के सन्मुख करके, अपना ध्यान करना, उसका नाम मोक्ष का मार्ग योगसार है। मुनि को तो उत्कृष्ट होता है। यह कल आ गया है, कि **लज्जा का भाव हृदय में से न मिटे, तब तक इस ऊँचे पद का ग्रहण नहीं करना**। ऐसा आया था।

श्रावक पद में रहकर एकदेश आत्मध्यान का साधन करना। अपने को इस शब्द पर थोड़ा लेना है। गृहस्थाश्रम में भी श्रावक है तो एकदेश आत्मध्यान का साधन कर सकता है। समझ में आया? नियमसार में 'समाधि अधिकार' के बाद 'भक्ति अधिकार' आयेगा। यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पहले श्लोक में मूल पाठ है। श्रावक हो या मुनि हो, निश्चयशुद्धरत्नत्रय की भक्ति दोनों करते हैं – ऐसा पाठ भक्ति अधिकार में मूल गाथा में है। श्रावक हो या मुनि हो, शुद्धरत्नत्रय की भक्ति – ऐसा पाठ है। टीका में मूल पाठ में इतना है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। यह निश्चयरत्नत्रय की बात है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : अपने स्वरूप की एकाग्रता वह भक्ति है, भगवान की भक्ति, वह शुभराग है, व्यवहारभक्ति है।

यहाँ तो दूसरा कहना है कि श्रावक को भी अपने शुद्धनिश्चयरत्नत्रय का ध्यान होता है और प्रगट दशा होती है। कोई कहे कि मुनि को ही सातवें गुणस्थान में शुद्धरत्नत्रय होता है, अभी सातवें में भी नहीं लेते। यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक को भी, समझ में आया? देखो, इसमें है। १३४ गाथा है न! भक्ति अधिकार – **सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो। सावगो समणो** – ऐसा पाठ है। **सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदिभत्ती....** निवृत्ति भक्ति। **होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥ १३४॥** भगवान परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, श्रावक और मुनि दोनों को निश्चयशुद्धरत्नत्रय अपना भगवान आत्मा शुद्ध निर्मल-निर्विकल्प दृष्टि से अपनी प्रतीति करना और स्वसंवेदन – अपना ज्ञानस्वरूप भगवान, उसका ज्ञान से स्वसंवेदन करके ज्ञान करना और अपने स्वरूप में शुद्ध उपयोगरूप अथवा शुद्धपरिणतिरूप आचरण करना, उसका नाम निश्चयरत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! यहाँ श्रावक को कहते हैं। देखो! टीका में भी ऐसा लिया है।

निज परमतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्धरत्नत्रय परिणामों का जो भजन, वह भक्ति है... श्रावक भी कर सकता है और मुनि भी; श्रावक और परम तपोधन दोनों रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। जिनवरों ने ऐसा कहा है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यहाँ से निश्चयरत्नत्रय की बात है, उसे शुद्धरत्नत्रय कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय को अशुद्धरत्नत्रय कहो, बाह्यरत्नत्रय कहो, उपचरितरत्नत्रय कहो। परम अपेक्षा से उसे असत्यार्थ भी कहो। व्यवहार असत्यार्थ... असत्यार्थ का अर्थ उसे गौण करके, है नहीं – ऐसा नहीं, व्यवहार है अवश्य परन्तु उसे गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कह दिया है।

भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द प्रभु है। उसकी अन्तर में अनुभव दृष्टि करना, अनुभव करके दृष्टि होना और स्वरूप में स्थिरता होना – ऐसी निश्चयशुद्धरत्नत्रय

की भक्ति एकदेश में श्रावक को भी होती है। समझ में आया? श्रावक अर्थात् महापञ्चम गुणस्थानदशा। जिसे सर्वार्थसिद्धि के चौथे गुणस्थानवाले से जिसकी शान्ति बढ़ गयी है। आहा...हा...! भले स्त्री, कुटुम्ब में पड़ा हो, राज्य में पड़ा हो, विषयभोग की वासना भी हो परन्तु उसकी वासना में मर्यादा है। अपना आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्दमय प्रभु आत्मा के अन्तर में स्वसन्मुख होकर निश्चयशुद्धसम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है। कोई कहता है कि शुद्ध निश्चय समकित चौथे पाँचवें में नहीं होता... भाई! तुझे समझ नहीं है, व्यवहार तो उपचार है। निश्चय स्वआश्रित उत्पन्न हो, उसे शुद्धरत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! क्या करे? सब बदल गया, सब बदल गया। व्यवहाररत्नत्रय चौथे से सातवें तक व्यवहाररत्नत्रय। एक व्यक्ति फिर बारहवें तक कहता है, भाई!

यहाँ तो भगवान... वस्तु का स्वरूप... आत्मा परमानन्द की मूर्ति, परमात्मस्वरूप की अन्तर निश्चय-स्व आश्रय दृष्टि होना, स्व आश्रय दृष्टि हुई, उसका नाम निश्चय। पराश्रय दृष्टि भगवान की श्रद्धा आदि करना, वह पराश्रित दृष्टि व्यवहार है। अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान करना, स्व-संवेदन (करना), वह निश्चय। शास्त्र आदि का ज्ञान करना, वह पराश्रित व्यवहार है। अपने स्वरूप में शुद्धस्वरूप की दृष्टि ज्ञानपूर्वक स्व में लीन होना, वह चारित्र है, निश्चयचारित्र है। श्रावक को भी निश्चयचारित्र का अंश होता है। कहो, समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! कोई ऐसा कहता है – श्रावक को पञ्चम गुणस्थान में शुद्ध उपयोग नहीं है, शुद्ध निश्चयरत्नत्रय नहीं है। निश्चयरत्नत्रय आठवें और दसवें... फिर कोई एक तो तेरहवें में कहता है। एक 'शरनाराम है' वह तो फिर तेरहवें में निश्चय (होता है और) बारहवें तक व्यवहार (होता है – ऐसा कहता है)।

मुमुक्षु : कोई फिर पन्द्रहवें में कहे?

उत्तर : पन्द्रहवाँ है ही नहीं तो क्या कहेगा? पन्द्रह गुणस्थान ही नहीं है।

यहाँ तो अपने को शुद्धरत्नत्रय की भक्ति एकदेश श्रावक को भी होती है (– ऐसा कहना है) भले ही स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, राजपाठ में पड़ा हो... समझ में आया? पड़ा नहीं... अपना आत्मा शुद्ध भगवान आत्मा परमात्मा निर्विकल्प स्वभाव से सम्पन्न प्रभु

अनादि-अनन्त – ऐसी अन्तर में निश्चयदृष्टि स्वभाव के आश्रय से हुई, वह तो आत्मा में ही पड़ा है। समझ में आया? श्रावक भी अपने ज्ञान में रहता है, स्थिरता में रहता है। व्यवहाररत्नत्रय से भी मुक्त है। अद्‌भुत बात, भाई! समझ में आया?

भगवान... इसलिए **श्रावकपद में रहकर एकदेश आत्मज्ञान का साधन करना...** समझ में आया? न हो सके – ऐसा नहीं है, भाई! चौथे गुणस्थान में भी जहाँ आत्मा मुक्तस्वरूप का भान होता है और निर्विकल्प प्रतीति होती है तो पञ्चम गुणस्थान में तो श्रावक को तो शान्ति दूसरी कषाय के अभाव से शान्ति... शान्ति... बढ़ गयी है। समझ में आया? ऐसी शान्ति जो स्वभाव के आश्रय से (उत्पन्न) हुई, उसे यहाँ देश रत्नत्रय, शुद्ध रत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रन्थपद ही है। ओहो...हो...! अलौकिक बात! अन्तर में तीन कषाय का अभाव, निर्ग्रन्थ भाव, द्रव्यलिङ्ग भी निर्ग्रन्थ, बाह्य में भी नग्नदशा; बाह्य और अभ्यन्तर दोनों निर्ग्रन्थदशा... वह निर्ग्रन्थदशा ही साक्षात् मोक्ष का कारण है, उपाय है। कहो, समझ में आया? परन्तु कहते हैं कि यदि ऐसी चीज न हो सके (तो वहाँ तक एक देश आत्मध्यान का साधन करना)। समझ में आया?

जब तक इन्द्रियों के विषयों की लालसा न छूटे... सम्यग्दर्शन होने पर भी, इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि न होने पर भी... समझ में आया? भाषा नहीं, इसके भाव समझ लेना। यहाँ तो कहते हैं, अपने स्वभाव में आनन्द है – ऐसी सम्यग्दृष्टि को रुचि हुई होने पर भी इन्द्रिय के सुख में सुख नहीं – ऐसी मान्यता होने पर भी आसक्ति रहती है। आसक्ति, वह चारित्र का दोष है और इन्द्रियों में सुख है यह मिथ्यात्व का दोष है। आहा...हा...! समझ में आया? अपने स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है, राग में और पर में तीन काल में सुख नहीं है – ऐसी अतीन्द्रिय आनन्द की सुखबुद्धि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। सुखबुद्धि नहीं परन्तु आसक्ति, लालसा न छूटे – ऐसा इसमें लिया है न! जो शब्द हो उस प्रकार से (कहते हैं) लालसा, जरा आसक्ति, वृत्ति नहीं छूटती। पञ्चम गुणस्थान में सुखबुद्धि नहीं होने पर भी, सुखबुद्धि तो तीन काल में नहीं है। सम्यग्दृष्टि को तीन काल-तीन लोक में कोई सर्वार्थसिद्धि के देव में भी सुखबुद्धि नहीं

है। ओहो...हो... ! जहाँ सुख है, वहाँ सुखबुद्धि होगी या जहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुखबुद्धि होगी ? अपना आनन्द तो अपने में है। अपना आनन्द क्या पुण्य-पाप के भाव में है ? शरीर में है, इन्द्रिय में है ?

धर्मी को पहली नजर में अपना आनन्द अपने में है, पुण्य-पाप में आनन्द नहीं है – (ऐसी दृष्टि हो गयी है)। व्यवहाररत्नत्रय का शुभ उपयोगरूप राग होता है, उसमें आनन्द नहीं है और उसके फल में आनन्द नहीं है – ऐसी दृष्टि हुई होने पर भी, लालसा न छूटे... जरा आसक्ति अन्दर से न छूटे, **वहाँ तक घर में स्त्री सहित रहकर भी यथाशक्ति आत्मा का मनन करना...** समझ में आया ? ऐसा नहीं है कि अपनी शक्ति तो है नहीं और सब छोड़कर बैठ जाये और अन्दर में दशा तो है नहीं, फिर हठ हो जाये, परीषह सहन करने की जो ताकत अन्दर होनी चाहिए वह तो हुई नहीं, फिर हठ हो जाये, भार... भार... भार... बोझा... बोझा... (लगे) कहते हैं, **स्त्रीसहित रहकर...** ऐसा... समझ में आया ? आहा...हा... !

एक बार तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने' 'मूलाचार' में ऐसा भी कहा है कि हे जीव ! तेरे स्वरूप की दृष्टि में सम्यग्दर्शन हुआ और तुझे सम्यग्दर्शन में दोष न लगे, इसके लिए जिसकी मिथ्याश्रद्धा है और मिथ्याश्रद्धा की बात करता है – ऐसे साधु का संग नहीं करना। पण्डितजी ! ऐसा मूलाचार में श्लोक है। (उसका संग) नहीं करना, उसकी अपेक्षा तो विवाह कर लेना – ऐसा पाठ है। विवाह कर लेना, स्त्री। स्त्री करने का कहते हैं ? यह तो (ऐसा कहते हैं कि) स्त्री का दोष है, वह चारित्र का दोष है परन्तु यदि तू मिथ्याश्रद्धावन्त के संग में जाएगा और तेरी मिथ्याश्रद्धा हो गयी तो (सम्यग्दर्शन से) भ्रष्ट हो जाएगा – ऐसा मूलाचार में श्लोक है। मूल गाथा है, कितनी है वह ? सब कहाँ याद होता है ? भाव ख्याल में होता है... ऐसी कहीं बुद्धि नहीं है कि इस जगह यह गाथा है, इस जगह यह श्लोक है। भाव का ख्याल है, भाव। समझ में आया ? आहा...हा... ! अरे... परन्तु सन्त ऐसा कहते हैं ? भाई ! विवाह करने का कहते हैं ? ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। पाठ तो ऐसा है, लाओ न पाठ, देखो, पाठ ऐसा है, विवाह करना, विवाह करने का कहते हैं ?

मुमुक्षु : लिखा है न।

उत्तर : लिखा (भले हो), उसका अर्थ समझना चाहिए। यह तो कहते हैं... स्पष्टीकरण कराते हैं। पण्डितजी! यह ऐसा कि लिखा तो ऐसा है, विवाह करना। मुनि को नव कोटि से त्याग है। विषय का नव कोटि से (त्याग है)। मन, वचन, काय, कृत-कारित अनुमोदन से त्याग है। करे नहीं, कराये नहीं और कर्ता का अनुमोदन करे नहीं। मिथ्यात्व का पाप मिटाने को वह बात की है। उसमें आया है ४९२ पृष्ठ पर, यह रहा, छियानवेंवाँ श्लोक है, अधिकार का नाम नहीं, नाम कुछ नहीं... (दशवाँ अधिकार है)।

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणागरो॥ ९६॥

आचार्य ऐसा कहते हैं, भाई! मिथ्याश्रद्धा का दोष बड़ा है, महापाप ही यह है, चारित्रदोष का पाप अल्प है। लोगों को मिथ्याश्रद्धा के पाप और सम्यग्दर्शन का धर्म इन दोनों की कीमत नहीं है। इसलिए कहते हैं कि भाई! **यति! अन्त समय में यदि गुण में प्रवेश करेंगे तो शिष्यादिकों में मोह उत्पन्न होगा तथा मुनिकुल में मोह उत्पन्न होने के लिए कारणभूत ऐसे पार्श्वस्थादिक पाँच मुनियों से सम्पर्क होगा। उनके सम्पर्क की अपेक्षा से विवाह में प्रवेश करना अर्थात् गृह में प्रवेश करना अधिक अच्छा है क्योंकि विवाह में स्त्री आदिक परिग्रहों का ग्रहण होता है और उससे रागोत्पत्ति होती है। परन्तु गण तो...** ऐसा होता है, नहीं ऐसा होता है, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है – ऐसी विपरीतता करा देंगे कि तुझे महा मिथ्याश्रद्धा (होकर तू) दर्शन भ्रष्ट हो जाएगा। **दर्शनभ्रष्ट नहीं सिझंति चारित्त भट्टा सिझंति...** क्योंकि ख्याल में है। उसमें तो श्रद्धा में ही पता नहीं है, क्या राग? क्या पर चीज है? मैं कौन हूँ? तो कहते हैं कि उसमें प्रवेश कर। वह प्रवेश कराने के लिए नहीं कहते परन्तु जिसकी श्रद्धा विपरीत है – ऐसे साधु का गणसमूह, उसके संसर्ग से भाई! तुझे मिथ्याश्रद्धा हो जाएगी, वह तो कुयुक्ति से समझायेगा, तेरी सच्ची श्रद्धा भ्रष्ट हो जाएगी। इसकी अपेक्षा तो स्त्री के संग में तुझे चारित्र का दोष लगेगा, श्रद्धा का दोष नहीं लगेगा। समझ में आया? यह बताते हैं। स्त्री में प्रवेश करो, पाठ तो ऐसा है। '**विवाहस्स**

पवेसणं' मुनि नौ कोटि से त्यागी है परन्तु कैसा अर्थ करना ? – वह समझना चाहिए या नहीं ? (ऐसा कहते हैं) यह यहाँ लिखा है, व्यवहार में प्रवेश करने का कहते हैं। भाई! उसका आशय क्या है, वह समझना चाहिए न! सन्त मुनि हैं, आहा...हा...! नव-नव कोटि से जिन्हें विषय का त्याग है। ब्रह्म में रङ्ग लगा है, आनन्दकन्द में रङ्ग लग गया है, समझ में आया ? कोई विषय करे, कराये, अनुमोदन करे (–ऐसा नहीं होता।) उनके विकल्प में मन, वचन, काया में कृत, कारित अनुमोदन में करना नहीं होता। आहा...हा...! परन्तु वे कहते हैं, भगवान! खराब संग में पड़कर यदि तुझे मिथ्याश्रद्धा हो जाएगी, ऐसी कुयुक्ति, कुतर्क से बैठा देंगे तो तेरी श्रद्धा विपरीत हो जाएगी; इस दोष की तुलना में स्त्री के संग में तो राग का / चारित्र का दोष है।

यह यहाँ कहते हैं लालसा, स्त्री (छोड़) न सके तो गृहस्थाश्रम में रहो (और) **यथाशक्ति आत्मा का मनन करना...** रहो अर्थात् कोई राग करने का कहते हैं ? रहने का नहीं कहते परन्तु कमजोरी है, कमजोरी है, पर में सुखबुद्धि नहीं, तथापि अन्दर आसक्ति का भाव दिखता है तो आसक्ति के परिणाम छूटते नहीं, भाव देखते हैं न ? वहाँ तक गृहस्थाश्रम में रहकर अपने स्वरूप का साधन, ध्यान करो। श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता का, निश्चयरत्नत्रय का ध्यान करो। समझ में आया ? देखो! **स्त्रीसहित रहकर ही यथाशक्ति...** यह तो रहकर कहा और वहाँ (मूलाचार में) विवाह में प्रवेश करना एक ही कहा।

जब विषयों की लालसा न रहे... परिणाम में ऐसा लगे कि अब विषयों की प्रीति छूट गयी है... रुचि तो छूट गयी परन्तु प्रीति, आसक्ति छूट गयी है – ऐसी आसक्ति नहीं है कि स्त्री को छोड़ दिया, इसलिए आसक्ति छूट गयी। अन्तर में उस राग में जरा अन्दर मिठास, आसक्ति आती है। आसक्ति है, हाँ! रुचि नहीं, है तो दुःख; है तो उपसर्ग परन्तु वह आ जाता है। वह लालसा जब तक न छूटे, तब तक गृहस्थाश्रम में रहकर ही अपना ज्ञान-ध्यान, श्रद्धा करो।

मन में से विषय-विकार निकल जाये... देखो! मन में से (कहा है)। बाहर से तो क्या, स्त्री अनन्त बार छोड़ी, उसमें क्या आया ? अन्तर में आनन्द की दृष्टि और आनन्द के मौज में वह आसक्ति छूट जाए तो मुनिपना ले लो और मुनिपना ही साक्षात् मोक्ष का

कारण है। चारित्र ही साक्षात् सुख का कारण है। **आत्मिकसुख का प्रेम बढ़ जाये और अभ्यास भी ऐसा हो जाए कि आत्मिक रस के स्वाद बिना दूसरे सब विषयरस के स्वाद फीके लगें...** कहीं आसक्ति भी न हो। **जिन अथवा जितेन्द्रिय होकर आत्मा का मनन कर सकता है।** लो, समझ में आया? फिर बहुत लिया है।

आत्मानुशासन में कहा है : आत्मज्ञानी मुनि को बारम्बार सम्यग्ज्ञान को अन्तर में फैलाकर रखना योग्य है। देखो! **मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं। मुहुः मुहुः।** अर्थात् बारम्बार।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

यह श्लोक है, समझ में आया? यह आत्मानुशासन का है। रामसेनाचार्य का है? कैसा? आत्मानुशासन को गुणभद्राचार्यदेव का है। **आत्मज्ञानी मुनि को योग्य है कि बारबार सम्यग्ज्ञान को भीतर फैलाकर रखे...** देखो कहते हैं भगवान आत्मा ऐसा चैतन्यज्योति है न, उसकी अन्तरदृष्टि करके, अन्तर में ज्ञान के विकास का अर्थ स्थिरता, आनन्द, शान्ति अर्थात् चारित्र आदि का विकास हो, उस प्रकार से ज्ञान को फैलावे; राग को घटाये और ज्ञान को फैलाये। ज्ञान शब्द से आत्मा, उसकी समस्त शक्तियों का विस्तार करे और राग को घटाये। समझ में आया? मोक्ष का तो ऐसा मार्ग है। निरालम्ब मार्ग है। आहा...हा...! जिसमें व्यवहार का आलम्बन भी निश्चय में नहीं, ऐसा भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में ज्ञान को फैलाओ... आत्मा का विकास करो। जैसे कली है, वह कली खिलती है तो विकास होता है; वैसे भगवान परम पारिणामिक स्वभाव से शक्तिरूप से पड़ा है, उसमें एकाग्र होकर पर्याय में विकास करो, कमल की तरह विकास करो – यह कहते हैं। समझ में आया? ज्ञान को अन्तर में फैलाकर रखना, ज्ञान की एकाग्रता में श्रद्धा भी हुई, चारित्र हुआ, आनन्द भी हुआ, स्थिरता-शान्ति भी हुई, स्वच्छता भी हुई। राग को घटाओ।

पदार्थों को जैसा है वैसा देखना... जैसा वस्तु का स्वरूप है, ऐसा देखने से **राग-द्वेष न करके समताभाव से आत्मा का ध्यान करना।** भगवान आत्मा परमानन्द

की मूर्ति है, उसका ध्यान करो। वह ध्यान ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? **'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि'** यह आता है न? पण्डितजी! द्रव्यसंग्रह... द्रव्यसंग्रह ४७ गाथा। **'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।'** अन्तर। अन्तरध्यानस्वरूप.... देखो! **'दुविहं पि मोक्खहेउं'** निश्चय और व्यवहार दोनों **'झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा'** द्रव्यसंग्रह। भगवान आत्मा अपने पूर्ण आनन्दस्वरूप की दृष्टि ध्यान में और अन्दर ज्ञानरूपी ध्यान में और लीनता भी अन्दर ध्यान में उत्पन्न होती है। साथ ही विकल्प बाकी रहता है, उसे व्यवहार कहा जाता है। (मोक्षमार्ग) ध्यान में उत्पन्न होता है, बाहर से विकल्प से निश्चय उत्पन्न नहीं होता। अन्दर भगवान आत्मा... मोक्षमार्ग की उत्पत्ति ध्यान में से उत्पन्न होती है। समझ में आया? ओहो...हो...! आचार्यों ने तो चारों ओर..., कोई भी शास्त्र लो, ऐसी ही बात की है। स्पष्ट वीतरागमार्ग मोक्षमार्ग है – ऐसा ढ़िढ़ोरा पीटा है, ढ़िढोरा पीटा है। भाई! रागमार्ग, यह मार्ग आत्मा का नहीं, प्रभु! आत्मा वीतरागस्वरूप है न! उसकी श्रद्धा, ज्ञान और निर्विकल्प अनुभव करो, वही मोक्ष का मार्ग है। यह छियासी (गाथा पूरी) हुई। अब, ८७।

☆ ★ ☆

सहज स्वरूप में रमण कर

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु॥ ८७॥

बन्ध-मोक्ष के पक्ष से, निश्चय तू बन्ध जाय।
रमे सहज निज रूप में, तो शिव सुख को पाय॥

अन्वयार्थ – **(जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि)** यदि तू बन्ध मोक्ष की कल्पना करेगा **(तो णिभंतु बंधियहि)** तो निःसन्देह तू बँधेगा **(जइ सहज-स्वरूप रमहि)** यदि तू सहज स्वरूप में रमण करेगा **(तो सन्तु सिव पावहि)** तो शान्तस्वरूप मोक्ष को पावेगा।

☆ ★ ☆

सहजस्वरूप में रमणता कर! बन्धमोक्ष का विकल्प छोड़ दे। आहा...हा...!

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु॥ ८७॥

आहा...हा...! भगवान आत्मा! **यदि तू बन्ध-मोक्ष की कल्पना करेगा तो तू निःसन्देह बँधेगा...** पर्यायदृष्टि हुई न, पर्यायदृष्टि। राग का बन्ध है, वह राग छूटेगा तो मुक्ति होगी – ऐसे दो प्रकार के विचार, विकल्प का कारण हैं, विकल्प है। समझ में आया? भगवान सहजात्मस्वरूप पूर्ण शुद्ध एकरूप सहजात्मस्वरूप पूर्ण स्वरूप एकरूप का अन्दर ध्यान कर। यह मुक्ति का उपाय है।

'**बद्धउ मुक्कउ मुणहि**' यदि बन्ध और मोक्ष, दो, पर्यायदृष्टि से देखने जाएगा तो निश्चय से बँधेगा। '**णिभंतु**' भ्रान्ति बिना तुझे बन्ध होगा। आहा...हा...! (कोई कहे) बन्ध है नहीं? सुन तो सही, प्रभु! यहाँ तो व्यवहारनय का विषय बन्ध-मोक्ष, उसे छुड़ाते हैं। उसका आश्रय करने से विकल्प होता है। यह 'योगसार' है। योगस्वरूप एकाकार में लीन होना, उसमें भेद करके बन्ध और मोक्ष का विचार न करना, उसका नाम योगसार / स्वरूप की एकता के भाव को कहते हैं।

यदि तू बन्ध-मोक्ष की कल्पना करेगा... आचार्य भी कड़क हैं न! देखो, '**णिभंतु बंधयइ**' निसन्देह बँधेगा। भगवान आत्मा एक स्वरूप के अतिरिक्त दो प्रकार का विचार होगा तो निश्चय से विकल्प होगा और विकल्प होगा तो बन्ध होगा। भले वह विकल्प शुभ है क्योंकि बन्ध और मोक्ष का विचार, वह कोई अशुभ नहीं है परन्तु है तो शुभ, तथापि है बन्ध का कारण। आहा...हा...! समझ में आया?

'**जइ सहज-सरुवई रमहि**' यदि तू भगवान सहजात्मस्वरूप में रमणता करेगा... एकरूप प्रभु... पर्यायदृष्टि को छोड़कर, व्यवहारनय के विषय को छोड़कर, यदि अकेले भगवान पूर्णानन्द प्रभु में रमण करेगा तो शान्त मोक्ष को प्राप्त करेगा। शान्ति... शान्ति... शान्ति... पूर्ण शान्ति... निर्वाण... पूर्ण शान्ति को प्राप्त करेगा। (उस विकल्प में) बन्ध होगा। दो बातें की हैं।

देखो, एक श्लोक में क्या कहा? बन्ध और मोक्ष – ऐसी पर्यायदृष्टि का विचार करेगा तो निःसन्देह बँधेगा। एकस्वरूप सहजानन्द प्रभु, एकरूप परमात्मा अपने स्वरूप

में रमेगा तो मोक्ष हो जाएगा। बन्ध और मोक्ष की यह व्याख्या की। बन्ध है, पर्याय में रुकता है, वह भावबन्ध है, कर्म का बन्ध होता है, वह दूसरी बात; और राग से छूटकर वीतराग पर्याय पूर्ण हो तो मोक्ष भी है परन्तु उस पर्याय का पर्याय में मोक्ष और पर्याय में बन्ध है। अंश में मुक्ति और अंश में बन्ध – ऐसा लक्ष्य करने से तो निर्भ्रान्त / निःसन्देह बँधेगा। देखो, इसमें किस प्राणी को मारा? किसे बचाया? किसने मारा? कि बँधेगा? भगवान उसका हेतु है न! तेरा स्वरूप अखण्ड ज्ञायकमूर्ति प्रभु है, उसकी रमणता कर तो तुझे संवर –निर्जरा होगी और मुक्ति होगी। शान्त... शान्त... शान्त... कषाय परिणमन पूर्ण होगा और मुक्ति होगी। यह भावबन्ध और मोक्ष दो पर्याय का लक्ष्य करेगा तो निश्चय से वास्तव में राग होकर बँधेगा। समझ में आया? पर्यायदृष्टि–व्यवहारनय का आश्रय करने से बन्ध होता है, बस! यह सिद्ध करना है।

अपना प्रयोजन पर्याय के लक्ष्य से सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय में से पर्याय नहीं होती। समझ में आया? एक न्याय तो 'नियमसार' में पचासवीं गाथा में ऐसा भी कह दिया है कि अपनी पर्याय क्षायिक समकित की हो तो भी परद्रव्य है। क्षायिक समकित भी परद्रव्य है। उपशम, उदय (आदि) चार भाव परद्रव्य है – ऐसा पचासवीं (गाथा में) कहा है। क्यों? इसलिए कि जैसे परद्रव्य में से अपनी नयी निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती, इसी प्रकार उस पर्याय में से नयी पर्याय तो उत्पन्न नहीं होती, इस अपेक्षा से चारों भावों को (परद्रव्य कहा है)। जो पर्याय के चार भाव हैं – राग, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, चारों को ही परद्रव्य कह दिया है क्योंकि चारों भावों में से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। नयी पर्याय की खान तो भगवान आत्मा ध्रुव... ध्रुव... नित्यानन्द प्रभु है, उसे स्वद्रव्य कहा। उन्हें (चार भावों को) परद्रव्य कहा है। इस अपेक्षा से परद्रव्य, हाँ! है तो उसकी पर्याय। आहा...हा...! **परद्रव्य, परभाव इति हयं** – ऐसा पचासवीं गाथा में तीन बोल लिये हैं। समझ में आया? वास्तविक तत्त्व का ख्याल न हो और उसे कल्याण हो जाए, कैसे हो? कल्याण की खान तो आत्मा है, उसकी एकरूप दृष्टि हुए बिना कल्याण का बीज कहाँ से उगेगा? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, मोक्ष का बीज कहाँ से उत्पन्न होगा?

यहाँ तो आचार्य (कहते हैं) **निर्वाण का उपाय एक शुद्धात्मानुभव है, जहाँ मन के सर्व विकल्प...** और विचार **बन्द हो जाते हैं, काय स्थिर होती है, वचन नहीं रहता।** यह तो ठीक, इसका कुछ नहीं। स्वानुभव का प्रकाश होता है, उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान में और चारित्र के अंश में भी निर्विकल्प समाधि होती है। निर्विकल्प – रागरहित शान्ति, श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति (होवे), वह निर्विकल्प समाधि है, वही मोक्ष का मार्ग है। अद्‌भुत कठिन बात है। ऐसा क्यों कहा?

भाई! **उदयति नय निक्षेप** (समयसार कलश ०९) नहीं कहा? नय निक्षेप और प्रमाण भी उड़ा दे, कारण कि भेद पर तेरा लक्ष्य जाएगा तो विकल्प होगा। भगवान आत्मा में जो परिपूर्णता पड़ी है, जिसमें अनन्त गुण की एकरूपता है, उस पर दृष्टि दे, उसमें रमणता कर तो तुझे निर्वाण होगा ही। जैसे, पहले में कहा कि निःसन्देह बँधेगा... ऐसे (यहाँ कहते हैं) निःसन्देह तेरी मुक्ति होगी... शङ्कारहित। गुलाँट खायी न! गुलाँट खाया... समझ में आया? यह व्यवहाररत्नत्रय मुक्ति का उपाय नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मदद करता है।

उत्तर : मदद-फदद क्या करे? आहा...हा...! निमित्त, निमित्तरूप से है। निमित्तरूप का अर्थ – यहाँ कार्य होता है तो निमित्तरूप से सहकारी विकल्प है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा। है नहीं; है तो वह बन्ध का मार्ग।

मुमुक्षु : विकल्प होवे तो किञ्चित् लाभ होता है।

उत्तर : जरा भी लाभ नहीं है।

मुमुक्षु : अशुभ से बचता है।

उत्तर : स्वभाव की दृष्टि से अशुभ से बचता है। यदि उससे बचे तो मिथ्यादृष्टि को भी शुभ में अशुभ से बचा कहा जाए। (मिथ्यादृष्टि) बचा ही नहीं...। भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय आनन्द का एकरूप प्रभु, उसकी दृष्टि करने से ही और उसमें लीन होने से ही मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है, दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। क्या हो?

मुमुक्षु : शान्त निर्वाण....

उत्तर : शान्त निर्वाण (अर्थात्) अकषाय, कषाय सब मिट गयी। कषाय की सब अग्नि शान्त हो गयी, अकेला अकषाय शान्त समुद्र फट पड़ा, वह शान्त मोक्ष है। यह कषाय वह संसार और शान्त वह मोक्ष। निर्वाणक्षेत्र का कुछ आता है न? छेदता है, ऐसी भाषा कहीं आती है। सिद्ध... सिद्ध...... शब्द आता है, सब कहाँ याद रहता है? शीतलीभूत हो जाता है, ऐसा। अकषाय परिणमन शीतलीभूत शान्तदशा, वह मोक्ष... सकषायभाव, वह संसार। समझ में आया? निर्वाण... निर्वाण की कुछ व्याख्या की है। निर्वाण की कहीं व्याख्या की है। 'सर्वार्थसिद्धि' में या अन्यत्र कहीं की है। निर्वाण का अर्थ किया है। ऐसा शान्त कर दिया, ऐसा कुछ आता है। मस्तिष्क में है, शान्त हो गया... हिम... हिम... ठण्डा हिम... जैसे पड़े और दग्द कर दे, पौष महिने में ठण्डी हिम वन को जला देती है। यह ठण्डी अविकार पर्याय जहाँ प्रगट हुई, (उसमें) संसार जला डाला... शान्त... शान्त... शान्त.... है?

मुमुक्षु : सिद्धिभूदा में आता है?

उत्तर : सिद्धिभूदा में आता है, सिद्धिभूदा में ऐसा आता है। सिद्धिभूदा में आता है ख्याल में है। समझ में आया? आहा...हा...! 'उपशम रस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में...' आता है न? कर कमल में कृपामृत, आता है न? है? ऐसा भक्त अनेक प्रकार से कहे। यहाँ तो उपशम की बात कहनी है। उपशम अर्थात् अकषायभाव। अकषायभाव की पूर्णता, वह वीतराग। आत्मा वह अकषायस्वरूप है, ऐसा अकषायभाव पर्याय में प्रगट होना, वह शान्तभाव है। समझ में आया?

वही आत्मस्वभाव है... आत्मा में रागरहित... भाषा में सरल है, हाँ! पुरुषार्थ में उग्रता है। भाषा में कोई भाव आ नहीं जाते... कहते हैं कि आत्मस्वभावभाव में एकाग्र होने से रागरहित निर्विकल्प दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता होवे, वह निर्विकल्प समाधि है, वह मोक्षमार्ग है, वही आत्मस्वभाव है। रागभाव, आत्मस्वभाव नहीं; व्यवहाररत्नत्रय, आत्मस्वभाव नहीं है। आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय, अनात्मभाव है; आस्रव है न! इसलिए अनात्मभाव है।

(वही) आत्मस्वभाव है। **यहीं यथार्थ में मोक्षमार्ग है...** भगवान आत्मा अपने

पूर्ण ज्ञायकस्वरूप की ओर की निर्विकल्प दृष्टि करके अन्दर स्थिर होना, वही मोक्ष का मार्ग है, यही **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता है**। श्रावक को भी ऐसा अंश है, हाँ! 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में कहा है, जितना मुनि का मार्ग है, उसका एक अंश श्रावक को भी है। सब ले लेना, समिति, गुप्ति आदि, हाँ! थोड़ा अंश, ऐसा पाठ है। 'अमृतचन्द्राचार्यदेव'!

राग-द्वेषरहित वीतरागभाव है... आत्मा के स्वभाव के आश्रय से दृष्टि-ज्ञान लीनता होना ही वीतरागभाव है। **वही परम समता है, वही एक अद्वैतभाव है**। भाव, हाँ! पर्याय; द्रव्य तो अद्वैत है ही। अद्वैत एकरूप स्वभाव की एकता में अद्वैतभाव – विकल्परहित, भेदभावरहित अभेददशा उत्पन्न होती है, वही अद्वैतभाव है। **वही संवर और निर्जरा तत्त्व है, इसलिए ज्ञानी को व्यवहारनय के विचार को तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिए।** आहा...हा...! पहले बन्ध-मोक्ष की बात की थी न, वह व्यवहारनय का विचार है। यह बन्ध है, इस राग में आत्मा रुक गया है, राग से रहित होगा – ऐसी मुक्ति की पर्याय के विचार में तो निःसन्देह शुभराग होगा, और शुभराग से तुझे बन्ध भी होगा। कहो, यह बन्ध-मोक्ष का विचार राग है।

मुमुक्षु : विचार तो जानना चाहिए।

उत्तर : नहीं, विचार का अर्थ यहाँ राग लेना, भेद पड़ा न! ज्ञान का विचार वहाँ अटक गया, रुक गया... विचार को विकल्प कहते हैं। 'राजमल्लजी' ने ऐसा लिया है। अपने भी लिया है। राजमल्लजी ने यह लिया है, विचार तक बन्ध का कारण है। विचार अर्थात्? यह तो ज्ञान की पर्याय है। लिया है, राग आता है न? भेद पड़ता है, उसे राग कहा है। राजमल्लजी ने लिया है, अपन ने भी लिया है। अपने समयसार में लिया है, पता है। भाई ने डाला है, विचार तक बन्ध का कारण है। यह भाषा शास्त्र की है, राजमल्लजी की है। विचार का अर्थ विकल्प में रुकता है वह, भेद करता है। ज्ञान नहीं, ज्ञान का तो जानने का स्वभाव है परन्तु वह ज्ञान रुक जाता है, उसे यहाँ विचार के अर्थ में (कहा है)।

व्यवहारनय से ही यह देखा जाता है कि आत्मा में कर्मों का बन्ध है, आत्मा के साथ शरीर है, आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभभाव है... हम चौथे, पाँचवें,

छठवें या सातवें गुणस्थान में हैं। यह तो सब व्यवहार का विषय है, छोड़ देने का अर्थ लक्ष्य छोड़ देना। वस्तु नहीं कहीं? लक्ष्य छोड़ देना, उसका आश्रय छोड़ देना। वस्तु कहाँ चली जाएगी? **हम मनुष्यगति में हैं, हम सैनी पञ्चेन्द्रिय हैं...** पुरुष हैं, यह सब भेद है। **हम भव्य हैं, हम सम्यग्दृष्टि हैं, हम संज्ञी हैं... इस प्रकार गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानों का विचार अथवा कर्मों के आस्रवभावों का विचार अथवा चार प्रकार के बन्ध का विचार अथवा संवर, निर्जरा के कारण का विचार, यह सर्व व्यवहारनय द्वारा विचार करना चञ्चलताजनक है**। चञ्चल लिया।

शुभोपयोगमय है, इसलिए बन्ध का कारण है। देखो, यहाँ लिया। यह शुभोपयोगमय है, अशुभ नहीं। 'धवल' में दूसरा नहीं है... पण्डितजी ने 'धवल' नहीं पढ़ा? अपने विमलचन्दजी ने बहुत पढ़ा है। विमलचन्दजी, नहीं? पण्डितजी! विमलचन्दजी नहीं? उन्होंने बहुत पढ़ा है, उनका अभ्यास बहुत है। 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल', का बहुत अभ्यास है। पृष्ठ-पृष्ठ का कह दे, बहुत अभ्यास। उन्होंने दो ही अभ्यास किया, एक इंजीनियर का, (उसे) छोड़कर यह किया। दूसरा कोई नाटक-फाटक, फिल्म-विल्म (कुछ नहीं)। युवा अवस्था, अभी विवाह करके आया था, पाँच दिन रह गया। अभी विवाह हुआ। साढ़े चार सौ-पाँच सौ का वेतन है। विवाह करके आया था, अभी पाँच दिन रह गया, उसका अभ्यास बहुत है। 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल', का बहुत अभ्यास, बहुत अभ्यास, याददाश्त भी बहुत है।

मुमुक्षु : विशेष प्रकार....

उत्तर : विशेष प्रकार नहीं, दृष्टि (बदले) बिना, विशेष प्रकार होता ही नहीं। यह तो पहले-पहले आया तब कहता था, महाराज! आप जो कहते हो, वह यथार्थ है। धवल में निमित्त प्रधानता से कथन है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा लिखे, लो! 'समयसार' में तीसरी गाथा में (ऐसा लिखते हैं) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य अपने अनन्त गुणों का चुम्बन करता है परन्तु अन्य द्रव्य का चुम्बन / स्पर्श नहीं करता। पण्डितजी! तीसरी गाथा में। **एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे**। वहाँ टीका में (आता है) धवल में ऐसा लिया है कि आत्मा, आत्मा को स्पर्शता है, आत्मा

परमाणु को स्पर्शता है, आत्मा धर्मास्तिकाय को स्पर्शता है – ऐसा पूरा एक स्पर्श द्वार लिया है परन्तु उसका अर्थ क्या? निश्चय है वह झूठा है? यह तो व्यवहार से (कहा है) स्पर्श का अर्थ संयोग है तो स्पर्श कहा है। स्पर्श क्या? समझ में आया? कथन की पद्धति है।

मुमुक्षु : एक को मानना और एक को नहीं मानना।

उत्तर : निश्चय को सत्य मानना और व्यवहार को उपचार से कथन मानना। तीसरी गाथा में 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने ऐसा कहा – एक पदार्थ अपने अनन्त धर्मों को, गुणों को चुम्बन करता है, आलिंगन करता है, स्पर्श करता है परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुण-पर्यायों को कभी चुम्बन आलिंगन नहीं करता। समझ में आया? वहाँ ऐसा कहते हैं और (धवल में) ऐसा कहते हैं कि परमाणु, आत्मा को स्पर्श करता है; आत्मा, धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है। अरे! परन्तु आत्मा धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है – इसका अर्थ क्या? उस समय के संयोग को वहाँ स्पर्श कहा है, वरना स्पर्श है नहीं। वहाँ धवल में कथन की ऐसी पद्धति है, पूरा एक स्पर्श द्वार है। यह क्या है? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं भगवान आत्मा... व्यवहारनय का विचार चञ्चल शुभ उपयोग बन्ध का कारण है। यह संसारदशा त्याग करने योग्य है और मोक्षदशा ग्रहण करने योग्य है, यह भी राग-द्वेष का विकल्प है। मोक्ष अच्छा है, यह राग का अंश है; संसार खराब है, यह द्वेष का अंश है। सत्य का स्थापन, ऐसा है, यह भी जरा राग का विकल्प है और ऐसा नहीं, ऐसा जरा द्वेष का अंश है। समझ में आया? पण्डित जयचन्दजी ने कर्ता-कर्म अधिकार में लिखा है, ऐसा ही है न, अकेला ज्ञातास्वभाव में ऐसा है। सर्वज्ञ कहते हैं, वह तो इच्छा बिना वाणी निकलती है, उन्हें तो इच्छा नहीं है परन्तु यहाँ नीचे की भूमिका में (ऐसा कहे कि) ऐसा है, ऐसा नहीं है... अन्दर चारित्रमोह का अंश उत्पन्न होता है। उपादेय नहीं है, वह भी उपादेय नहीं है। समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं...

क्षणिक है, दु:खदायी है, अनित्य है, अशान्त है। अनित्य है न? वह त्रिकाली नहीं... अनित्य तो अपनी शुद्धपर्याय भी अनित्य है परन्तु वह दु:खदायी नहीं है; यह दु:खदायक है, इस अपेक्षा से अन्तर है। क्षणिक तो केवलज्ञान भी क्षणिक है, एक समय की पर्याय केवलज्ञान दूसरे समय वह नहीं रहती; वह नहीं, वैसी ही (दूसरी) होती है

परन्तु वह दु:खदायक नहीं है। विकल्प है, वह दु:खदायक है, इतना अन्तर है। इसलिए अहितकर है, छोड़ने योग्य है। समझ में आया ?

(नियमसार) पचासवीं गाथा में क्षायिक समकित को हेय कहा, परभाव कहा, परद्रव्य कहा – उसका अर्थ उसका आश्रय करने से विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकल्प दु:खरूप है। पर्याय दु:खरूप नहीं, क्षायिक समकित दु:खरूप नहीं; वह तो आनन्दरूप है। समझ में आया ? ऐसे क्षणिक है, वह दु:खरूप है – ऐसा भी नहीं (क्योंकि) क्षणिक तो केवलज्ञान भी क्षणिक है, सिद्ध की पर्याय भी क्षणिक है, समस्त पर्यायें क्षणिक है। सिद्ध की एक समय की पर्याय सिद्ध रहती है, दूसरे समय दूसरी होती है, पर्याय गुलाँट खाती है। ध्रुवरूप से कायम रहता है। एक समय की पर्याय अनन्त ज्ञान-दर्शन चतुष्टय प्रगट हुए वे एक समय रहते हैं, दूसरे समय दूसरे, तीसरे समय तीसरे, एक समय में दो पर्यायें नहीं रहतीं।

(यहाँ कहते हैं) यह विकल्प का अंश जो होता है कि यह ठीक, उसमें यह राग का भाग आता है, इस कारण वह ज्ञाता-दृष्टा में दखल उत्पन्न करनेवाला है। समझ में आया ? भगवान का मार्ग, आत्मा का मार्ग ऐसा है। आँख की पलक में तो थोड़ी रज समाहित हो परन्तु इसमें तो नहीं समा सकती, ऐसा प्रभु का मार्ग है, भाई !

मुमुक्षु : यह सिद्धभगवान है – अरहन्तभगवान है...

उत्तर : यह जानना दूसरी बात है परन्तु इसमें भेद करके लक्ष्य वहाँ गया तो विकल्प उत्पन्न होता है।

मुमुक्षु : सर्वज्ञ का ज्ञान तो जानता है।

उत्तर : (सर्वज्ञ) सब जानते हैं परन्तु उन्हें इच्छा नहीं है, राग नहीं है; राग नहीं न ! यह रागी है, इसलिए राग उत्पन्न होता है। भेद का ज्ञान करना, इस भेद का ज्ञान करना, वह राग का कारण नहीं है परन्तु रागी है, इसलिए भेद का ज्ञान करता है, तो रागी है तो राग उत्पन्न होता है। भेद का ज्ञान करना, वह राग का कारण होवे तो सर्वज्ञ सब देखते (-जानते) हैं, (उन्हें राग उत्पन्न होना चाहिए) ऐसा नहीं है। यहाँ रागी प्राणी है, राग के अंश में पड़ा है; इस कारण भेद का लक्ष्य करता है तो राग आये बिना नहीं रहता।

इसमें (समयसार में) भी लिया है, सातवीं गाथा में लिया है। पण्डित जयचन्दजी ने बहुत अच्छा लिया है, सब व्याख्यान हो गये हैं। सातवीं गाथा... **'ववहारेणुवदिस्सदि'** है न! उसमें लिया है। (भावार्थ) **यहाँ कोई कहे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं; तो उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है?** दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो अपनी पर्याय है, उसे व्यवहार कैसे कहा जाए? समझ में आया? व्यवहार तो उसे कहें, समझ में आया? देखो! उसका समाधान। व्यवहार उसे कहते हैं कि अपने में न हो – ऐसे पर को व्यवहार कहते हैं। यह तो तुम अपनी पर्याय को व्यवहार कहते हो तो व्यवहार का अर्थ ऐसा होता है कि अवस्तु होता है। अपनी चीज नहीं, वह अवस्तु है तो पर्याय को तुम अवस्तु कैसे कहते हो? अर्थात् तुम व्यवहार कैसे कहते हो? व्यवहार कहते ही तुमने अवस्तु कही... (ऐसा) शिष्य ने प्रश्न किया... तुमने व्यवहार क्यों कहा? तब तो अवस्तु हो जाती है। तो कहते हैं सुन! यह सही बात है, तेरी बात सही है, ऐसा कहकर कहते हैं। यह ठीक है किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है।

अभेददृष्टि में भेद को गौण कहने से ही अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है। उसमें भेद है, अभेद में अन्दर गुण नहीं? परन्तु गुणभेद करने से विकल्प उत्पन्न होता है। **भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है।** देखा! भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। **यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि भेददृष्टि में भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी को विकल्प होते रहते हैं...** यह एक महासिद्धान्त है। **इसलिए जहाँ तक रागादि दूर नहीं हो जाते, वहाँ तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है...** फिर भेद जाने, तीन काल-तीन लोक जाने। भगवान एक-एक पर्याय सबको जानते हैं, यह राग का भेद जानना, वह राग का कारण नहीं परन्तु रागी प्राणी है और भेद पर लक्ष्य जाता है तो विकल्प उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता, यह हेतु है।

इस कारण यहाँ कहा। भगवान तो एक-एक पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद को एक-एक को पृथक्-पृथक् जानते हैं। एक द्रव्य के अनन्त गुण, एक गुण की अनन्त पर्याय, एक पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद; ज्ञान में तो भगवान सर्व विशेष जानते हैं।

विशेष जानना, वह कहीं राग का कारण नहीं है परन्तु नीचे उपयोग रागवाला है और रागी प्राणी है तो भेद का लक्ष्य करने से रागी को राग उत्पन्न होता है – ऐसी बात है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : अनुमोदन है वह ?

उत्तर : अनुमोदन नहीं, वह विकल्प है। वह रागी है न ? तो वहाँ एकरूपता नहीं रही, अनेकता का लक्ष्य हुआ तो विकल्प ही उत्पन्न होता है। जरा समझना, अनेक रूप जानना, वह राग का कारण है, परन्तु रागी एकरूप को जाने, तब निर्विकल्प होता है और रागी है, इसलिए अनेक पर लक्ष्य जाए तब उसे विकल्प उत्पन्न होता है, वह राग का-मोह का कारण है। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं – वीतरागदशा प्राप्त करने के लिए व्यवहारनय के समस्त विचारों को बन्द करके केवल निश्चयनय द्वारा अपने को और जगत को देखना चाहिए। अपने स्वरूप को भी निश्चय से देखना, उसका स्वरूप अभेद त्रिकालस्वरूप है, वैसा दृष्टि में लेना। (फिर) विशेष बात की है। **जहाँ तक विचार है, वहाँ तक मन का विकल्प है।** वह इस प्रकार के, हाँ! **जब विचार करने पर मन स्थिर हो जाए तब सहजस्वरूप में रमणता हो जाती है, स्वानुभव हो जाता है, इससे ही बहुत कर्मों की निर्जरा होती है, इसकी प्राप्ति को मोक्षमार्ग जानो, जब-जब स्वानुभव तब-तब मोक्षमार्ग।** मोक्षमार्ग त्रिकाल कायम तो है परन्तु स्वानुभव उपयोग हुआ तब मोक्षमार्ग हुआ।

स्वानुभव के अतिरिक्त मन के विचार को और शास्त्र पठन को या काया के आचरण को, महाव्रत-अणुव्रत के पालन को मोक्षमार्ग कहना यथार्थ नहीं है, व्यवहारमात्र है। कथनमात्र है। भाई ! क्या करे ? स्वतन्त्र जीव है, उसे भी अनन्त तीर्थङ्कर आवे तो भी न बदले – ऐसा है और जब सुलटा पड़े, तब अनन्त परीषह आवे तो भी नहीं डिगे – ऐसा है। इन दोनों में आत्मा अडिग है, उसका इतना वीर्य है। 'अनुभवप्रकाश' में लिया है न ? भगवान ! तेरी शुद्धता तो बड़ी है परन्तु तेरी अशुद्धता भी बड़ी है। दीपचन्दजी ने लिया है। तेरी अशुद्धता भी बड़ी, अनन्त तीर्थङ्कर आवे, ज्ञानी आवे और समझावे तो भी तू अशुद्धता छोड़ दे – ऐसा नहीं है। तू छोड़े उस दिन छूटेगी। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि

ज्ञानी अपने में इतने दृढ़ हैं कि तलवार पड़े, वज्र प्रहार हो, सारी दुनिया में फेरफार हो जाए तो भी अपनी दृष्टि से और अपनी स्थिरता से वे डिगते नहीं हैं। सुलटे में भी ऐसा है और उलटे में भी ऐसा है। ताकत तो इसकी है या नहीं ?

अणुव्रत के पालन को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। **जैसे सोने की म्यान में तलवार होवे, उसे सोने की तलवार कहते हैं उसी प्रकार**। तलवार तो लोहे की है। दृष्टान्त ठीक दिया है। समयसार का है, दृष्टान्त सब शास्त्रों के ही देते हैं, दृष्टान्त तो शास्त्र के ही देना चाहिए न ? भले नाम न दे परन्तु शास्त्र का कथन होना चाहिए, घर की कल्पना (नहीं चाहिए)।

स्वानुभव छूट जाए, तब साधक को निश्चय में अथवा द्रव्यार्थिकनय द्वारा शुद्ध तत्त्वों का विचार करना चाहिए। ऐसा कहते हैं। बहुत लम्बी बात है। उपयोग न जमे तो व्यवहारनय का भी विचार करना... शास्त्र पढ़े, उपदेश दे। **भावना यही रखना कि मैं शीघ्र ही स्वानुभव में पहुँच जाऊँ।**

मुमुक्षु : राग है, उतना तो बन्ध है न ?

उत्तर : यथार्थरूप से जितना राग है, उतना बन्ध होता है न। चौथे, पाँचवें में अनुभव हुआ परन्तु अभी अबुद्धिपूर्वक राग है, अबुद्धिपूर्वक राग है। अनुभव से नहीं परन्तु जितना राग है, उतना बन्ध तो उसे भी है। छठवें गुणस्थान में थोड़ा बन्ध तो है न! है ?

मुमुक्षु : राग साथ में ही होता है।

उत्तर : साथ में ही नहीं, वस्तुदृष्टि ऐसी है, स्थिर है परन्तु पूर्ण स्थिर नहीं, पूर्ण स्थिर होवे तो केवलज्ञान हो जाए।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : होता है तथापि केवलज्ञान जैसी स्थिरता नहीं है। जब होता है, तब भी यथाख्यातचारित्र जैसी स्थिरता नहीं है, है ही नहीं। चौथे, पाँचवें, छठवें में यथाख्यातचारित्र जैसी स्थिरता होती ही नहीं। जितनी स्थिरता नहीं है, उतना अन्दर अबुद्धिपूर्व का राग हुए बिना (नहीं रहता)।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह दूसरी बात है। अन्दर में राग नहीं रहता.. राग बाकी है, राग बाकी है। राग बाकी न हो तो वीतराग हो जाए, केवलज्ञान (हो जाए)। एक क्षण में अनुभव हुआ, क्षण में अनुभव हुआ तो वहाँ पर्याय में वीतराग हो गया? वीतराग हुआ हो तो फिर राग आया कहाँ से? फिर वापस राग आया... वह राग अन्दर है। अनुभव करने में बुद्धिपूर्वक का राग नहीं है... अबुद्धिपूर्वक का राग उसी समय है परन्तु दृष्टि के जोर में ऐसा भी कहा जाता है कि अनुभवी को निर्जरा ही है, बन्ध है ही नहीं। यह तो दृष्टि की प्रधानता की मुख्यता से (कहा गया है) परन्तु उसे अन्दर राग बाकी है, उतना बन्ध तो दशवें (गुणस्थान) तक है। समझ में आया? गौण में जो (राग) है, उसका ज्ञान तो उसे होना चाहिए। स्थिरता हो जाए, एकदम अनुभव में पूर्ण स्थिरता (हो जाए) सिद्ध जितना आनन्द प्रगट हो जाए तो समाप्त हो गया। सिद्ध जितना नहीं, सिद्ध जैसा अंश है; सिद्ध जितना नहीं। इसलिए यहाँ कहते हैं, अपने स्वरूप में रह सके, शुभभाव होवे परन्तु विचार तो अपने में रखना। अन्तर अनुभव कैसे हो? अन्तर में कैसे जाऊँ? ऐसी भावना रखना ही मोक्ष का उपाय है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मुनिमार्ग की शाश्वत आचरण संहिता

अहा! कोई भी साधु अथवा क्षुल्लक अपने लिए बनाया हुआ आहार ले तो वह जैनदर्शन के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है। बापू! मार्ग यह है। यह कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। यह तो वीतरागमार्ग है, इस मार्ग से विपरीत माननेवाले अधिक हों, इसलिए मार्ग दूसरा है – ऐसा नहीं है। अथवा पालन नहीं किया जा सके, इसलिए मार्ग दूसरा हो जाए – ऐसा भी नहीं है। जिसका व्यवहार सच्चा है, उसका निश्चय झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी हो सकता है, परन्तु भाई! जिसका व्यवहार ही झूठा है, उसका निश्चय तो झूठा ही है।

(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१)

सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है

सम्माइट्ठी जीवडहँ दुग्गइगमणु ण होइ।
जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्वक्किउ खवणेइ॥ ८८॥

सम्यग्दृष्टि जीव का, दुर्गति गमन न होय।
यद्यपि जाय तो दोष नहिं, पूर्व कर्म क्षय होय॥

अन्वयार्थ – (**सम्माइट्ठी जीवडहँ दुग्गइगमणु ण होइ**) सम्यग्दृष्टि जीव का गमन खोटी गतियों में नहीं होता है (**जइ जाइ वि तो दोसु णवि**) यदि कदाचित् खोटी गति में जाए तो भी हानि नहीं होती (**पुव्वक्किउ खवणेइ**) यह पूर्वकृत कर्म का क्षय करता है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण १२, शुक्रवार, दिनाङ्क १५-०७-१९६६
गाथा ८८ से ८९ प्रवचन नं. ३५

यह योगसार शास्त्र है, योगीन्दुदेव मुनि। ८८ गाथा –

सम्माइट्ठी जीवडहँ दुग्गइगमणु ण होइ।
जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्वक्किउ खवणेइ॥ ८८॥

(सम्यग्दृष्टि खोटी गति में) जाए तो दोष नहीं, पूर्व का खिरता है – ऐसा कहते हैं। **सम्यग्दृष्टि जीव का खोटी गतियों में गमन नहीं होता...** क्योंकि अपना आत्मा शुद्ध अखण्ड निर्मल, निर्विकल्प, दृष्टि का आदर है। दृष्टि में अपने पूर्ण स्वभाव का आदर है; सम्पूर्ण संसार की अन्दर दृष्टि में उपेक्षा है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि '**दुग्गई-गमणु ण होइ**' उसके दुर्गतिगमन नहीं होता, क्योंकि अपना स्वभाव ज्ञायक चैतन्यस्वभाव सन्मुख का उपादेयपना है और सम्पूर्ण संसार, विकल्प से लेकर सबकी उसे ग्रहण बुद्धि नहीं है... ग्रहण बुद्धि नहीं है और अपने शुद्ध स्वभाव की ग्रहण बुद्धि है। इस कारण से

कदाचित् खोटी गति में जाए तो हानि नहीं है। वह तो **पूर्व कृतकर्म का क्षय करता है।** पूर्व का बाँधा हुआ कर्म है, उसका उसे नाश हो जाता है। समझ में आया?

आत्मा के शुद्धस्वरूप की गाढ़ रुचि, वह अतीन्द्रिय सुख से परम प्रेम रखनेवाला भव्य जीव को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। पहले आनन्द से लेते हैं, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, अमृतस्वरूप है, आनन्द मुझमें ही है। अतीन्द्रिय आनन्द की गाढ़ रुचि और परम प्रेम जिसे अन्तर आत्मा में हो गया, उसके पुण्य-पाप, उनका बन्धन और उनका फल, उसका प्रेम रुचि अन्तर से उड़ गयी है। समझ में आया? नाश हो गयी, रुचि नहीं है।

गाढ़ रुचि और अतीन्द्रिय सुख का परम प्रेम रखनेवाला... अपने आत्मा में ही अतीन्द्रिय आनन्द और शान्तरस पड़ा है। मेरी शान्ति और आनन्द तीन काल-तीन लोक में कहीं मेरे अतिरिक्त, शुभभाव में भी मेरा आनन्द नहीं तो आदर किसका रहा? समझ में आया? परम गाढ़ रुचि... अपने निर्मालानन्द अनन्त गुण का प्रेम, उसमें आनन्द का प्रेम है तो समस्त गुण का प्रेम आ गया।

वह मोक्षनगर का पथिक बन जाता है। वह तो छूटने की दशा का पथिक है; बन्धन की दशा का पथिक नहीं है, क्योंकि आत्मा ही मुक्तस्वरूप है। राग, शरीर, कर्म से मुक्तस्वरूप है। ऐसे मुक्तस्वरूप की अन्तर रुचि, दृष्टि परिणति हो गयी तो उसे मोक्ष के पन्थ के ओर की ही उसकी पर्याय में गति है। आत्मा मोक्षस्वरूप है।

मुमुक्षु : कौन से गुणस्थान की बात है?

उत्तर : चौथे गुणस्थान की बात करते हैं।

मुमुक्षु : लोग तो सातवें में कहते हैं?

उत्तर : दुनिया चाहे जो कहे। पण्डितजी! यहाँ तो भगवान यह कहते हैं और ऐसा है। द्रव्य क्या चीज है? आत्मद्रव्य क्या है? आत्मद्रव्य अर्थात् अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान आदि शुद्धस्वरूप का पिण्ड वह आत्मा, वह तो मुक्तस्वरूप ही है। आत्मा राग, शरीर, कर्म से बँधा हुआ है? वस्तु, वस्तु बँधी हुई है? यदि वस्तु बँधे तो वस्तु का अभाव हो जाए।

पर्याय में, एक समय की दशा में राग है तो जहाँ पर्यायबुद्धि गयी और वस्तु दृष्टि हुई तो वस्तु तो मुक्त है। वस्तु में बन्ध है? पदार्थ में बन्ध है? पदार्थ के बन्ध की व्याख्या क्या? पदार्थ बन्धन में है, इसका अर्थ कि पदार्थ है ही नहीं। (परन्तु) ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

पदार्थ शुद्ध ध्रुव चैतन्य शाश्वत् अनन्त आनन्द का सागर है, उसकी पर्याय में एक समय का राग है, राग में कर्म का निमित्त भी है, वह तो पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि में दिखता है परन्तु जहाँ सम्यग्दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि का भान हुआ, वस्तु अखण्ड ज्ञायकमूर्ति की दृष्टि हुई तो द्रव्य तो मुक्त है। समझ में आया? मुक्त अर्थात् पर्याय में भी मुक्ति का – छूटने के पन्थ के मार्ग में वह है। सम्यग्दृष्टि बँधने के मार्ग में है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान आत्मा, यह राग और कर्म का सम्बन्ध वस्तु में कहाँ है? सम्यग्दृष्टि की दृष्टि तो द्रव्य पर है। द्रव्य अर्थात् वस्तु, तो वस्तु तो पूर्ण मुक्त ही है। पूर्ण मुक्त की जहाँ दृष्टि हुई, वहाँ राग और कर्म के निमित्त के बन्ध की पर्याय का ज्ञान रहा, आदर नहीं रहा। समझ में आया? यह भगवान आत्मा अपने पूर्णानन्द और ज्ञायकस्वभाव की प्रीति, गाढ़ रुचि हुई तो स्वरूप मुक्त है तो पर्याय में भी मुक्त की दशा सन्मुख, मुक्ति के पन्थ में चला। यह मुक्ति में जाता है, अब मुक्ति में ही पर्याय जाती है। मुक्ति की ओर जाती है, बन्ध की ओर नहीं। जरा समझ में आया? जरा समझ में आया – ऐसा कहते हैं।

अतीन्द्रिय सुख का परम प्रेम रखनेवाला... मोक्षनगर का पथिक (बन जाता है)। नगर अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति; मुक्तदशा की ओर उसकी गति है; बन्धभाव की ओर गति नहीं। समझ में आया? आत्मा का स्वीकार होना चाहिए न? राग और कर्म निमित्तरूप होने पर भी, राग अवस्था में होने पर भी, वस्तु की दृष्टि करना और वस्तु में दृष्टि लगाकर सम्यक् परिणमन करना, वह तो दृष्टि का जोर है न? राग और कर्म होने पर भी, मुझ में नहीं है। समझ में आया? ऐसी अपनी चैतन्य ज्ञायकभाव की, अतीन्द्रिय आनन्द की परम गाढ़ रुचि जम गयी। बन्ध है, राग है, वह जानने योग्य है। जानने का प्रयोजन है, बस! इस तरफ दृष्टि गयी तो वह अन्दर छूटने के मार्ग का पथिक है।

सम्यग्दृष्टि छूटने के मार्ग का पथिक है। आहा...हा... ! यह स्वीकार कौन करे ? समझ में आया ? यह किसी को पूछने नहीं जाना पड़ता कि हे भगवान ! मेरे कितने भव हैं ? परन्तु मेरी चीज में भव ही नहीं हैं। कल नहीं आया ? भगवान आत्मा को भव का परिचय नहीं है, कलश में आया न ? ठीक है। वस्तु पदार्थ, चैतन्य ज्योत अनन्त गुण का सार, रसकस – चीज को भव का भाव या भव का परिचय बिलकुल नहीं है। यह तो पर्याय के अंश में राग का, भव का परिचय है। पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि छूट गयी, स्वभावबुद्धि हुई – ऐसे स्वभाव में भव का परिचय, भगवान आत्मा में और आत्मा को है ही नहीं। सम्यग्दृष्टि को भी भव की शंका नहीं है – ऐसा कहते हैं। मैं नि:शंक मुक्त होनेवाला ही हूँ, अल्प काल में ही मेरी मुक्ति है, मैं अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। मुझे दूसरी बात है ही नहीं। समझ में आया ?

यह नि:सन्देहपना, नि:शंकपने का अनुभव तो अपनी दृष्टि का विषय हुआ। यह कहीं बाहर की चीज है ? समझ में आया ?

कहते हैं, भगवान आत्मा.... अपना सम्पूर्ण धर्म, धर्म, सम्पूर्ण धर्मी को धर्म में धार लिया। दृष्टि में सम्पूर्ण आत्मा को धार लिया। सम्पूर्ण पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में आ गया। उसमें भव है ही नहीं, और भव के अभाव तरफ की पर्याय में गति हो गयी। नि:सन्देह हो गया, एक दो भव मेरे पुरुषार्थ की कमी है तो होंगे, तो वह राग के कारण से है, मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। मेरी स्वामित्व की चीज नहीं, वह मेरी चीज ही नहीं। सहजात्मस्वरूप पूर्णानन्द ही मेरी चीज और मैं उसका स्वामी हूँ। समझ में आया ? आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन की महत्ता क्या ? फिर थोड़ा लेंगे, रत्नकरण्डश्रावकाचार में से दो गाथाएँ लेंगे।

वस्तु... एक समय की पर्याय में दोष है, एक समय की दशा में दोष है, वरना सम्पूर्ण आत्मा निर्दोष का पिण्ड है। अत: जब रुचि, एक समय के दोष के सम्बन्ध की रुचि छूट गयी, मेरे स्वभाव में यह एक समय का बन्ध है ही नहीं, स्वभाव में है ही नहीं। आहा...हा... ! यह-वह किसकी दृष्टि काम आयेगी वहाँ ? भगवान के वचन वहाँ काम आयेंगे ? अपने आप भगवान आत्मा नि:सन्देह होकर अपना शुद्धस्वभाव का दृष्टि में परिणमन हुआ तो

कहते हैं कि मोक्ष का ही पथिक है। गिर जाएगा तो? गिर जाने का प्रश्न कहाँ है? वस्तु कभी गिरती है? तो वस्तु की दृष्टि गिरने की कभी बात ही अन्दर में नहीं है। समझ में आया? और गिरने की शंका है, वहाँ द्रव्य की दृष्टि नहीं रहती। वह तो राग में आ गया, राग की एकत्वबुद्धि में आ गया। समझ में आया?

मुमुक्षु : दूसरे जीवों की तुलना में दृष्टि का जोर कोई अलग प्रकार होता है।

उत्तर : वस्तु ही यह है। सम्यग्दर्शन, सर्व में... यह क्या कहा? पण्डितजी! 'कर्णधार' कहा है न? कर्ण शब्द है। कण्ठस्थ नहीं... मोक्षमार्ग में कर्णधार है। खेवटिया है, नाविक; सबमें नाविक – नाव चलानेवाला है। कर्णधार लिया है। समन्तभद्राचार्यदेव। सबका नाविक है। चैतन्य की पूरी नाव, स्वभावसन्मुख की धारा चलती है, (उसमें) सम्यग्दर्शन है, वह नाविक है, खेवटिया है। खेवटिया समझे? पार करने के लिए... ओ...हो...! रत्नकरण्डश्रावकाचार में बहुत कथन किया है। उसके जैसा उत्तम कोई पदार्थ नहीं है... सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं, उसके बिना चारित्र नहीं, उसके बिना कुछ है ही नहीं और सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ सर्वस्व हो गया। समझे?

वह मोक्षनगर का पथिक बन जाता है, संसार की तरफ पीठ रखता है... लो, इसका अर्थ क्या? कि विकल्प आदि की उपेक्षा ही रखता है, आहा...हा...! निर्विकल्प स्वभाव की अपेक्षा रखता है और विकल्प की उपेक्षा करता है, बस! यह वस्तुस्वरूप है। इसके ख्याल में आना चाहिए न? अन्तरदृष्टि में आना चाहिए न? ऐसे का ऐसे बोले तो कहीं पता नहीं खाता। समझ में आया?

भगवान आत्मा चैतन्यपदार्थ, ज्ञायकभाव पूर्ण अमृत की, आनन्द की गाढ़ रुचि, गाढ़ रुचि। समझ में आया? जैसे मक्खी है, वह फिटकरी का स्वाद लेती है, फिटकरी होती है न? फिटकरी का स्वाद ले तो खारा लगता है, मिश्री की इतनी डली हो, इतनी (होवे उसकी) मिठास में ऐसी लग जाती है, ऐसी लग जाती है कि बालक खाते-खाते उसका हाथ लगाये, उसकी पंख मिश्री पर चिपक गयी होती है, (बालक का हाथ लगे) तो भी नहीं हटती... मिठास लग गयी है। फिटकरी की इतनी बड़ी डली हो और मिश्री की छोटी डली हो परन्तु ऐसी (मिठास) लगी है। समझ में

आया ? ऐसे ही आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की डली है। मक्खी जैसे चतुरिन्द्रिय प्राणी को भी मिठास लगे, वहाँ से रुचि नहीं हटती तो आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की बड़ी डली है।

'चाखे रस पूरण करे, छूटे सुरिजन, सुरिजन टोरि' समझ में आया ? यह आनन्दघनजी कहते हैं। 'चाखे रख क्यों करि छूटे ?' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के दर्शन हुए, प्रतीति हुई, स्वाद आया, वह 'चाखे रख क्यों करि छूटे ?' 'सुरिजन, सुरिजन टोरि' देवता की टोली आये और कहे, ऐसा नहीं... (तो यह कहता है कि) चल, चल! हमको जो अनुभव हुआ है, वह चीज अन्यत्र कहीं है ही नहीं। समझ में आया ? 'सोहागन लागि अनुभव प्रीत' सोहागन... सोहागन कहते हैं न यह ? पतिव्रता स्त्री को सोहागन (सुहागन) पति हो न पति ! उसे सौभाग्यवती कहते हैं। ऐसे 'सोहागन लागि अनुभव प्रीत' भगवान आत्मा, यह सुहागन प्रीत लगी। मस्तक पर स्वामी-आत्मा देखा। समझ में आया ? यह आनन्दघनजी ने लिखा है। कुछ समझ में आया ?

संसार की तरफ पीठ रखता है, उसके भीतर आठ लक्षण या चिह्न प्रगट हो जाते हैं... यह जरा लिखते हैं। संवेग होता है। धर्म का प्रेम, धर्म का वेग। (१) संवेग – ज्ञानी का स्वभाव की तरफ का वेग है। (२) निर्वेग – संसार की तरफ से उदास है। संवेग अस्ति है, (निर्वेद) वैराग्य है। समझ में आया ? स्वभाव शुद्ध आत्मा की ओर का वेग, गति, वीर्य, रुचि अनुयायी वीर्य, रुचि अनुयायी वीर्य, शुद्धस्वभाव की रुचि हुई तो वीर्य, रुचि के अनुसार ही वीर्य गति करता है। इसका नाम संवेग कहते हैं। वैराग्य-संसार शरीर, भोग, सम्पूर्ण संसार से वैराग्य, (आत्मा में) संवेग, यहाँ (निर्वेद) **संसार की चारों गतियों में आकुलता है। यह शरीर कारागृह है, इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारक और नाशवन्त हैं।** ऐसा वैराग्य है। वैराग्य, हाँ! द्वेष नहीं (कि) यह विषय ऐसे हैं, यह शरीर ऐसा है; वे तो ज्ञेय हैं। उस ओर का प्रेम है, वह छूट गया है और स्वभाव की ओर का प्रेम हो गया है।

(३) निन्दा – स्वयं को जरा राग आता है तो अन्तर में खेद (होता है कि) यह क्या ? अरे...! यह क्या ? देखो! समकिती को भोग भी होते हैं परन्तु उसमें

निन्दा (करता) है। अरे! हमारी चीज में हम एकाकार होना चाहते हैं। उसमें यह क्या? निन्दा करता है।

(४) गर्ह्या – गुरु के समक्ष गर्ह्या करता है। समझ में आया? अपनी कमजोरी की निन्दा करता रहता है। देखो! स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिया है, आत्मा का भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ तो पर्याय में अपने को तुच्छ देखता है। अरे...! हमारी पर्याय बहुत अल्प है। कहाँ भगवान केवलज्ञानी की दशा, कहाँ सन्तों की चारित्र की रमणता की उग्र-उग्र स्वसंवेदन की दशा.... समझ में आया? यह पाँचवीं (गाथा में) लिया है न? प्रचुर स्वसंवेदन...। (समयसार में) कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, हम पर तो हमारे गुरु की कृपा हुई है। हमें गुरु ने उपदेश दिया, भगवान तू शुद्धात्मा है न! लो, सम्पूर्ण बारह अंग इसमें आ गये। हमारे गुरु ने हमें, सर्वज्ञ से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, अपरगुरु... यह पाँचवीं गाथा में आता है। वे सर्वज्ञ जो कि विज्ञानघन है और हमारे गुरु भी विज्ञानघन हैं। अल्प थोड़े ही हैं – ऐसा नहीं है। सभी विज्ञानघन लिया है – ऐसा संस्कृत में पाठ है। विज्ञानघन में मग्न है न? ऐसा लिया है। अन्तरमग्न, अन्तरनिमग्न – ऐसा पाठ है। अपर गुरु भगवान से लेकर हमारे गुरु विज्ञानघन में अन्तरनिमग्न हैं, वहाँ इतनी व्याख्या की। उन्होंने हम पर कृपा की, हमें उपदेश दिया। हमारी पात्रता थी – ऐसा नहीं लिया। ऐसा पाठ है। क्या (उपदेश) दिया?

भगवान! तू शुद्ध आत्मा है न! आहा...हा...! ऐसा उपदेश दिया और हमें प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ। मुनि है न! सम्यग्दृष्टि में स्वसंवेदन है, प्रचुर नहीं। मुनि है, चारित्रदशा है, प्रचुर स्वसंवेदन... प्रचुर स्वसंवेदन। ओ...हो...हो...! हमारे अनुभव से, हमारे वैभव से हम कहते हैं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

(यहाँ) कहते हैं कि थोड़ा भी दोष होवे तो कमी दिखती है। अरे...! हमारी पर्याय पूर्ण केवलज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण दशा होनी चाहिए, (उसमें) यह क्या? समझ में आया? ऐसी निन्दा (करता है)। उत्साह नहीं होता कि राग हो तो हो, भले हो – ऐसा नहीं। समझ में आया? परमात्मा शुद्ध चैतन्य की ओर का झुकाव है, तो राग की ओर की निन्दा-गर्ह्या होती है – ऐसा उसका लक्षण है। समझ में आया?

(५) उपशम – आत्मानुभव के प्रताप से उसमें सहज शान्तभाव जागृत रहता है। उपशम की व्याख्या की है। अकषायपरिणति सदा जागृत रहती है, सदा अकषायभाव साक्षी की जागृति है।

(६) भक्ति – सम्यग्दृष्टि जीव को जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थगुरु और जिनवाणी की गाढ़ भक्ति होती है। शुभभाव है न? शुभभाव। **स्तुति, वन्दना, पूजा और स्वाध्याय करता रहता है, उन्हें मोक्ष का सहकारी जानता है।** मोक्ष में ये निमित्तरूप भाव हैं। यह शुभभाव निमित्तरूप सहकारी है, मेरा स्वभाव, साधन है।

(७) वात्सल्य – साधर्मी भाई और बहिनों के प्रति... प्रेम है। **धार्मिक प्रेम रखता है...** धार्मिक के साथ की बात है न! उसमें क्या है? है? साधर्मी की विशेष दशा देखकर उसे द्वेष नहीं आता। (उसे ऐसा लगता है कि) ओ...हो...! मुझे भी उग्रता में जाना है, उन्हें उग्रता हो गयी। धन्य अवतार, भाई! ऐसा नहीं है कि हमारा शिष्य क्यों बढ़ गया? उसे तो चार ज्ञान हो गये और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान की तैयारी हो गयी। बहुत अच्छा, अलौकिक बात है! हमें जो चाहिए, वह उसे प्राप्त होता है, बहुत अच्छा (–ऐसा) प्रेम रखता है। साधर्मी के प्रति उसे (प्रेम आता है)। (अपने से) अधिक देखकर द्वेष नहीं आता। लोगों में तो अपने से अधिक पैसा देखे तो द्वेष आता है। अपने पास पाँच लाख, और इसके पास दस लाख (हो गये)। मलूकचन्दभाई! उनके पुत्र के पास एक करोड़, दो करोड़ हैं न! तो भी दूसरे के प्रति द्वेष आता है कि हमारे पास दो करोड़ और उनके पास पाँच करोड़! – ऐसा द्वेष आता है। यहाँ तो साधर्मी की विशेष गुण की दशा देखकर प्रेम आता है। ओ...हो...! धन्य अवतार!! समझ में आया? ऐसा प्रेम है। उसमें नहीं आया? '**न धर्मो धार्मिकै बिना**' रत्नकरण्डश्रावकाचार.... धर्म कहीं धर्मी के बिना नहीं होता, धर्मी जीव के बिना धर्म नहीं होता तो जिसे धर्मी के प्रति प्रेम नहीं है, उसे धर्म के प्रति प्रेम नहीं है। रत्नकरण्डश्रावकाचार... आचार्यों ने तो वस्तु के स्वरूप का महाकथन ऐसी पद्धति से किया है। वात्सल्य है।

(८) अनुकम्पा – प्राणीमात्र के प्रति दया है। किसी के साथ **अन्याय का व्यवहार नहीं करता**। ऐसा लिया है। फिर लिया है (कि) सम्यग्दृष्टि को ४१ प्रकृतियों

का बन्ध नहीं है। **वह तो देवगति या मनुष्यगति में ही जन्म लेता है। यदि तिर्यञ्च या मनुष्य सम्यक्त्वी हुआ तो स्वर्ग का देव होता है। यदि नारकी व देव सम्यक्त्वी हुआ तो उत्तम मनुष्य होता है।**

सम्यक्त्व होने के पहले यदि मनुष्य या तिर्यञ्च की आयु बाँध ली हो तो भोगभूमि में तिर्यञ्च व मनुष्य जन्मता है। और जो नरक का आयुष्य बाँध लिया हो तो सम्यक्त्व सहित पहले नरक में जन्मता है। वहाँ भी समभाव से दुःख-सुख भोग लेता है। सम्यक्त्वी सदा सुखी रहता है।

बाहर नारकीकृत दुःख भोगत, अन्तरसुख में गटागटी... लो, यह लोग कहते हैं, समकित अर्थात् श्रद्धा... ऐसा नहीं, भगवान! देखो! बाहर नारकीकृत दुःख भोगत, अन्तरसुख में गटागटी... अन्दर आनन्द के प्रेम की अधिकता में उसे आनन्द है। जितना कषायभाव है, उतना दुःख है। इसकी गौणता करके स्वयं की अधिकता स्वभाव की ओर करता है। समझ में आया? (सम्यग्दृष्टि) मनुष्य, नरक में जाये तो भी सुखी है और मिथ्यादृष्टि नौवें ग्रैवेयक में जाये तो भी दुःखी है। वह यहाँ कहते हैं। कहा है न?

'सम्माइट्ठी-जीवडई, दुग्गई-गमणु ण होइ' और कदाचित् जाये तो क्या है? यह तो... जाता है... प्रति समय जड़कर्म की निर्जरा होती है और राग की अशुद्धता की भी निर्जरा होती है। 'निर्जरा अधिकार' में आया है न? भाव-अशुद्धि की भी निर्जरा होती है और द्रव्यकर्म की भी निर्जरा होती है। पहली गाथा में द्रव्यकर्म की निर्जरा कही, दूसरी गाथा में भावकर्म की (निर्जरा) कही, प्रति क्षण अशुद्धता खिरती है और द्रव्यकर्म के रजकण भी खिरते हैं। स्वभाव तरफ की अधिकदशा है न? तो कहते हैं....।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है... दृष्टान्त दिया है। **सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रतरहित होने पर भी...** लो! भगवान आत्मा, जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन सूर्य प्रगट हुआ, सम्यग्दर्शन रवि प्रगट हुआ... (वह) **व्रतरहित होने पर भी ऐसे पाप नहीं बाँधता जिनसे वह नारकी हो...** ऐसा पाप है नहीं। **तिर्यंच हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, नीचकुल में जन्म ले...** अरे...! **अंगहीन हो...** ऐसा कर्म नहीं बाँधता। अपने पूर्ण परमात्मस्वभाव

का दृष्टि में भान हुआ फिर बाहर में अंगहीन मिले – ऐसा पुण्य किसलिए बाँधेगा ? समझ में आया ? **अल्प आयुवाला...** हो ऐसा नहीं है और **दरिद्री** नहीं होता।

सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव ओज... ओज... ओज... ओजस्वी पराक्रमी दिखता है। हमाल (मजदूर) जैसा नहीं दिखता। अपने पुरुषार्थ का पराक्रम अन्दर से, हाँ! बाहर के पराक्रम की बात नहीं है। **तेज...** प्रताप, अन्तर प्रताप (होता है)। प्रभुत्व शक्ति खिली है न ? प्रभुत्व शक्ति का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने ऐसा (किया है कि) स्वतन्त्रता से शोभित अखण्ड प्रताप, जिसका प्रताप कोई खण्डित न कर सके (ऐसी) प्रभुत्वशक्ति आत्मा की है। ऐसे शक्तिवान का भान हुआ तो अपना प्रताप से दूसरे का प्रताप उसमें लागू नहीं पड़ता। कहो, समझ में आया ?

विद्या... देखो! सम्यग्दृष्टि अच्छी विद्या में उत्पन्न होता है, ओज लेकर गया है न! **वीर्य**... पुरुषार्थ... पुरुषार्थ-बल। **यश...** सम्यग्दृष्टि पुण्य बाँधे, उसमें यश ही होता है। क्या वह पापी है ? समझ में आया ? श्रेणिक (राजा) सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर नामकर्म बाँधकर गये हैं। बाहर निकलेंगे (फिर) तीर्थंकर (होंगे)। ओहो...हो...! माता के गर्भ में आने से पहले छह महीने पूर्व देव आयेंगे। अहो! माता! हे रत्नकूखधारिणी! रत्न को कूख में धरनेवाली माता-जननी, आपके गर्भ में भगवान आनेवाले हैं। बड़ा व्यक्ति आवे, तब पहले सफाई करने नहीं जाते ? कोई मनुष्य आनेवाला हो तो दो घण्टे-चार घण्टे पहले जमीन साफ करते हैं, पानी का गोला करते हैं, करते हैं या नहीं यहाँ ? राजा आते हों तो सफाई करते हैं। मकान-बकान साफ करते हैं। ऐसे कोई आयेगा ? तीन लोक का नाथ भले नरक में से आते हैं। आहा...हा...! माता! तुम्हारा गर्भ साफ करने आयेंगे। कौन आते हैं ? त्रिलोकनाथ भगवान! इतना पुण्य! सम्यग्दर्शनसहित क्या नीच गति, हल्की गति में जायेगा और हल्की गति-नरक में गये तो भी कर्म की निर्जरा के कारण गये हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ?

वृद्धि... वृद्धि... वृद्धि...। उसे शुद्धि की वृद्धि ही होती है, बाह्य के पुण्य की भी वृद्धि होती है। **और विजय प्राप्त करनेवाला...** है। स्वयं की विजय है, हम कभी गिरनेवाले नहीं हैं, हमारी विजय है, हमारी विजय है, हमारी ध्वजा ऊपर है।

'णाणसहावाधियं मुणदि आदं' राजा की ध्वजा ऊपर होती है न? इसी प्रकार हमारी जय है, विजय है। राग की, कर्म की पराजय है। मूढ़ (ऐसा कहते हैं) ऐसे कर्म आते हैं, मुझे मार डालते हैं। मूर्ख... ! कर्म में तू शक्ति मानता है और तुझमें शक्ति नहीं है? समझ में आया? वह तो परद्रव्य है, उसमें शक्ति (मानता है) अरे... ! भगवान! ऐसा कर्म है.... मैं ऐसा पुरुषार्थ करूँ कि क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करूँ – ऐसा क्यों नहीं लेता? समझ में आया? मेरे आत्मा में एक क्षण में ऐसा उग्ररूप से झुक जाऊँ कि सर्वज्ञपद (प्रगट हो जाये) सर्वज्ञपद पड़ा है, प्राप्त की प्राप्ति है। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि मुझे कर्म आयेगा और अमुक आयेगा – ऐसी शंका धर्मी को नहीं होती, वृद्धि ही होती है। विजय प्राप्त (करनेवाला है)।

महाकुलवान.... सम्यग्दृष्टि महाकुलवान में उत्पन्न होता है। हल्के कुल में (नहीं आता)। **महाधनवान...** बाद की बात है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद महाधनवान (होता है)। **मनुष्यों में मुख्य होता है।** यहाँ आत्मा को मुख्य किया तो बाहर में भी सबमें मुख्य क्यों नहीं होगा? ऐसा पुण्यानुबन्धी पुण्य बँध जाता है। कहो, समझ में आया?

☆ ★ ☆

सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य

अप्प-सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारू।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारू॥ ८९॥

रमें जो आत्मस्वरूप में, तजकर सब व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि जीव वह, शीघ्र होय भवपार॥

अन्वयार्थ - **(जो सहु ववहारू छंडिवि)** जो सर्व व्यवहार को छोड़कर **(अप्प सरूवहँ रमइ)** अपने आत्मा के स्वरूप में रमण करता है **(सो सम्माइट्ठी हवइ)** वही सम्यग्दृष्टि है **(लहु पावइ भावपारू)** वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

☆ ★ ☆

८९। **सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य।** वस्तु ऐसी ही है। हीरे को कहीं थैली में

रखते हैं ? यह बोरी... बोरी होती है न ? चावल की बोरी... उसमें हीरा रखते हैं ? वारदान में हीरा रखते हैं ? हीरा तो बड़ी मखमल की डिब्बी में रखते हैं। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम माता-पिता हो वहाँ जाता है। डिब्बी ऐसी होती है, यह सहज पुण्य का स्वभाव है। समझ में आया ? लालच देने की बात नहीं है, उसका पुण्य भी लोकोत्तर पुण्य है। सम्यग्दर्शन के बाद जन्म लिया... समझ में आया ?

श्रीमद् एक पत्र में लिखते हैं, यह देह यदि पहले नहीं मिला हो तो अब बाद में यह देह मुझे नहीं मिलेगा, यह देह नहीं मिलेगा, दूसरा ऐसा नया देह मिलेगा कि पूर्व में अनन्त काल में नहीं मिला होगा ! सम्यक्त्व की भूमिका में जो विकल्प आया और पुण्य बँधा – ऐसा अनन्त काल में नहीं बँधा था। समझ में आया ? वह जाति अलग है, शरीर के रजकणों की जाति ही अलग हो जाती है। जैसे भगवान को परम औदारिक हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जाये, वहाँ अनन्त काल में ऐसा सम्यक्‌भाव में, भूमिका में उसने ऐसा पुण्य कभी नहीं बाँधा था। उस भूमिका में ऐसा पुण्य बाँधता है कि उसके फलरूप ऐसा शरीर मिलता है कि निरोग, सुन्दर, आदि सब (होता है) । यह वस्तु स्वरूप है। समझ में आया ? पुण्य-पाप की स्थिति घटती है। पाप का रस घटता है, पुण्य का रस बढ़ता है। क्या (कहा) ? सम्यग्दृष्टि को पुण्य का रस बढ़ता है। पाप की स्थिति घटती है, पुण्य की स्थिति भले घटे, रस (अनुभाग) नहीं घटता; अनुभाग तो बढ़ता जाता है। जैसे ज्ञान बढ़ता जाये, वैसे उसका रस बढ़ जाता है। पूरा हो जाये तो छूट जाता है। समझ में आया ? यह शास्त्र का कथन है, यह वस्तु का स्वरूप है – ऐसा बताते हैं।

अप्प-सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारू।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारू॥ ८९॥

लो, अद्‌भुत... भाई ! **जो सर्व व्यवहार को छोड़कर...** सर्व व्यवहार का अर्थ – भगवान की श्रद्धा, रागादि की विकल्प यह भी व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह व्यवहार है। **सर्व व्यवहार को छोड़कर...** आहा...हा... !

मुमुक्षु : व्यवहार से तो मुक्त है न ?

उत्तर : मुक्त ही है, सम्यक्त्व में स्वभाव की एकताबुद्धि हुई तो राग से मुक्त है। राग

है अवश्य (परन्तु) स्वभाव में नहीं है, दृष्टि में नहीं है, दृष्टि के विषय में नहीं है; वह (व्यवहार) तो पर विषय हो गया। व्यवहार है अवश्य परन्तु जैसे परद्रव्य है, वैसे ज्ञानी को व्यवहार, परद्रव्यरूप है। समझ में आया? आहा...हा...!

सर्व व्यवहार को छोड़कर अपने आत्मा के स्वरूप में रमणता करता है। भगवान आत्मा...! समझ में आया? अपने शुद्ध प्रभु की ओर का अन्तर झुकाव है, जहाँ अनन्तानन्त गुण का पिण्ड प्रभु... अनन्तानन्त गुण! ओ...हो...! जो तीन काल के समय की अपेक्षा अनन्तानन्त गुण पड़े हैं, ऐसा प्रभु तीन काल को ग्रास कर गया। ओहो...हो...! समझ में आया? ऐसा अनन्तानन्त गुण का पिण्ड आत्मा, उसके अनुभव से... समझ में आया? वह सम्यग्दृष्टि (उसमें) रमण करता है और **अब शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।** उदय को पार कर देता है, अपनी पूर्ण (वस्तु) प्राप्त करके उदय का अभाव कर डालता है। समझ में आया?

जिसे निर्वाण ही एक ग्रहण योग्य पद दिखता है... पूर्ण शुद्ध जो ध्येय में है, वही ग्रहण करने योग्य दिखता है। **चारों गतियों की सर्व कर्मजनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है। जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की प्राप्ति को परम लाभ समझता है।** अपनी शुद्धि की वृद्धि को ही परम लाभ समझता है। आहा...हा...! बाहर में चक्रवर्ती का पद मिला तो लाभ हुआ – ऐसा समकिती नहीं मानता। अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द पड़े हैं, उसमें से शुद्धि की वृद्धि हो, वही मेरा लाभ है, वही मेरा लाभ है। लाभ सवाया, तुम्हारे लिखते हैं न? बनिये लिखते हैं, लाभ सवाया। वह लाभ किसका? धूल का-पैसा का? हैं! मलूकचन्दभाई! क्या है?

यहाँ तो लाभ सवाया, लाभ दुगना, लाभ तिगुना, लाभ अनन्त गुना... आहा...हा...! भगवान के घर कहाँ कमी है? तो अनन्त गुणा प्राप्त न करे? पूर्णानन्द प्रभु है, आहा...हा...! जहाँ अपने स्वरूप की निःशंक दृष्टि हो गयी (तो वह) मोक्ष के मार्ग में चला। अल्प काल में मोक्ष (जायेगा)। संसार-फंसार है ही नहीं। भगवान को पूछना नहीं पड़ता कि महाराज! हमारे कितने भव हैं? अरे...! चल... चल! तुझे शंका है तो भगवान जानते हैं कि शंका है। तू निःशंक है तो भगवान जानते हैं कि तू निःशंक है। भगवान तुझे कर देते हैं?

समझ में आया ? 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा, अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा...' तेरी दृष्टि स्वभाव पर पड़कर यदि शुद्धि की वृद्धि हुई (तो) भगवान ऐसा देखते हैं, भगवान ऐसा देखते हैं। समझ में आया ? **परम लाभ समझता है।**

मैं सर्व सिद्ध समान शुद्ध हूँ। मैं सर्व शुद्ध, सर्व शुद्ध का अर्थ थोड़ा शुद्ध – ऐसा नहीं। मैं वस्तु हूँ, वह तो सर्व शुद्ध है और दृष्टि का विषय द्रव्य है। इस दृष्टि ने सर्व शुद्ध को ही स्वीकार किया है, समझ में आया ? सिद्धसम। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' यह बनारसीदास में आता है या नहीं ? चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो – बस ! इतनी बात। फिर मोह महात्म, यह तो अनादि की बात है।

व्यवहारदृष्टि में कर्म का संयोग है, वह त्यागने योग्य है – ऐसा समझता है, जो संसारवास में क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता... आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा रोग आवे... क्या कहते हैं ? यह पैर में हो जाता है न ? उल्टी और दस्त, कॉलेरा ! आहा...हा... ! यह चाहता है कि रोग रहे। हैं ? मलूकचन्दभाई को पता है, दो लड़कों को छोड़कर... तुम थे ? यह तो दूसरे दो लड़के नहीं तुम्हारे ? माडल में से दो युवा भाई... बहुत लोग थे। कोलेरा हो गया, माँ-बाप साथ में, जंगल में पाँच सौ-छह सौ कितने लोग साथ थे ? फिर इन्हें कोलेरा हो गया। लड़के चल नहीं सकते साथ में माल नहीं, मकान नहीं, वाहन नहीं, दोनों को जंगल में छोड़ दिया। जंगल में छोड़कर इनके माँ-बाप चले गये, भाई ! हम क्या करें ? हम रहेंगे तो हम मरेंगे, यहाँ कोई साधन नहीं... आस-पास पच्चीस-पचास गाँव में कोई गाँव नहीं, यह तो साथ में काफिला है, जहाँ जाओगे (वहाँ आऊँगा) चावल और दाल साथ में रखते, थोड़ा खाकर पूरा करे। ये दो युवा लोग, है ! आहा...हा... ! यह माँ-बाप उन्हें देखते हुए जंगल में चले गये। कोलेरा (हैजा) हुआ था। उठाये कौन ? चलाये कौन ? दे कौन ? रखे कौन ? आहा...हा... ! इस जंगल में दो युवा अकेले, उसमें क्रमशः मरे होंगे, मुर्दा और यह अकेला... आहा...हा... ! क्या हो ? जगत की दशा निराधार अशरण है। शरण तो अन्दर में आत्मा है।

मुमुक्षु : ....

समाधान : हाँ, परन्तु है न ! यह मैंने देखा है। हम जब छप्पनिया का प्लेग था न ?

प्लेग था, यह तो (संवत) १९५७ के साल, दीक्षा के बाद नहीं, यह तो संसार में (थे तब की बात है) १९५६-१९५७ के साल में प्लेग था, बड़ा प्लेग। गर्मी में हमें पता है, हम तो छोटे लड़के, बालक, ढेला-दरवाजा हो (वहाँ) सात-आठ मरे हों, पड़े हों और यह छप्पनिया में देखो न! मरे नहीं! छप्पनिया में दुष्काल (था)। प्लेग नहीं, दुष्काल पड़ा था, दु:काल पड़ा था, तब दरवाजे के बाहर एक ऐसा, एक ऐसा, एक मर गया हो, एक जीवित हो, मरने की तैयारी हो, ऐसा नजरों से देखा है। १९५६ में दस वर्ष की उम्र थी और १९४६ में जन्म। अभी नजर में झूलता है, हाँ! एक रोता था, एक मरता था, मर गया था, रात्रि में-जंगल में... यह सब तो नजरों से देखा है। दो भाईयों को रखा होगा। आगे पीछे मरे होंगे न? छप्पनिया के दुष्काल की बात है, लो! पेट खाली... मर गये। गेहूँ की गूँगरी देते, दरबार की तरफ से, गेहूँ... गेहूँ...। ऐसे मुट्ठी भरकर देते थे। खाये, फिर पानी पीवे और मर जाते। बहुत अधिक खाते... सब देखा था। हाँ! दस वर्ष की उम्र में देखा था। आहा...हा...! कोई शरण है? भाई! पड़ा हो, मरता हो तो (कहे), भाई...! वह भी मरने पड़ा हो, करना क्या? करे कौन? आहा...हा...! सम्यक्त्वी क्षणमात्र भी संसार में रहना नहीं चाहता। समझ में आया? है या नहीं अन्दर?

जो जानता है कि निर्वाण का उपाय मात्र एक अपनी शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव में लीनता है। चारित्र की प्रतीति हो गयी है, अपने स्वरूप में लीनता करना, वह चारित्र है और उस चारित्र के बिना कभी मुक्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। समझ में आया? **उसका निश्चितरूप से अभ्यास तब ही होता है, जब समस्त व्यवहार का त्याग किया जाए...** देखो! समस्त व्यवहार मुनिपने में जो पंच महाव्रतादि का विकल्प है, उस व्यवहार को भी छोड़कर अन्दर में ध्यान करे, तब चारित्र और रमणता होती है।

मुमुक्षु : यहाँ तो व्यापार-धन्धा लिया है।

उत्तर : यह सब व्यवहार, इन्होंने भले लिया हो। यह वस्तु है, यहाँ तो सर्व व्यवहार की बात है। यहाँ तो सर्व व्यवहार, व्यवहार शब्द से राग... जितना अभेदस्वरूप में से भेद -राग होता है, उस सबको व्यवहार कहते हैं। चाहे तो अशुभ हो, चाहे शुभ हो अरे...! गुण -गुणी के भेद का विकल्प भी व्यवहार है, यहाँ तो सर्व व्यवहार, ऐसा पाठ है। आचार्य के

हृदय में अकेले स्वभावसन्मुख होकर लीनता करना, वही जिसकी दृष्टि है। समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावसन्मुखता में व्यवहार को छोड़कर ध्यान करता है, अनुभव करता है और उसमें रहना उसे ही ठीक मानता है। बाहर निकलना तो दु:ख... दु:ख... रोग... रोग... रोग... जानता है। समझ में आया ? आचार्य का हृदय यह है। **'छंडिवि सहु ववहारु'** अपने निज स्वरूप की दृष्टि करनेवाला, अपने स्वरूप में रहने के लिए व्यवहार के विकल्प छोड़ देता है। समझ में आया ?

तीर्थंकर के समान यथाख्यातरूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहाँ बालक के समान सरल व शान्तभाव में रहकर, निर्जन स्थानों में आत्मा का अनुभव किया जावे। साधुपद में उतना ही व्यवहार रह जाता है... देखो ! **जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीर का पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भाव में न रमे तब शुद्धात्मा के स्मरण करानेवाले शास्त्रों के मनन में व धर्मचर्चा में स्तुति वन्दना पाठादि पढ़ने में उपयोग को रखा जावे।** यह शुभ है, परन्तु इस शुभ को भी छोड़कर शुद्ध में जाता है।

व्यवहार धर्मध्यान व धर्म की प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार, विहार व व्यवहार धर्म को करते हुए साधु इस व्यवहार से भी उदास रहते हैं,... उसमें उत्साह नहीं, होश समझे न ? उत्साह नहीं, राग है न, राग। उल्लसित वीर्य, स्वभावसन्मुख है, उल्लसित वीर्य, स्वभावसन्मुख है जो मन्द रागादि हैं, उनमें उसका वीर्य उल्लसित नहीं, उदास है। उस ओर का आदर नहीं, बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ, ऐसा नहीं।

आत्मा के पुरुषार्थ की कमजोरी से उनमें वर्तते हैं, जैसे-जैसे आत्मज्ञान की शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह व्यवहार भी छूटता जाता है तो भी साधुपद में इतनी अधिक आत्मरमणता का अभ्यास हो जाता है कि एक अन्तर्मूहूर्त से अधिक समय आत्मा का अनुभव बिना नहीं रहते हैं। समाधितन्त्र में आता है न ! पूज्यपादस्वामी... अतत्पर। विकल्प में तत्परता नहीं, कमजोरी से आता है, तत्परता नहीं। भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव सन्मुख में उसकी तल्लीनता, बारम्बार भावना रहती है। समझ में आया ?

फिर लेते हैं। **व्यवहार धर्म और क्रिया का पालन छठवें गुणस्थान में होता है, आहार-विहार, निद्रा...** देखो! ये कार्य छठवें गुणस्थान में होते हैं। प्रमादभाव है तब (होते हैं), यह तो प्रमादभाव है। है ?

मुमुक्षु : यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पालन किये थे।

उत्तर : पालन कहाँ किये थे, आये थे; होते हैं, पालते हैं उसकी बात करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी पंच महाव्रत पालन किये थे, तुम कहते हो कि पंच महाव्रत आस्रव है। भगवान! आस्रव है तो आये बिना नहीं रहता, यह दूसरी बात है परन्तु उसका आदर है ? अन्दर में वह उसे चारित्र मानते हैं ? पंच महाव्रत तो आस्रव में आते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में पंच महाव्रत, अणुव्रत को आस्रव में लिया है।

मुमुक्षु : 'धवल' के आधार से संवर है।

उत्तर : धवल के आधार से संवर किया ही नहीं। धवल दूसरा कहता है ? यह जयधवल में आया है न ? पण्डितजी! यह शुद्ध और शुभ के बिना निर्जरा नहीं होती – ऐसा पाठ है परन्तु वह तो निमित्त का कथन है। शुद्ध से निर्जरा है, वहाँ शुभ निमित्त को निर्जरा में गिन लिया है। जैसे, निमित्त के कथन में दो मोक्षमार्ग है, परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग एक ही है। इसी तरह निर्जरा में दो गिन लिए हैं, (वरना) निर्जरा एक ही है। कथन में दो प्रकार चले हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

अब यह पण्डित-वण्डित इकट्ठे होकर... यह वंशीधरजी बड़े पण्डित हैं, सबको इकट्ठे करके कुछ करो, तुम बड़े पण्डित हो, तुम्हारी बहुत प्रसिद्धि है। ७५ पण्डितों को इन्होंने पढ़ाया है। अरे...! भगवान! ऐसा समय मिला, उसमें क्या झगड़ा करना। सत्य है उसका स्वीकार करो, भाई! झगड़ा छोड़ दो। यह बेचारा कहता है, हाँ! सागरवाले मुन्नालाल... दो मिनिट का काम है, यह क्या झगड़ा उठाया है ? एक बार पण्डितजी को कहा था, समाचार पत्र में आया था, हाँ! निश्चय, व्यवहार, उपादान, निमित्त और क्रमबद्ध पाँच बोल हैं, दो मिनिट का काम है। इतने-इतने पैसे, हजारों पैसे, जयपुर की बड़ी चर्चा उसका पुस्तक छपेगा। दस हजार से ज्यादा तो पैसा चाहिए, वह तो वे नहीं देंगे, यह देंगे पूनमचन्दजी। अरे...! भगवान यह चीज है ? इतनी चर्चा हुई तो बाहर आने में क्या आपत्ति

है ? लोग पढ़ें न, उसमें क्या है ? पण्डितों के बीच इतनी चर्चा हुई, उसमें मध्यस्थरूप से वे थे। अपने बड़े पण्डित... चर्चा बाहर आवे तो क्या बाधा है ? वे इनकार करते हैं, नहीं। यह लोग छापते हैं, १५२ पृष्ठ आये हैं, कितने हैं ? १५२ पृष्ठ आये हैं।

मुमुक्षु : सब चला है।

उत्तर : सब चला है। सब चला है, क्या ? इसके लिए तो बात करते हैं, यहाँ आ गया है, १५२ पृष्ठ छपकर आ गये हैं। अभी फूलचन्दजी काम में हैं, ललितपुर में मकान बनाते हैं, रूक गये हैं, हम तो इन्तजार करते हैं कि क्यों आये नहीं ? १५२ पृष्ठ आ गये, बाहर में प्रकाशित हो, उसमें क्या है ? दोनों की दलीलों को सुनेंगे, उसमें बाधा क्या है ? और बड़े पण्डित तो मध्यस्थता में थे, बाहर आने दो, क्या है... है क्या ? डरते क्यों हो ? चर्चा बाहर नहीं छपाओ (ऐसा कहते हैं)। उसमें हानि-वृद्धि की क्या बात है ? चीज क्या है वह समझेंगे, विचार करेंगे।

इन मुनि को छठे गुणस्थान में **व्यवहार कार्यों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय लगे तो बीच-बीच में सातवाँ गुणस्थान क्षण भर के लिए आत्मानुभवरूप हो जाता है।** आहा...हा... ! मुनि की दशा तो पौन सैकेण्ड की निद्रा छठवें गुणस्थान में आ जाती है। जरा आहार का विकल्प (आवे उतना) एकदम विकल्प छूटकर सातवें में (आ जाते हैं)। ओ...हो... ! यह चारित्र की रमणता ! सन्तपना, मुनिपना, परमेश्वरपद में मिल गये हैं। पंच परमेष्ठी ! कहते हैं कि उनके ध्यान की लगन लग गयी है। आहा...हा... ! आहार में आना, विकल्प आता है तो खेद होता है। अरे... ! हमारा अनाहारी अमृत भोजन (और यह क्या ?)

मुमुक्षु : मुनि तो शुद्ध उपयोग में रहने की ही प्रतिज्ञा करते हैं।

उत्तर : प्रतिज्ञा ही शुद्ध उपयोग की है। जयधवल में ऐसा आया है कि मैंने तो शुद्ध उपयोग की प्रतिज्ञा की है, यह आहार का विकल्प आया तो मैंने प्रतिज्ञा तोड़ी है – ऐसा पाठ है। इसलिए मृत्यु के समय मैं फिर से शुद्धोपयोग ग्रहण करता हूँ, प्रत्याख्यान करता हूँ – ऐसा आता है। विकल्प उठता है – राग है, आता है परन्तु मैंने तो शुद्ध उपयोग की प्रतिज्ञा की है। मुझे तो शुद्ध उपयोग में रहना है, ऐसा पाठ है, हाँ! जयधवल में है। प्रत्याख्यान... मैंने प्रत्याख्यान तो (प्रतिज्ञा तो) शुद्धोपयोग में रहने का लिया था। यह क्या ?

मेरे प्रत्याख्यान का भंग हुआ। आहार, पानी, बोलना, ऐसा विकल्प आया, यह तो भंग हुआ, फिर से प्रत्याख्यान लेता हूँ। ओहो...हो... ! ऐसी दशा ! स्वभाव के आश्रय से लीन होने का उपाय / मार्ग है। बीच में राग आता है, हो, व्यवहार है, बन्ध के कारण से हटना (और) स्वरूपानुभव में रहना, यही मार्ग है। कहो, समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि के गृहत्याग व साधु पद का ग्रहण तब ही होता है, जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने पर... यह तो कुछ नहीं। पुरुषार्थ वृद्धिगत होता है। **सहज वैराग्य जग जाता है। वह दृढ़तापूर्वक बिना परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता है।**

सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानपूर्वक-भानपूर्वक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपूर्वक प्रतिज्ञा लेता है। लोगों के साथ आवेश में आकर तत्त्वज्ञानी प्रतिज्ञा नहीं लेता है। आया था न ? भाई ! मोक्षमार्गप्रकाशक में। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है, यथाशक्ति। लोग ले लेते हैं इसलिए मैं ले लूँ (ऐसा नहीं)। मेरे पुरुषार्थ की जागृति, सहज पुरुषार्थ कितना काम करता है ? बस ! इतना देखता है। उसमें कोई भंग नहीं पड़ता, उत्साह में शिथिलता नहीं आ जाये, उत्साह में शिथिलता न आवे कि बहुत बोझा हो गया, यह तो बोझ हो गया, अस्थिरता हो गयी, खेद हो गया। समझ में आया ? धर्मी जीव तो अपने परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए बिना किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता।

जब तक सहज वैराग्य न आवे व परिणामों के अनुसार श्रावक पद के भीतर रहकर यथासम्भव दर्शन-प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा तक के चारित्र को पालकर आत्मानुभव के लिए अधिक अधिक समय निकलता है। पहली प्रतिमा, दूसरी प्रतिमा... शान्ति की वृद्धि है। जैसे-जैसे अन्दर शान्ति की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे अनुभव में आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करता है। समझ में आया ? फिर बहुत बात की है।

देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं, लो !

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्व बावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ॥ ३५॥

जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है... आहा...हा... ! मोक्षपाहुड़ में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं - **परदव्वादो दुग्गई, सदव्वादो हु सुग्गई** (गाथा १६) जितना परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाता है, वह सब दुर्गति है। आहा...हा... ! वह व्यवहार है। **सदव्वादो हु सुग्गई** अपना स्वद्रव्य शुद्ध की ओर रुचि – गमन होना, वह सुगति है, उसका नाम सुगति है। **परदव्वादो दुग्गई** ऐसा पाठ मोक्षपाहुड़ में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव (कहते हैं) दो पक्ष हैं - स्वभाव की ओर सावधान होना, वह मोक्षमार्ग है; पर की ओर राग होना, वह दुर्गति है। दुर्गति अर्थात् अपनी गति, दूसरी ओर चली है। आहा...हा... !

जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है व संलग्न है, तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है... परद्रव्य की ओर के झुकाव में विकल्प रहता है और अन्तर निर्विकल्प अनुभव नहीं है, तब तक उसे मोक्ष नहीं होता **परन्तु शुद्ध आत्मीक भावों का लाभ होने पर....** शुभविकल्प की क्रिया चाहे जितनी हो, उससे संवर-निर्जरा नहीं होती। इसलिए उसे छोड़कर अपने शुद्धभावों से आत्मा का लाभ होने पर, परमानन्द प्रभु आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान में लाभ होने पर स्थिरता करने का प्रयत्न करता है, वह होने पर **शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है**। ऐसा आत्मा अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त होता है। संसार-वंसार उसे नहीं रहता। यह ८९ (गाथा) पूरी हुई।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण १३,	**शनिवार, दिनाङ्क १६-०७-१९६६**
गाथा ८९ से ९०	**प्रवचन नं. ३६**

'योगसार', योगीन्द्रदेव के ८९ श्लोक में अन्तिम की गाथा है। देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं। अधिकार क्या चलता है ? देखो! सम्यग्दृष्टि जीव, परव्यवहार को छोड़कर अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर उसमें लीन होता है, वही एक मोक्ष का मार्ग है। इस गाथा के सार में यह लिखा है। समझ में आया ?

अप्प-सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारू।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारू॥ ८९॥

इसके आधार में यह गाथा दी है, देखो!

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्व बावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ॥ ३५॥

एक शब्द में कितना भरा है, देखो! **जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है...** भगवान आत्मा अपना स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति का आश्रय छोड़कर जब तक परद्रव्य का आश्रय करता है, तब तक उसे मुक्ति नहीं होती है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में भी पहले स्वद्रव्य का आश्रय होता है, बाद में भी जितना परद्रव्य के आश्रय से राग रहे, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती है।

मुमुक्षु : राग से संवर-निर्जरा होते हैं।

उत्तर : राग से संवर-निर्जरा, वह पण्डित कहता है, वह पण्डित (संवत) २०१३ के साल में कहता था। व्यवहार बन्ध का कारण है, लाओ सिद्ध कर दूँ। कौन माने ?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह सब कुछ ठिकाना नहीं होता। पण्डितजी! वहाँ २०१३ की साल में वहाँ कहा था, बाद में सुना था। हम आये वहाँ चर्चा में कहते थे, व्यवहाररत्नत्रय बन्ध का कारण है, लाओ, चर्चा करो परन्तु कोई करता नहीं, किसी को सुनना नहीं। व्यवहार पराश्रय है और निश्चय स्वाश्रय है, यह तो सीधी बात है, इस गाथा का यहाँ आधार लेकर कहते हैं।

जब तक आत्मा को पहली शुरुआत से स्वद्रव्य चैतन्य का आश्रय न हो, तब तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। परद्रव्य के आश्रय से – साक्षात् तीर्थंकर हो, सर्वज्ञ हो, सवमसरण हो, सम्मेदशिखर हो, या गणधर-आचार्य आदि हो, उन परद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : दिव्यध्वनि से नहीं होता तो फिर....

उत्तर : क्या करे ? भगवान! वह दिव्यध्वनि तो परद्रव्य है, आहा...हा... !

मुमुक्षु : अरे... साहिब! उत्तर हिन्दुस्तान में हो जाये।

उत्तर : हाँ! यह पण्डित उत्तर हिन्दुस्तान का नहीं ? आहा...हा... ! भगवान! न्याय से तो सुनो, भाई! कि यह आत्मद्रव्य है, वह एक सेकेण्ड असंख्य भाग में शुद्धद्रव्य, गुण पर्याय का पिण्ड है... तो वह द्रव्य-गुण-पर्याय शुद्ध है। पुण्य-पाप का विकल्प तो आस्रव है; शरीर, कर्म आदि अजीव है; देव-गुरु-शास्त्र, सम्मेदशिखर या सर्वज्ञ साक्षात् समवसरण, वह परद्रव्य है। परद्रव्य के आश्रय से कभी धर्म की शुरुआत नहीं होती। कहो, समझ में आया ? क्योंकि जो स्वद्रव्य है, उसमें अनन्त-अनन्त शुद्धता पड़ी है तो स्वद्रव्य का आश्रय लिये बिना पहले सम्यग्दर्शन की शुरुआत नहीं होती। समझ में आया ?

यहाँ तो पूरी बात करते हैं कि जब तक परद्रव्य का आश्रय रहता है – रागादि, व्यवहारादि, विकल्पादि (रहेंगे), तब तक उसे मुक्ति नहीं होगी। समझ में आया ? देखो! **जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है (संलग्न है), तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी.... उग्गतवंपि कुणंतो** - ऐसा देवसेनाचार्य का पाठ है। मोक्ष प्राप्त नहीं करता है, पर की ओर के लक्ष्य से कठिन तप क्या, बारह-बारह महीने के उपवास करे, इन्द्रियदमन परलक्ष्य से करे, उसमें क्या हुआ, वह तो पुण्यबन्ध

का कारण है। भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द स्वतत्त्व है, उस स्वतत्त्व के आश्रय से अनन्त काल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति जिसे हुई, उसे उससे हुई है। समझ में आया ? और बाद में भी जितना व्यवहार रहा उसे पराश्रय जानकर, स्व-आश्रय करके छोड़ता है, तो उसे केवलज्ञान अथवा शुक्लध्यान से मुक्ति होती है। स्वाश्रयोनिश्चय पराश्रयोव्यवहार – सीधी बात है। इसमें तो कुछ इतने शास्त्र पढ़े तो समझ में आये – ऐसी कोई बात नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं कि कठिन-कठिन '**उग्गतवंपि कुणंतो**' परन्तु '**परदव्व बावडो**' लक्ष्य पर के ऊपर है, राग पर है, निमित्त पर है, संयोग पर है, देव-गुरु पर है, तब तक उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। आहा...हा... ! समझ में आया ? पहले श्रद्धा में ऐसा निर्णय न हो कि मैं तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति करता हूँ; पर के आश्रय से मुझे बिल्कुल नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द इन सभी पर्यायों का पिण्ड तो द्रव्य है। वह पर्याय कहीं राग में नहीं रहती, उस पर्याय की शक्ति राग में (नहीं रहती)। व्यवहार के राग में तो पर्याय की शक्ति रहती है ? निमित्त में रहती है ? यह पर्याय – निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय, इस पर्याय की शक्ति को द्रव्य गुण में है। समझ में आया ? यह शक्ति राग में है ? व्यवहार विकल्प में है ? संहनन में है ? देह में है ? यह शक्ति पर देह में है ? समझ में आया ? सीधी बात और सरल बात है परन्तु इतनी अधिक गड़बड़ कर डाली है। शास्त्र की स्वाध्याय, ऐसा कर्ता और ऐसा वाद और विवाद...

भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि '**लहइ ण भव्वो**' भव्य जीव होने पर भी, उग्र तप करने पर भी, परद्रव्य के व्यवहार को न छोड़े... समझ में आया ? बन्ध अधिकार में भी अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है (कलश १७३) '**अध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै**' भगवान ऐसा कहते हैं कि मैं परद्रव्य को जिलाता हूँ, मारता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ, परद्रव्य की पीड़ा, एकत्वबुद्धि, यह तो मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व का, परद्रव्य का आश्रय जब भगवान ने छुड़ाया तो आचार्य कहते हैं कि हम इसमें से निकालते हैं कि जितना परद्रव्य के आश्रित व्यवहार है, उसे भगवान आचार्य छुड़ाते हैं। पण्डितजी ! इस श्लोक में आया न, तुम्हें तो कण्ठस्थ है '**अध्यवसानमेवमखिलं**'

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्येव्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बन्धन्ति सन्तो धृतिम्।

(समयसार कलश १७३)

महासिद्धान्त है। कहो, पाटनीजी! इसमें वाद-विवाद का स्थान कहाँ है? भाई! भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा कहा कि परद्रव्य को जिलाना-मारना, सुखी-दुःखी करना, तलवार हाथ में लेना, शरीर की क्रिया – यह सब आत्मा नहीं कर सकता और मैं कर सकता हूँ – ऐसा मानना, अध्यवसान अर्थात् दो द्रव्यों की एकताबुद्धि का मिथ्यात्व है। अतः भगवान ने जब दो द्रव्यों की एकताबुद्धि का पृथक् द्रव्य कराने को मिथ्यात्व छुड़ाया, परद्रव्य का अध्यवसान छुड़ाया तो आचार्य कहते हैं कि यह तो एकताबुद्धि छुड़ायी है परन्तु हम तो इसमें से निकालते हैं कि परद्रव्य के आश्रित जितने भाव-व्यवहार हैं, उन सबको भगवान छुड़ाते हैं। आहा...हा...! निश्चयनयाश्रित... देखो! ऐसी बात निकालते हैं.... यह व्यवहार जो है, वह मिथ्यादृष्टि का व्यवहार है। अरे... भाई! **अन्यआश्रयत्वात** जो व्यवहार अन्य के आश्रय से उत्पन्न होता है, वह सम्यग्दृष्टि को भी त्याज्य है, मिथ्यादृष्टि को तो व्यवहार की बात ही कहाँ है? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जब अपने आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के कर्तापने का अभिमान-मिथ्यात्व छुड़ाया तो हम तो ऐसा जानते हैं कि परद्रव्य के आश्रित जो अपने में व्यवहार हुआ.... वह तो परद्रव्य का कार्य छुड़ाया, कार्य कर नहीं सकता इसलिए... परन्तु उसमें से हम तो ऐसा निकालते हैं कि परद्रव्य के आश्रय से जो भाव होता है, उस व्यवहार को भी भगवान ने छुड़ाया है। आहा...हा...! '**अन्यआश्रयत्वात**' यह बात यहाँ कहते हैं।

भाई! आत्मा वस्तु है, महान चैतन्य ज्योत है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है, उसके आश्रय से उग्र पुरुषार्थ से सम्यक्चारित्र होता है, उसके आश्रय से शुक्लध्यान होता है, उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : आपने तो बात खोल डाली।

उत्तर : गुप्त रखने के लिए होगी? यह गुप्त बात आचार्यों ने तो ढिंढ़ोरा पीट कर कही है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तो खुल्लम-खुल्ला कर दिया है, और कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो पहले खुला कर डाला। **'व्यवहारोपरिसिद्धो'** - क्योंकि व्यवहार पराश्रय है, निश्चय स्व आश्रय है। **निश्चय नयाश्रितमुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की** – यह बात यहाँ है। समझ में आया? अरे...!

मुमुक्षु : लोग व्यवहार को मानते हैं?

उत्तर : लोग चाहे जो हो तो क्या है? व्यवहार पराश्रय है, वह बन्ध का कारण है, यह सिद्धान्त निश्चित है – तीन काल-तीन लोक में... समझ में आया? सर्वज्ञ की पैढ़ी में यह चलता है, दूसरी पैढ़ी में नहीं चलता। ऐसा व्यापार भगवान के घर का है। आहा...हा...!

यहाँ देवसेनाचार्य कहते हैं **जब तक चित्त परद्रव्य...** के प्रति लक्ष्य जाता है, विकल्प, सर्वज्ञ परमात्मा है, यह देव है, यह गुरु है (–ऐसा लक्ष्य जाता है), तब तक उसे बन्ध का कारण है, उसके आश्रय से मुक्ति नहीं होगी। तब तक स्व आश्रय नहीं होता। तब पाठ कैसा लिया है? देखो भाई! **'सुद्धे भावे लहुं लहइ'** इतना पाठ। अर्थात् यह क्या (कहा)? परद्रव्य के आश्रय से जो भाव होता है, वह अशुद्ध है; परद्रव्य के प्रति लक्ष्य जाता है, चाहे जितना दया-दान-भक्ति, व्रत-तपादि, उसके अशुद्धभाव हैं, फिर शुभ हो तो भी अशुद्ध है।

स्वद्रव्य के आश्रय से **'सुद्धे भावे लहुं लहइ'** – ऐसा शब्द रखा है। शुद्धभाव अपना आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य है, उसके आश्रय से शुद्धभाव उत्पन्न होता है, उस शुद्धभाव से अपना निर्वाण अर्थात् मुक्ति होती है। पहले ही शुद्धभाव से सम्यग्दर्शन, शुद्धभाव से सम्यग्ज्ञान अपने आश्रय से सम्यग्दर्शन, अपने आश्रय से ज्ञान, यह भाव – सम्यग्दर्शन शुद्धभाव है। शुद्धभाव त्रिकाल के आश्रय से उत्पन्न हुई पर्याय, वह शुद्धभाव है। शुद्धभाव त्रिकाल के आश्रय से सम्यक्ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह शुद्धभाव है। शुद्धभाव त्रिकाल के आश्रय से स्थिरता-चारित्र हुआ, वह शुद्धभाव है; उस शुद्धभाव से मुक्ति होती है। समझ

में आया ? आहा...हा... ! इसमें चर्चा और वाद-विवाद तो अवसर भी कहाँ है ? है ?

कहते हैं, पण्डितजी का पढ़ाया हुआ शिष्य कहता है, दो मिनिट की बात है। सुना है ? यह सागरवाले नहीं ? मुन्नालालजी, वे लिखते हैं कि यह उपादान, निमित्त, निश्चय, व्यवहार और क्रमबद्ध की दो मिनिट की बात है। इतनी सिरपच्ची क्या करते हो ? उपादान से होता है, स्वयं से; निमित्त है; निश्चय होता है तो व्यवहार है, बस ! सीधी बात है और द्रव्य की व्यवस्थित पर्याय है, वह क्रमबद्ध... दो मिनिट की बात में इतनी क्या चर्चा ? पाटनी ने बड़ा लम्बा किया जयपुर में, कितने हजार खर्च करेंगे ? दस-दस हजार ऐसा कहते हैं। उसमें लिखा है, तुम्हारा नाम नहीं लिखा। यह लोग इतने सब पैसे खर्च कर सकते हैं और इतना करते हैं। दो मिनिट का काम है। शान्ति से दो पण्डित मिल जायें तो यह बड़े पण्डित हैं, उनके साथ बैठाना चाहिए। यह कहे कि हमें कुछ करना नहीं है परन्तु क्या करे कौन माने ?

भाई ! ऐसा अवसर मिला। जैनदर्शन का मूल तत्त्व है, उससे विपरीत होवे तो शासन की पद्धति बदल जाएगी। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ ने जो पन्थ कहा, उसकी पद्धति न रहे तो पूरी अन्यमती जैसी पद्धति हो जाएगी। राग से लाभ है, पर से लाभ है, यह तो अन्यमत की पद्धति है, जैनदर्शन की यह है ही नहीं। भाई ! जैनदर्शन की पद्धति सर्वज्ञ की परम्परा से अनादि से चली है, वैसी आनी चाहिए। विशेष स्थिरता भले अन्दर न हो परन्तु दृष्टि तो अपने स्वरूप के आश्रय से लाभ है, यह बात तीन काल में दूसरी नहीं होनी चाहिए। समझ में आया ? ज्ञानचन्दजी ! आहा...हा... !

देखो, पाठ ऐसा है, '**सुद्धे भावे लहुं लहइ**' यह '**सुद्धे भावे**' वर्तमान पर्याय की बात है, हाँ ! त्रिकाल की नहीं। त्रिकाल तो शुद्ध है ही परन्तु त्रिकाल का आश्रय करना, वह शुद्धभाव है, और पर का आश्रय करना, वह अशुद्धभाव है। इस प्रकार देवसेनाचार्य ने संक्षिप्त शब्द ले लिये हैं। समझ में आया ? **शुद्ध आत्मिकभावों का लाभ होने पर**... देखो ! **वह शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है**। आहा...हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : पर का आश्रय तो पहले करे न ?

उत्तर : पर का आश्रय पहले करे। पश्चिम में जाये तब पूर्व को चले, ऐसा होगा ?

उगमणो (पूर्व) समझते हो ? पहले पश्चिम में थोड़ा चले फिर पूर्व में चले, इसका अर्थ क्या ? देवानुप्रिया ! ये सेठ है, दलाल और है भी सेठ, हाँ ! इसके परिवार में सेठ कहलाते हैं, सेठिया, सेठ, सेठ। कहो, समझ में आया ?

यहाँ तो श्रेष्ठ-स्व आश्रय करना, वह श्रेष्ठ है। आहा...हा... ! यह तो सेठ अर्थात् प्रभु ! महान श्रेष्ठ स्वद्रव्यस्वभाव, उसके आश्रय से ही श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, ज्ञान की प्राप्ति होती है; अत: धर्मात्मा का चित्त जब तक परद्रव्य पर रहा, अरे... ! क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, स्व आश्रय से चारित्र भी हुआ परन्तु जब तक पर के आश्रय से राग रहता है, तब तक उसका अभाव किये बिना, स्व आश्रय किये बिना मुक्ति नहीं होती है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं न, पराधीन सपने सुख नाहीं... ऐसा नहीं कहते ? भाषा तो करते हैं, पराधीन सपने सुख नाहीं... इसका अर्थ क्या है ? भगवान आत्मा अपना आश्रय छोड़कर साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर का आश्रय करे तो भी अशुद्धभाव / विकल्प उठता है; उससे मुक्ति नहीं होती, बन्ध है। पराश्रयभाव, व्यवहार, बन्ध है; स्वआश्रय उत्पन्न हुआ, वह अबन्धभाव है, एक ही बात। तीन काल-तीन लोक में सिद्धान्त सिद्ध (हुआ है) वह बदलेगा नहीं। समझ में आया ? यह श्लोक आधार में दिया था। ८९ श्लोक का आधार था। अब ९० (गाथा)

☆ ★ ☆

सम्यक्त्वी ही पण्डित व प्रधान है

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवण-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु॥ ९०॥

जो सम्यक्त्व प्रधान बुध, वही त्रिलोक प्रधान।
पावे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान॥

अन्वयार्थ - **(जो सम्मत्त-पहाण)** जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है **(बुहु)** वह पण्डित है **(सो तइलोय पहाणु)** वही तीन लोक में प्रधान है **(सासय सुक्ख**

णिहाणु केवल णाण वि लहु लहइ) सो अविनाशी सुख के निधान केवलज्ञान को शीघ्र ही पा लेता है।

☆ ★ ☆

सम्यक्त्वी ही पण्डित व प्रधान है। प्रधान है न? प्रधान; प्रधान का अर्थ मुख्य किया। **बुहु** का अर्थ पण्डित किया है।

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवण-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु॥ ९०॥

ओ...हो...! दिगम्बर सन्तों ने काम किया है न! बहुत संक्षिप्त शब्दों में पूरा सार... सार। योगसार है न! अपने स्वआश्रय से जो पर्याय प्रगट हुई, उसका नाम योग कहते हैं। वह योग का सार है। पर के आश्रय से जो राग होता है, वह योगसार नहीं है। समझ में आया?

जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है... बुहु – **वह पण्डित है।** आहा...हा...! वही पण्डित है। भगवान आत्मा... आत्मा समझे वह पण्डित, दूसरा पण्डित कौन है? ग्यारह अंग नौ पूर्व भी अनन्त बार पढ़ गया, वह पण्डित नहीं हुआ, फिर नाश हो गया। ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा, आत्मा का आश्रय नहीं लिया, सम्यग्दर्शन नहीं हुआ (तो) ग्यारह अंग नौ पूर्व नष्ट हुआ, निगोद में चला गया। निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग (ज्ञान) रह गया, इतना क्षयोपशम, परन्तु वह क्षयोपशम स्व का कहाँ था? पराश्रय था, वह भी कल्याण का कारण नहीं है। ग्यारह अंग और नौ पूर्व का क्षयोपशम भी कल्याण का कारण नहीं है। समझ में आया? क्योंकि पराश्रय है।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति में एकाग्र होकर उसमें से ज्ञान का कण निकालना। ज्ञान का कण! लो, फिर कण याद आया। है न 'परमार्थवचनिका' में? स्वरूप की कणिका जागी – ऐसा पाठ है। स्वरूप की कणिका जागी। दृष्टि और ज्ञान से स्वरूप की चारित्र के अंश (की) कणिका जागी, (वह) मोक्षमार्ग है, वरना मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थवचनिका, बनारसीदास... बनारसीदास महापण्डित! यथार्थ तत्त्व (कहा है)। वर्तमान पण्डितों पर

बहुमान नहीं, हम तो सब पण्डितों को जानते हैं, वे तो एक ही पण्डित हैं हम तो सब शास्त्रों को जानते हैं, हम तो सबसे बड़े, शास्त्र से बड़ा क्या है ? नौ पूर्व पढ़ा उसमें बड़ा क्या आया ?

यहाँ कहते हैं **सम्यग्दर्शन का स्वामी है...** देखो ! '**पहाणु**' का अर्थ किया है। प्रधान कहा न ? प्रधान ! सम्यक्स्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण तत्त्व शुद्ध तत्त्व में अन्तर्मुख होकर जिसने स्व आश्रय सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वही जगत में प्रधान अथवा स्वामी अथवा बुहु, वही पण्डित है। उसने सब जाना – ऐसा कहते हैं। उसने सब जाना। 'एक जाने सब होत है, सबसे एक न होय'। आहा...हा... ! उसे केवलज्ञान आयेगा। केवलज्ञान की पर्याय ज्ञानगुण में पड़ी है, ज्ञानगुण में अनन्त पर्याय पड़ी है केवलज्ञान की, अनन्त पर्याय। सादि-अनन्त पर्याय जितनी है, वे सब ज्ञान में पड़ी है। ऐसे ज्ञायक की दृष्टि हुई तो केवलज्ञान लायेगा, लायेगा और लायेगा। एक दो भव में केवलज्ञान लेकर छूटेगा, उसका केवलज्ञान बदलेगा नहीं – ऐसी चीज है। उसकी साक्षी तो आत्मा दे या कोई दे ? समझ में आया ? आहा...हा... !

कहते हैं, भगवान आत्मा जिसे सम्यग्दर्शन प्रधान है, जिसकी दृष्टि में आत्मा प्रधानरूप से प्रतीति में, ज्ञान में वर्तता है, वही जगत में स्वामी, सच्चा प्रधान पुरुष कहा जाता है। प्रधान लिया न ? **सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु। वही तीन लोक में प्रधान है।** रत्नकरण्डश्रावकाचार में बहुत लिया है। सम्यक्त्व तो कर्णधार है, कर्ण में आधार है। इस सम्यक्त्व के बिना ज्ञान-चारित्र, व्रत, सब व्यर्थ है, पत्थर जैसे हैं। रत्न की, चैतन्यरत्न की दृष्टि अपने निर्विकल्प स्वरूप का भान न हुआ, तब तक उसे ज्ञान नहीं कहा जाता।

तीन लोक में प्रधान है.... तीन लोक में प्रधान ! ओ...हो... ! 'लेश न संयम' आता है न ? छहढाला में नहीं आता ? 'पै सुरनाथ जंजै हैं' सम्यग्दर्शन लेश न संयम, फिर भी सुरनाथ जंजै हैं। घर में है ही नहीं, स्वभाव में ही है। इस भगवान आत्मा पर दृष्टि पड़े, उसमें ही रहा है। राग आता है, उसमें रहा है ? उसमें अपनी रुचि है ? वहाँ है ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द दृष्टि में अनुभव में आया तो कहते हैं कि

तीन लोक में सम्यग्दृष्टि प्रधान है और **सासय-सुक्ख-णिहाणु केवण-णाण वि लहु लहइ। अविनाशी सुख का निधान...** अविनाशी सुख का निधान केवलज्ञान, हाँ! पर्याय की बात है। अविनाशी सुख की पर्याय का निधान केवलज्ञान, उस केवलज्ञान को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। केवलज्ञान को तो बुलाता है। सम्यक्ज्ञान, मतिज्ञान, केवलज्ञान को बुलाता है। समझ में आया? गणधर को भी सर्वज्ञ का पुत्र कहा है। सर्वज्ञ का पुत्र! ईशु कहते हैं कि ईश्वर का पुत्र। यह तो कहते हैं, गणधर, सर्वज्ञ का पुत्र है। आहा...हा... ! ऐसे यहाँ सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन है। है या नहीं? 'ते जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन, ते जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन' आता है न? 'भेदविज्ञान जग्यो जिन्ह के घट, शीतल चित्त भया जिन चन्दन, कैलि करे शिवमारग माहि, जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन' आहा...हा... ! वहाँ गणधर को सर्वज्ञ का पुत्र कहा है। यहाँ तो सम्यक्त्वी को केवलज्ञान का पुत्र कहा है, लघुनन्दन। साधु बड़े नन्दन हैं, सम्यक्त्वी लघुनन्दन हैं। अपना सर्वस्व सम्पूर्ण चैतन्य प्रभु में दृष्टि करके, उसके आश्रय से जहाँ प्रभुत्व प्रगट हुआ तो वह केवलज्ञान का लघुनन्दन ही है। आहा...हा... ! जब तक ऐसी अन्तर में महिमा न आवे और अपने क्षयोपशम ज्ञान की... समझ में आया? या किसी राग की मन्दता की अधिकता दृष्टि में रहे और सम्यग्दृष्टि को, कि जो अपने स्वरूप की दृष्टि है, उसकी अधिकता, अपने से भिन्न अधिक है – ऐसा बहुमान न आवे, तब तक उसे स्वद्रव्य का आश्रयभाव प्रगट नहीं होता। आहा...हा... ! समझ में आया?

योगसार! **सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में प्रधान है**। अब थोड़ा विस्तार करेंगे। समस्त गुणों में मुख्य मूल तो यह है। **'दंसण मूलो धम्मो'** – भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का वाक्य है। यहाँ चार वाक्य लिखे हैं – 'दंसण मूलो धम्मो', 'द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि', 'दर्शनशुद्धि से आत्मसिद्धि', यहाँ 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत, वही वास्तविक शुरुआत है'। चार चाकले है। चार, समझ में आया? दंसण मूलो धम्मो... धर्म भले ही चारित्र परन्तु उसका मूल तो दर्शन है। मूलं नास्ति कुतो: शाखा – जहाँ मूल ही नहीं वहाँ वृक्ष कैसा, ज्ञान कैसा, तप कैसा, निर्जरा कैसी? समझ में आया?

कहते हैं, **सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान**

व चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। जैसे, १ के अंकसहित बिन्दी सफल होती है,.... एक अंक हो एक तो बिन्दी सफल है। नौ को बढ़ा देती है, तो उस अंक की प्रधानता है, बिन्दी की प्रधानता नहीं। असंख्यात अनन्त बिन्दियाँ हों तो (परन्तु) एक के बिना संख्या किस प्रकार करना? बिन्दी (अंक के) बिना सफल नहीं तो निष्फल है। **नहीं तो निष्फल होती है, वैसे सम्यक्तसहित ज्ञान व चारित्र मोक्ष की तरफ ले जानेवाले हैं।** क्योंकि अपने द्रव्यस्वभाव की दृष्टि स्वसन्मुख, स्व आश्रय से हुई, वही दर्शन स्वसन्मुख में ले जाने का कारण है, वही दृष्टि स्वसन्मुख में ले जाने का कारण है, क्योंकि स्वसन्मुख में ले जाने पर, ले जाने से केवलज्ञान हो जाएगा, समझ में आया? सम्यग्दर्शन में व्यवहार से, विकल्प से भी वह तो मुक्त है। व्यवहार है अवश्य, होता है परन्तु सम्यग्दर्शन का ध्येय तो स्वरूप में है, दृष्टि द्रव्य पर है, पर्याय का परिणमन द्रव्य पर हो गया है, वह राग से तो मुक्त है।

वह सम्यग्दृष्टि क्रम-क्रम से मोक्ष की ओर ले जानेवाली है अर्थात् अबन्ध परिणाम की उग्रता तरफ ले जानेवाला सम्यग्दर्शन है। बन्ध परिणाम की तरफ से छूटता है, अबन्ध परिणाम की तरफ ले जानेवाला है। आहा...हा...! क्योंकि अबन्ध स्वभावी द्रव्य, अबन्ध स्वभावी – ऐसा दृष्टि में आया तो अबन्ध स्वभावी परिणाम भी उसके सन्मुख चला जाता है। अबन्ध स्वभावी परिणाम कहो या मोक्ष का मार्ग कहो। मोक्षमार्ग कहो या अबन्ध परिणाम कहो (एकार्थ है)। जब सम्यग्दर्शन, अबन्ध स्वभावी द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुआ तो वह क्रम-क्रम से अबन्ध परिणाम की तरफ ही झुकता है, केवलज्ञान तक ले जाता है। समझ में आया?

यदि सम्यक्त्व न हो तो केवल पुण्य बाँधकर संसार के भ्रमण के ही कारण है। स्व का आश्रय नहीं हुआ और पर के आश्रय से दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति करता है तो पुण्य है, संसार का कारण है। बन्ध का कारण कहो या पर का आश्रय भटकने का कारण है।

जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं है... मूल के बिना वृक्ष होता है? **नींव के बिना घर नहीं है, वैसे ही सम्यक्त्व के बीज बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं होता...** कहो समझ में

आया ? **जिसे अनेक शास्त्रों का ज्ञान हो परन्तु सम्यक्त्व न हो तो वह ज्ञानी पण्डित नहीं है।** ओहो...हो... ! एक मेंढक, आत्मा का आश्रय करके – यह आनन्द है... नौ तत्त्वों के शब्द का ख्याल नहीं (परन्तु) यह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, यह इनसे विरुद्ध जो रागादि हैं, वे आनन्द की जाति नहीं हैं, दु:ख है। बस! इसमें सब आ गया, आनन्द का पूर्ण स्वरूप वह जीव है, उससे विरुद्ध वह अजीव है। आनन्द की ओर की रुचि, प्रीति का परिणमन होना, वह संवर-निर्जरा है। उससे राग (विपरीत है), वह आश्रव-बन्ध का ज्ञान हुआ। समझ में आया ? शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है, वहाँ भाव की आवश्यकता है।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्पर्श हुआ तो सारा-नवतत्त्व का ज्ञान हो गया। समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि, भास हुआ, वेदन हुआ तो पूरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, वह जीव हुआ। वह पर्याय प्रगट हुई, वह संवर निर्जरा हुए इनसे विरुद्ध जितने यह पुण्य-पाप के विकल्प आकुलता है, वह आनन्द की जाति नहीं, उसका ज्ञान हो गया और इस द्रव्य से विरुद्ध दूसरे द्रव्य हैं, यह आनन्दमूर्ति पूर्ण है, इससे विरुद्ध हैं, वे सब अजीव हैं।

मुमुक्षु : ऐसी विद्या कहाँ से याद रखना ?

उत्तर : यह आयी न, देखो न! यह कहते हैं न, क्या कहते हैं ? विद्या क्या वहाँ कहीं रटना है ? शब्द रटना है ? अन्तर्मुख की दृष्टि हुई, वहाँ सर्वस्व हुआ। यह पाठ तो चलता है। पाटनीजी! आहा...हा... ! समझ में आया ?

सम्यक्त्व न हो तो वह ज्ञानी पण्डित नहीं है, सम्यक्त्व हो तो ही वह ज्ञानी है। उसका शास्त्र ज्ञान सफल है। द्वादशांग वाणी का सार यही है कि अपने आत्मा को परद्रव्यों से, परभावों से भिन्न.... परद्रव्य और परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुए भाव, उनसे **भिन्न शुद्ध द्रव्य जाना जाए....** अकेला प्रभु शुद्ध स्वरूपी जाने, समझ में आया ?

वहाँ यह कहा न ? छठवीं गाथा में यह कहा, परद्रव्य से भिन्न 'उपास्यमान:' ऐसा शुद्ध कहा जाता है। यह 'समयसार' की छठवीं गाथा – **'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो'** परद्रव्य से भिन्न, उपास्यमान: क्योंकि परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर यहाँ उपास्यमान हुआ तो शुद्धता प्रगट हुई। शुद्धता प्रगट हुई तो यह पूरा (आत्मा) शुद्ध है, उसके लिए शुद्ध

है। शुद्ध पर्याय प्रगट न हो तो वह शुद्ध द्रव्य आया कहाँ से? वहाँ ऐसा कहते हैं। 'उपास्यमान:' उसे कहते हैं। समझ में आया? अपना आत्मा शुद्ध है।

'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं' – यह शुद्ध है – ऐसा किसे हुआ? जिसको परद्रव्य का लक्ष्य, आश्रय छोड़कर अपनी ओर का उपास्यमान हुआ तो पर्याय ने द्रव्य की सेवा की तो पर्याय में शुद्धता प्रगट हुई, उस शुद्धता से जाना कि यह शुद्ध है, शुद्ध तो त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया? तब त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है। पर्याय के वेदन बिना यह शुद्ध है, यह आया कहाँ से? वहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञायक शुद्ध परन्तु इस शुद्धता के भान बिना परद्रव्य से हटकर निजद्रव्य का आश्रय लिया तो आश्रय की पर्याय में शुद्धता आयी और शुद्धता द्वारा (जाना कि) यह द्रव्य शुद्ध है। त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है, यह त्रिकाल द्रव्य शुद्ध ही है। समझ में आया?

इस द्वादशांग की वाणी का सार यह है कि **परभावों से भिन्न शुद्धद्रव्य जाना जाये...** वरना तो वस्तु, द्रव्य तो शुद्ध ही है परन्तु शुद्ध है – ऐसा भास आये बिना शुद्ध किसने माना? समझ में आया? वह त्रिकाल शुद्ध है परन्तु त्रिकाल शुद्ध है, वह कहीं वाणी का विषय है? क्या धारणा का विषय है? वह शुद्ध है; परद्रव्य का लक्ष्य व्यवहार का (लक्ष्य) अर्थात् पराश्रय छोड़कर स्वद्रव्य का आश्रय लिया तो सम्यग्दर्शन ज्ञान की शुद्धता हुई उसके द्वारा (जाना कि) यह पूरा शुद्ध है, उसे शुद्ध है, उसे द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया? परद्रव्य के आश्रय से अशुद्धता का सेवन है और यह द्रव्य शुद्ध है – ऐसा कहाँ से आया? समझ में आया?

मुमुक्षु : सर्वज्ञ भगवान जानते हैं कि द्रव्य शुद्ध है।

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान जाने, उसमें इसे क्या आया? भगवान तो जानते हैं, प्रभु तुम जाणग रीति, सहू जग देखता हो लाल.... प्रभु तुम जाणग रीति, सहू जग देखता हो लाल... निजसत्ता ए शुद्ध सहूने पेखता हो लाल...' हे नाथ! आपकी जानने की विधि में प्रत्येक आत्मा सत्ता से शुद्ध है – ऐसा आप देखते हो। क्योंकि पुण्य-पाप है, वह कहीं आत्मा नहीं है। कर्म, शरीर अजीव है; पुण्य-पाप, आस्रव है। भगवान देखते हैं – प्रभु तुम जाणग रीति

सहू जग देखता, निजसत्ता ए शुद्ध सोने पेखता... सम्पूर्ण द्रव्य को आत्मा को भगवान शुद्ध ही देखते हैं, परन्तु वे देखते हैं। तेरे देखने (जानने) में आये बिना तुझे शुद्ध कहाँ से आया? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : नहीं, सबको देखते हैं परन्तु आत्मा को शुद्ध देखते हैं – ऐसा कहते हैं। भगवान, आत्मा को शुद्ध देखते हैं। वे तो देखते हैं, परन्तु वे तो पर हैं, यह आत्मा नहीं। समझ में आया? केवलज्ञानी आत्मा को कैसा देखते हैं? समस्त आत्माओं को... आत्मा को देखते हैं तो आत्मा क्या है? आत्मा शुद्ध है। राग को देखते हैं तो आस्रवतत्त्व को देखते हैं। कर्म, शरीर को देखते हैं तो अजीवतत्त्व को देखते हैं। आत्मा क्या? तुम्हारे में ऐसा आत्मा देखा है, भगवान समस्त आत्माओं को शुद्ध ही देखते हैं। राग को देखते हैं, वह आत्मा नहीं है – ऐसा देखते हैं। उसे तो अनात्मारूप से भगवान देखते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

एक समय की पर्याय देखते हैं, रागादि की एक-एक समय की पर्याय (देखते हैं), जड़ की पर्याय एक-एक समय की (देखते हैं)। तीन काल-तीन लोक के अविभाग प्रतिच्छेद एक-एक भिन्न-भिन्नरूप से देखते हैं परन्तु आत्मा देखते हैं, इसका अर्थ क्या? आत्मा किसे कहते हैं? क्या पुण्य-पाप को आत्मा कहना? सात तत्त्व में यह तत्त्व तो भिन्न है। सात तत्त्व है या नहीं? तो शरीर, वाणी, कर्म, अजीवतत्त्व में आये? पुण्य-पाप तत्त्व, आस्रवतत्त्व में आये। तो आत्मा क्या है?

आत्मतत्त्व में आस्रवतत्त्व का अभाव है, आस्रवतत्त्व में आत्मा का अभाव है, अजीव में आस्रव का अभाव है, इसमें तो बहुत बड़ी बात है। कर्म के उदय से आस्रव होता है – ऐसा कहो तो कर्म का उदय अजीव पर्याय है। अजीव पर्याय है तो आस्रवतत्त्व (और अजीव तत्त्व) दो एक हो जाते हैं। अजीव, अजीवरूप से भगवान देखते हैं और आस्रव को आस्रवरूप से देखते हैं। इस कारण से आस्रव और आस्रव के कारण से अजीव है – ऐसा नहीं है और आस्रव है तो आत्मा है तथा आत्मा है तो आस्रव है – ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागमार्ग अर्थात् चारों ओर से वस्तु को देखो तो सत्य

ही खड़ा होता है; एक ही प्रकार खड़ा होता है। चारों ओर से देखो, हाँ! वस्तु सत्य है तो उसमें दूसरा क्या निकले। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? सुभाषचन्द्रजी! आहा...हा...!

'प्रभु तुम जाणग रीति...' परन्तु यह तो वे जानते हैं, वही कहते हैं न? कि भगवान ने जाना। भगवान ने जाना उसमें तुझे क्या? भगवान तो तीन काल-तीन लोक को सामान्य और विशेष एक-एक समय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद भिन्न-भिन्न भगवान जानते हैं, दिव्यज्ञान किसे कहते हैं? ओ...हो...हो...! जिसकी ज्ञान पर्याय अकेली निरावरण, निर्मलानन्द हो गयी.... लोकालोक क्या? उससे अनन्त गुना हो तो जानने की ताकत है। स्वभाव की मर्यादा क्या? ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वभाव है। स्वभाव में माप नहीं, स्वभाव में हद नहीं। अमाप... अमाप... अमाप... इससे अनन्तगुना लोकालोक हो तो एक समय में जानने की सहज सामर्थ्य है। समझ में आया?

परमात्मप्रकाश में दृष्टान्त आया था न? बेलड़ी का दृष्टान्त आया है। बेल कहते हैं? लता। जहाँ तक बाँस है, वहाँ तक बेल चलती है, फिर नहीं चलती तो उसकी ताकत नहीं है – ऐसा नहीं है, बाँस है, वहाँ तक चली फिर ऐसी की ऐसी ऊपर चढ़ती है। इसी प्रकार भगवान ज्ञान में लोकालोक का मण्डप इतना दिखता है, इसलिए शक्ति इतनी है – ऐसा नहीं है। भगवान! उस स्वभाव की मर्यादा नहीं है। आहा...हा...! स्वभाव किसे कहते हैं? परमाणुओं का स्वभाव किसे कहते हैं? ओहो...हो...! एक समय में परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गति करता है, दूसरे समय में चौदह ब्रह्माण्ड गति करता है – कारण क्या? कारण क्या? द्रव्य-गुण कारण है? वे तो त्रिकाल पड़े हैं। काल कारण है? काल करणा लिखा है, पंचास्तिकाय में लिखा है – काल करणा... पुद्गल और जीव को पुद्गल करना... यह हो। लाओ सिद्धान्त! एक रजकण परमाणु पॉइन्ट एक समय में इतना जाता है। दूसरे समय चौदह ब्रह्माण्ड चला जाए कारण कौन? कारण क्या, वह पर्याय का स्वतः स्वभाव है। द्रव्य-गुण के कारण नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल पड़े हैं। पहले भी एक समय चला तब द्रव्य-गुण पड़े हैं, काल तो निमित्त है। काल करा देता है उसे? क्या है? भगवान! स्वभाव की चीज ही ऐसी है।

पंचास्तिकाय में कहा है – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोकपर्यन्त है। फिर आकाश है, लोकस्वभाव – ऐसा आया है। लोक का स्वभाव सुननेवाले को भगवान ने ऐसा कहा है। लोक का स्वभाव, आता है या नहीं? लोक स्वभाव आता है। आचार्यों ने तो बहुत डाला है, बहुत स्पष्ट किया है, ओ....हो...! कारण क्या! लाओ, बताओ। एक परमाणु दूसरे समय में चौदह ब्रह्माण्ड जाता है, पहले नीचे हो एकदम तल में, हाँ! सातवें नरक में और वहाँ से एक प्रदेश ऐसा ऊँचा आवे, बस! इतना। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में, दूसरे समय में वहाँ से ठेठ सिद्ध (शिला तक जाता है)। कारण कौन? कारण निकालो? कोई कारण बताओ? न्याय से तो विचार करना पड़ेगा या नहीं?

मुमुक्षु : उस समय का काल बलवान।

उत्तर : काल क्या बलवान? ऐ.... पण्डितजी! भगवान! यह स्वभाव अचिन्त्यता है प्रभु! जड़ की एक समय की अचिन्त्यता ऐसी, तो आत्मा के एक समय के ज्ञान की पर्याय की अचिन्तता की क्या बात करना?

मुमुक्षु : ऐसा माने तो निमित्त का जोर चला जाता है।

उत्तर : भाई! निमित्त है, कौन इनकार करता है? परन्तु निमित्त, निमित्त के घर में है। क्या यहाँ घुस गया है? और उसके कारण यह पर्याय है? निमित्त पहले नहीं था? फिर निमित्त में क्या हुआ? एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चला तो कारण क्या? लाओ, बताओ? निमित्त कहो तो निमित्त कौन? निमित्त तो सदा एक समान पड़ा है। भगवान! ऐसा नहीं होता। उस स्वभाव की महिमा आनी चाहिए। ओ...हो...! जिसे ज्ञान नहीं, और दूसरे समय में एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चला जाए। समझे? गति की उग्रता का अपना स्वभाव है।

यह तो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय किसे नहीं जाने? आहा...हा...! एक समय की, हाँ! परमाणु एक समय में ऐसा चला जाता है। यह तो तीन काल-तीन लोक अनन्तगुना हो (तो भी जाने)।

हाँ! वे कल कहते थे। देखो! एक समय के इतने भाग पड़ गये, ऐसा रतनचन्दजी ने कहा, चौदह ब्रह्माण्ड का चला न? पण्डितजी! तो एक समय में इतने भाग पड़े। अरे...!

भगवान भाग नहीं। अरे भाई! यह तो उसका एक समय की गति की उग्रता का स्वभाव है, समय का क्या भाग पड़े? समय का भाग पड़ता है? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा **परद्रव्यों से और परभावों से भिन्न शुद्ध द्रव्य जाने और शंकारहित विश्वास में लावे, वही निश्चयसम्यग्दर्शन है**। यह कोई बाहर की चीज है? उसका आत्मा स्वीकार करना चाहिए न! मानो, परन्तु किस प्रकार मानना? गधे के सींग मानो, परन्तु वह है ही नहीं किस प्रकार माने? जो चीज है, उसका आश्रय करके यथार्थ नि:शंक हुआ ओ...हो...! यह भगवान आत्मा अनन्त केवलज्ञान का पेट पड़ा है, उसकी पर्याय तीन काल-तीन लोक को जानती है, उससे भी अनन्तगुना जाने ऐसी ऐसी अनन्तगुनी पर्याय एक ज्ञानगुण में पड़ी है – ऐसे स्वद्रव्य की दृष्टि हुई तो कहते हैं कि उसका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है, वह चौथे से होता है। अभी कहते हैं कि चौथे, पाँचवें, छठवें में व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है, बाकी नहीं। अरे! भगवान चौथे से है, प्रभु! तू क्या करता है?

मुमुक्षु : आठ कर्म जोर करते हैं।

उत्तर : जोर-बोर उसके घर रहा। कर्म का जोर उसके घर, इसके घर में जोर घुस जाता है? समझ में आया?

तीन लोक की सम्पत्ति सम्यग्दर्शन के लाभ के सामने कुछ हिसाब में नहीं है। तीन लोक की सम्पत्ति क्या, धूल है। समझे? एक समय में जानने योग्य है, आदर करने योग्य कहाँ? तीन लोक की सम्पत्ति है? **एक नीच चाण्डाल पुरुष यदि सम्यग्दर्शनसहित हो वह पूजनीय देव है...** पण्डितजी! रत्नकरण्डश्रावकाचार में आया है न? भस्म से ढँकी हुई अग्नि... भस्म से ढँकी हुई अग्नि है, अग्नि है। ज्वाजल्यमान अग्नि है। आहा...हा...! चाण्डाल देव है। सम्यग्दर्शन की क्या महिमा है, इसे लोग नहीं समझते। द्रव्य की तो बात ही क्या करना! ओ...हो...! ऐसी सम्यग्दर्शन की पर्याय जिसमें अनन्त पड़ी है। सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... सदा रहती है या नहीं? सादि अनन्त; भले वह पर्याय नहीं परन्तु सादि अनन्त पर्याय है, वे सभी अन्दर श्रद्धा में पड़ी हैं। द्रव्य की तो बात क्या करना! कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की महिमा... वह

पूजनीय देव, चाण्डाल पुरुष भी... ओहो...! अल्प काल में वह चारित्र धारण करेगा, चाण्डाल भी मुक्ति प्राप्त करेगा।

परन्तु एक नौवें ग्रैवेयक का अहमिन्द्र सम्यग्दर्शन के बिना पूज्य नहीं है। नौवें ग्रैवेयक चला जाए इतनी क्रिया पालन करे, चमड़ी उतारकर नमक छिड़क दे (तो भी) क्रोध न करे। दूसरे देव लोक की इन्द्राणी आवे तो भी विचलित न हो। उसमें क्या हुआ? स्वद्रव्य की दृष्टि हुए बिना नौवें ग्रैवेयक का देव भी पूज्य नहीं है। नौवें ग्रैवेयक, ३१ सागर, अहमिन्द्र सब समान। अहं... अहं... अहं... इन्द्र सब समान, परन्तु वे पूज्य नहीं। आहा...हा...! भाई! भगवान आत्मा की महिमा है। आत्मा की महिमा की जहाँ दृष्टि हुई, उसकी क्या महिमा कहना!

एक गृहस्थ सम्यग्दर्शनसहित होवे तो वह ऐसे मुनि से उत्तम है... यह तो आया न? गृहस्थो: बस! यह, **मिथ्यादर्शनसहित व्यवहार चारित्र का पालन करता है। सम्यग्दर्शनसहित नरक का वास भी उत्तम है, सम्यग्दर्शनरहित स्वर्ग का वास भी भला नहीं है।** आहा...हा...! पहला सम्यग्दर्शन अर्थात् द्रव्य-मोक्ष, द्रव्य का मोक्ष, मोक्ष हो गया। समझे? अमृतचन्द्राचार्यदेव के कलश में **मुक्तएव** आता है। सुन तो सही! परन्तु भावमोक्ष की पर्याय थोड़ी बाकी है।

सम्यग्दर्शन का इतना माहात्म्य इसलिए कहा गया है कि उसकी प्राप्ति होने पर अनादि काल का अन्धकार मिट जाता है और प्रकाश हो जाता है। सब आगम भेद सु उर वसै.... समस्त आगम में क्या कहा? वह उसके ज्ञान में आ जाता है। उसे बाहर ढूँढ़ना नहीं पड़ता। समस्त आगम का रहस्य-चौदह पूर्व में बारह अंग में क्या कहना है? कैसे है? यह सम्यग्दर्शन में आ जाता है। **जो संसार प्रिय लगता था, वह अब त्यागने योग्य भासित होता है।** अन्धकार गया, प्रकाश हुआ; संसार आदरणीय था, वह अब छोड़ने योग्य हो गया। पूरा संसार, पूरा संसार जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बाँधे, वह भाव भी हेय है।

सांसारिक इन्द्रियसुख ग्रहण करने योग्य भासित होता था, वह त्यागनेयोग्य भासित होता है। आहा...हा...! अनादि मिथ्यात्व में इन्द्रिय के सुख में रुचि थी, वह सब

हेय हो गया। अपना अतीन्द्रिय आनन्द – सुख अपने में है ऐसी रुचि में सम्पूर्ण आत्मा का आदर हो गया, तीन लोक के इन्द्रियसुख का दृष्टि में त्याग हो गया। समझ में आया? **जिस अतीन्द्रिय स्वाधीनसुख का पता नहीं था, उसका पता लग जाता है और उसका स्वाद भी आने लगता है।** सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व। अनन्त गुण का पिण्ड वह द्रव्य और द्रव्य की रुचि से जहाँ अन्तर परिणमन हुआ तो सर्व गुणों का अंश व्यक्तिरूप से प्रगट न हो तो सर्वगुणांश, सर्व गुण के धारक द्रव्य की दृष्टि हुई कहाँ से? समझ में आया? सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, आनन्द की पर्याय प्रगट हुई, स्वरूपाचरण की प्रगट हुई, स्वच्छता की प्रगट हुई, प्रभुता की प्रगट हुई, और स्वरूप के कर्ता-कर्म-करण का अंश भी प्रगट हुआ। समस्त गुणों का अंश प्रगट हुआ।

सम्यग्दृष्टि को सच्चा ज्ञान होता है कि मेरा आत्मद्रव्य परमशुद्ध ज्ञातादृष्टा परमात्मस्वरूप है, मेरी सम्पत्ति मेरे ही अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं। (अज्ञानी जीव) इस धूल को सम्पत्ति मानते हैं, यह मिल और मालिक धूल और फूल, मूढ़ है। मालिक किसका? परचीज का मालिक कहाँ से हुआ? सहजात्मस्वरूप, सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वभावी... सहजात्मस्वरूप चैतन्यस्वभावी।

मुमुक्षु : मिल मालिक मूढ़ होगा?

उत्तर : माने वह मूढ़ ही है और क्या है? मूढ़ को सींग उगते हैं? परवस्तु का स्वामी तू कहाँ से हुआ? एक चीज के दो स्वामी? उसकी पर्याय और द्रव्य-गुण का वह स्वामी और तू भी स्वामी, एक चीज के दो स्वामी कहाँ से आये?

मुमुक्षु : मिल मालिक बड़े कहलाते हैं?

उत्तर : धूल भी नहीं। बड़ा किसे कहना? यहाँ तो सम्यग्दर्शन-चैतन्य का स्वामी हुआ, वह बड़ा हुआ। ए... मलूकचन्दभाई! तुम्हारे दो करोड़ और तीन करोड़ का कुछ नहीं।

मुमुक्षु : हमारे लिए गिनती है, आपके लिए नहीं।

उत्तर : धूल में भी वहाँ गिनती नहीं है, सब दु:ख का विस्तार है।

मेरा अहंभाव अब मेरे आत्मा में है और ममकारभाव मेरे ही गुणों में है... मैं

आत्मा और गुण मेरे... ऐसा। यह गुण मेरे, दूसरा कुछ मेरा नहीं है। **पहले में कर्मजनित अपनी अवस्थाओं को मेरा मानता था कि मैं नारकी हूँ, तिर्यंच हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, सुन्दर हूँ,...** ये सब मान्यता चली गयी। **रोगी हूँ, निरोगी हूँ, क्रोधी हूँ,...** सुन्दर हूँ। यह सुन्दर तो जड़ की दशा है, तू सुन्दर कहाँ से आया ? मैं वक्ता हूँ, वक्ता जड़ की पर्याय है, वक्ता कहाँ से हुआ ? समझ में आया ? सबका अभिमान चला गया। मैं वक्ता हूँ, दो घण्टे ठीक से बोल सकता हूँ, हाँ! भगवान तेरे पास वाणी है ? तेरे पास विकल्प भी नहीं तो वाणी कहाँ से आयी ? वक्ता तू है ? मूढ़ है। ऐसी दृष्टि समाप्त हो गयी। मैं तो वक्ता भी नहीं हूँ और मौन भी नहीं हूँ, वह तो जड़ की चीज है। समझ में आया ?

निरोगी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, देह की (स्थिति है), मैं कहाँ हूँ। भगवान! दुःखी, सुखी, पुण्य का कर्ता, पाप का कर्ता,... लो! सब चला गया। एक चैतन्य रवि-सूर्य उगा, चैतन्य रवि सूर्य सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ सब अन्धकार चला गया। जरा राग है, शुभभाव, तीर्थंकर गोत्र बाँधे उसका तो कर्ता होता है न ? सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा राग आता है परन्तु वह राग का कर्ता नहीं है, आ जाता है, बँध जाता है। परोपकारी हूँ – अज्ञानी ऐसा मानता है। मैं परोपकारी हूँ। कौन परोपकारी है ? तू क्या दूसरे का कुछ कर सकता है ? दानी हूँ, तपस्वी हूँ, तपस्या करता है, शरीर में बहुत तपस्या की, विद्वान हूँ, लो! इतना ज्ञान है कि हजारों शास्त्र हमें पानी के पूर की तरह याद है। पानी का पूर चलता है न, ऐसे... ऐसे... ? उसमें क्या हुआ ? भगवान! वह तो बाहर की सम्पत्ति है। विद्वान हूँ – यह दृष्टि तो मूढ़ है। आहा...हा... ! मूर्ख हूँ और विद्वान हूँ, दोनों पर्याय का धर्म है; आत्मा को क्या है ?

व्रती हूँ... लो! एक समय की पर्याय व्रती हुई, उसे अपनी मानता है। **श्रावक हूँ, मुनि हूँ...** यह भी वर्तमान पर्याय का अभिमान है। **राजा हूँ, प्रधान हूँ, इसी प्रकार परवस्तुओं को अपनी मानकर ममता करता था कि मेरा धन है, खेत है, मकान है, गाँव है, राज्य है, मेरे वस्त्र हैं, आभूषण हैं...** इत्यादि बहुत बात ली है। **ऐसे अहंकार-ममकार में अन्ध होकर रात-दिन कर्मजनित संयोगों में ही क्रीड़ा किया करता था।** समझ में आया ? **इष्ट का ग्रहण और अनिष्ट के त्याग में उद्यमी था....**

कहो, अनुकूल होवे तो ठीक, प्रतिकूल होवे तो अठीक – ऐसी दृष्टि मिथ्यात्व में थी। सम्यग्दर्शन में तो अनुकूल ठीक और प्रतिकूल अठीक – ऐसा कुछ है ही नहीं। कितना त्याग हो गया – ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण संसार का संयस्त है। आ गया न अपने – वास्तविक संयस्त वह है। राग व्यवहार भी आदरणीय नहीं, पर आदरणीय नहीं, यह सबका त्याग हो गया। (इसलिए) संयस्त यह है। अद्भुत बात, भाई! जिसका आदर नहीं था, उसका आदर हुआ, जिसका आदर था, उसका ज्ञान हो गया, ज्ञेय है, बस! गुलाट खा गयी, दृष्टि गुलाट खा गयी। उसका माहात्म्य कौन करे? समझ में आया?

अज्ञान का नाश होते ही सम्यग्दृष्टि को परभावों में अहंकार और पर पदार्थों में ममकार बिल्कुल दूर हो जाता है। लो! **जब तक वह घर में रहता है, तब तक कर्म के उदय को उदय मानकर गृहस्थ के योग्य सब लौकिक क्रिया को आत्मा के कर्तव्य से भिन्न जानता है...** यह रागादि, शरीरादि क्रिया मेरी नहीं है। **उसमें लिप्त नहीं हो जाता, अन्दर में वैरागी रहता है।** कहो, समझ में आया? **सदा भेदविज्ञान द्वारा अपने शुद्ध आत्मा को भिन्न ध्याता है...** धीरे-धीरे निर्मल होकर, साधु होकर केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व के समान कोई मित्र नहीं है, वही सच्चा मित्र है, जो संसार के दुःख से छुड़ाकर निर्वाण में पहुँचा देता है। लो, आत्मानुशासन का उद्धरण दिया है। **शान्तभाव ज्ञान-चारित्र तप का मूल्य कंकर-पाषाण के समान है...** सम्यग्दर्शन के बिना शान्तभाव, ज्ञान हो... **बोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः** आहा...हा...! आचार्य ने क्या बात की है! **कंकर-पत्थर समान सम्यग्दर्शन के बिना तुच्छ है, यदि सम्यक्त्वसहित हो तो उनका मूल्य महान रत्न समान हो जाता है।** सम्यक्ज्ञान आदि यथार्थ हो गये। कीमत सम्यग्दर्शन की है, समझ में आया? वह मुख्य है, वह पण्डित है, वह सर्वस्व है, वह स्वभावसन्मुख की गति करने में सम्यग्दर्शन मुख्य है। पर से विमुख और स्व से सन्मुख... यह सम्यग्दर्शन मुख्य है। सम्यग्दर्शन जैसी कोई चीज जगत में महिमावाली नहीं है। केवलज्ञान, चारित्र की बात क्या करना परन्तु यह तो पहली चीज में सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा की है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है

अजरू अमरू गुण-गण-णिलउ जहिं अप्पा थिरू ठाइ।
सो कम्मेहिं ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ॥ ९१॥

अजरामर बहुगुण निधि, निज में स्थित होय।
कर्मबन्ध नव नहिं करे, पूर्व बद्ध क्षय होय॥

अन्वयार्थ - (**जहिं अजरू अमरू गुण-गण-णिलउ अप्पा थिरू ठाइ**) जहाँ अजर-अमर गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है (**सो कम्मेहिं ण बंधियउ**) वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बँधता है (**पुव्व संचिउ विलाइ**) पूर्व में सञ्चित कर्मों का क्षय करता है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण १४, रविवार, दिनाङ्क १७-०७-१९६६
गाथा ९१ से ९२ प्रवचन नं. ३७

योगसार चलता है, उसकी ९१ वीं गाथा। **आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है** – यह उसका शीर्षक है।

अजरू अमरू गुण-गण-णिलउ जहिं अप्पा थिरू ठाइ।
सो कम्मेहिं ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ॥ ९१॥

देखो! क्या कहते हैं? **जहाँ अजर-अमर गुणों का निधान...** ऐसा शब्द प्रयोग किया है! यह आत्मा अजर-अमर है। अजर-अमर... उसे कभी जीर्णता - वृद्धावस्था लागू नहीं पड़ती है। शाश्वत् ध्रुव सत् तत्त्व अकृत्रिम – नहीं किया हुआ – शाश्वत् स्वभाव की मूर्ति – ऐसा आत्मपिण्ड, वह अजर है, उसे कोई जीर्णता लागू नहीं पड़ती, उसके गुण को भी जीर्णता लागू नहीं पड़ती। वह तो गुणी और गुण सब एक ही चीज है न! समझ में आया?

भगवान आत्मा अजर अर्थात् उसमें जीर्णता नहीं और उसमें मरण अर्थात् अभाव नहीं। वह गुण का पिण्ड प्रभु, महासत्ता चैतन्य सत्स्वरूप अनादि-अनन्त, अजन्म और अमरण... उसे जन्म भी नहीं और मरण भी नहीं – ऐसा शाश्वत् तत्त्व है। **ऐसा गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है।** जब ऐसे आत्मा में स्थिर (हो जाता है), अनादि से पुण्य-पाप के विकल्प और राग में स्थिर होने से बन्धन है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव में स्थिर होने से बन्धन है और आत्मा, राग-द्वेष विकल्परहित आत्मा है, उसमें स्थिर होने से, पहले श्रद्धा में पूर्णानन्द की प्रतीति अनुभव में करके, फिर स्थिर होने से संवर-निर्जरा होते हैं। संवर-निर्जरा की क्रिया-कर्म का रुकना और कर्म का खिरना, उसकी क्रिया अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, वह एक ही क्रिया है। कहो, समझ में आया? स्थिर हो जाना।

वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बँधता है.... क्योंकि अपना स्वरूप सम्यग्दर्शन में शुद्ध चैतन्य की दृष्टि की तो शुद्ध चैतन्य की स्थिर होने से नवीन कर्म बिल्कुल नहीं बँधते हैं **और पूर्व के संचित कर्मों का क्षय करता है।** अर्थात् पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं। कर्ता है – ऐसा कहा जाता है। **पुव्व संचिय विलाइ।** पूर्व के संचय का नाश हो जाता है। पूर्व के संचय का नाश हो जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों ले लिये। क्या कहा?

भगवान आत्मा ध्रुव अजर-अमर है, उसमें स्थिर होना वह, उत्पाद-पर्याय निर्मल हुई और पूर्व की अशुद्ध अवस्था है, उसका नाश होता है। यहाँ कर्म की अपेक्षा ली है, अशुद्ध अवस्था का व्यय होता है, शुद्ध अवस्था की उत्पत्ति होती है, और जिसमें स्थिर है वह तो ध्रुव कायम है। समझ में आया? यह धार्मिक क्रिया! जैनधर्म की यह क्रिया। ध्रुव स्वभाव चैतन्यबिम्ब, महासत्ता में रुचि, परिणति करके स्थिर होना ही संवर, निर्जरा की जैनमार्ग की धार्मिक क्रिया है। मंगलदासभाई! है?

मुमुक्षु : एक में आ गया है, शास्त्र में तो सब।

उत्तर : देखो न! शास्त्र का सब कथन इसके लिए है। शास्त्र में लाख बात हो, बात तो समझने के लिए सब की है या नहीं.... वस्तु यह।

चैतन्य भगवान ने अनन्त गुण शाश्वत् पड़े हैं। शाश्वत् और वस्तु शाश्वत् है। शक्ति – स्वभाव-गुण शाश्वत्। उसमें स्थिर, पहले दृष्टि करके, दृष्टि उसमें लगाना, उसमें रुचि हुई और स्वरूपाचरण भी हुआ, फिर विशेष स्थिर होना चारित्र है। उससे संवर और निर्जरा उत्पन्न होती है और आस्रव तथा बन्ध का व्यय होता है। ध्रुव में लक्ष्य और रुचि करने से तथा स्थिर होने से संवर-निर्जरा की पर्याय का उत्पन्न होना और अशुद्ध आस्रव-बन्ध का नाश होना (होता है)। अजीवतत्त्व तो ऐसा है कि यहाँ आस्रव का नाश होता है तो कर्म की पर्याय भी स्वयं के कारण पलट जाती है। कहो, समझ में आया?

यह आत्मा निश्चय से जन्म, जरा, मरणरहित अविनाशी है... आत्मा जन्मता है? आत्मा जन्मेगा? कौन जन्मता है? इस शरीर के संयोग को लोग जन्म कहते हैं। शरीर के संयोग को जन्म कहते हैं। यह शरीर, शरीर... आत्मा में जन्म कहाँ है? आत्मा जन्में अर्थात् नया उत्पन्न होता है? आत्मा मरे अर्थात् नाश होता है? जरा, मरण, जन्म से रहित भगवान आत्मा अविनाशी **सामान्य और विशेष गुणों का समूह है।** लो! आत्मा में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्यगुण अनादि से हैं। सामान्य का अर्थ, जो गुण दूसरे द्रव्य में भी है (और) स्वयं में भी है, उन्हें सामान्य कहते हैं और अपने में है तथा दूसरों में नहीं – ऐसे विशेष गुण आत्मा में है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र... कहो समझ में आया? इन विशेष-गुणों का समूह है और यह विशेषगुण तथा सामान्यगुण जो त्रिकाल है, उनमें एकाग्र होने से सामान्य में से विशेष पर्याय होती है, विशेष पर्याय होती है, वह संवर-निर्जरा है। समझ में आया?

मिथ्याश्रद्धा में सामान्य का विशेष में अज्ञान और राग-द्वेषरूप परिणमन था, भगवान आत्मा सामान्य और विशेषगुण का पिण्ड होने पर भी, जब तक राग, पुण्य और निमित्त पर रुचि थी तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष की उत्पत्ति होती थी। जब भगवान आत्मा सामान्य-विशेषगुण का पिण्ड है, तो उस गुण की दृष्टि गुणी पर गयी तो गुण का विस्तार विशेषपने, निर्मलपर्यायपने प्रगट हुआ। वह निर्मलपने प्रगट हुई, उसका नाम संवर और निर्जरा कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

अपने दो, तीन दिन पहले यह अधिकार आ गया है। आत्मा में आनन्दगुण है, आनन्द... आनन्द.... विशेष गुण है, हाँ! दूसरों में नहीं, है। प्रश्न तो किया था, लड़कों ने पूछा था, आदमी को पूछा था, आत्मा में आनन्दगुण है, उस आनन्दगुण की व्याख्या क्या? गुण की व्याख्या तो यह है कि गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है। द्रव्य उसे कहते हैं कि गुण के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुण उसे कहते हैं कि द्रव्य के सर्व भाग में अर्थात् क्षेत्र और सर्व अवस्थाओं में अर्थात् दशा। आया था या नहीं? हेमन्त! कब? उस दिन दूसरे लड़के भी नहीं होते। समझ में आया?

अपना आत्मा विशेष गुण-आनन्द, विशेष गुण-चारित्र तो गुण की व्याख्या क्या? गुण तो अपने द्रव्य में सर्व भाग में, सर्व भाग का अर्थ सर्व क्षेत्र में... द्रव्य तो है, तो सर्व क्षेत्र आया। वह गुण सर्व क्षेत्र में है, गुण तो भाव है और सर्व अवस्थाओं में यह पर्याय हुई। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों आ गये। यह आनन्दगुण है, वह अपनी पर्याय में प्रत्येक अवस्था में आनन्द है परन्तु जब तक उसे पुण्य-पाप की रुचि की श्रद्धा है, तब तक आनन्दगुण की अवस्था तो है, वह आनन्दगुण की अवस्था दुःखरूप है। चन्दुभाई! क्या कहा, समझ में आया?

आत्मा में आनन्दगुण तो है। त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द का रस पिण्ड आत्मा है। उस अतीन्द्रिय आनन्दगुण की व्याख्या क्या? गुण सर्व अवस्थाओं में रहता है, गुण सर्व अवस्थाओं में रहे और सर्व क्षेत्र में रहे। सर्व अवस्थाओं में रहे उसका अर्थ क्या हुआ? आनन्दगुण किसी भी पर्याय की हालत में न हो – ऐसा नहीं (होता)। तब (कोई) कहे, संसारी अज्ञानी प्राणी को अभी तो आनन्द नहीं है, तो कहते हैं – राग की एकताबुद्धि करता है तो उस आनन्द की अवस्था वहाँ दुःखरूप है। है, आनन्द की अवस्था। समझ में आया? शशिभाई!

किसी गुण की अवस्था न हो, हालत न हो – ऐसा तीन काल में नहीं होता है। भगवान आत्मा आनन्दगुण सम्पन्न प्रभु की हालत मिथ्या राग-द्वेष की रुचि में है तो आनन्दगुण की हालत, हालत तो है (परन्तु) दुःखरूप है। (यह कहते है) आनन्दगुण कहना और फिर हालत दुःखरूप कहना...! आनन्दगुण की अवस्था आनन्दरूप है? वह

गुण किसी भी अवस्था के बिना नहीं रहता, तो उसका अर्थ क्या हुआ ? चन्दुभाई ! वह आनन्दगुण, गुण का धारक भगवान आत्मा की रुचि होने से, उसकी प्रतीति, भरोसा होने से उस आनन्दगुण की अवस्था आनन्दरूप परिणमित होती है। मुख्यरूप से आनन्द की अवस्था आनन्दरूप परिणमित होती है। गौणरूप से थोड़ा दु:ख है परन्तु वह बात गौण है। समझ में आया ? है ? राग-द्वेष के परिणाम (होते हैं) वह वहाँ चारित्रदोष है और उससे विरुद्ध (परिणमन) हुआ, आनन्द से विरुद्ध (परिणमन हुआ) वह दु:ख-आकुलता है। समझ में आया ?

'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' इन लड़कों को आती है या नहीं ? भई, यह छोटे लड़के हैं या नहीं ? गुण किसे कहना ? आता है न ? भाई ! गुण उसके द्रव्य अर्थात् वस्तु के प्रत्येक भाग में अर्थात् उसकी प्रत्येक क्षेत्र की स्थिति अवगाहना में गुण व्याप्त होता है, रहता है और वह गुण उसकी प्रत्येक हालत में उपस्थित होता है। अवस्था बिना वह गुण नहीं हो सकता। यह तो जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में लड़कों को सिखावे ऐसी बात है। क्या (कहा) ? राजमलजी ! समझ में आया ?

यह आनन्दगुण.... भगवान आत्मा विशेषगुण और सामान्यगुण का समुदाय है – ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख होकर विश्वास, रुचि, भरोसा, श्रद्धा का परिणमन हुआ तो आत्मा में जितने गुण हैं, उन समस्त गुणों का अंशरूप व्यक्तपने परिणमन सम्यग्दर्शन के साथ होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण पूरे द्रव्य की प्रतीति करता है। पूर्ण द्रव्य को... तो द्रव्य पूर्ण गुणों का पिण्ड है, समस्त गुणों का पिण्ड है, सम्पूर्ण द्रव्य की प्रतीति करने से सम्पूर्ण द्रव्य के जितने गुण हैं, इतने सम्यक्श्रद्धा में से जहाँ पर्याय प्रगट हुई तो अनन्त गुण की भी आंशिक प्रगट दशा होती है। आहा...हा... ! ऐसी सीधी-सादी बात में भी गड़बड़ करते हैं, लो ! समझ में आया ? यहाँ यह स्वयं कहेंगे, हाँ ! ऐसी सादी बात है, भगवान ! सीधी बात है।

आत्मा प्रसिद्ध है, प्रगट है। वस्तु है वह प्रगट है या नहीं ? या अप्रगट-ढंक गयी है ? द्रव्य ढँक गया है ? समझ में आया ? प्रगट तत्त्व है, प्रगट तत्त्व है। प्रगट अर्थात् है। है वह सत्तावाला तत्त्व है। सत् वह सत्तावाला, अस्तित्ववाला, सत्रूप, सत्वरूप है तो

उसके गुण, सत् के गुण शाश्वत् हैं। जैसे, सत् शाश्वत् है, इसी प्रकार गुण भी शाश्वत् है। उसकी प्रत्येक अवस्था में गुण नहीं रहे तो कहाँ जाएँ? चिमनभाई! आहा...हा...!

यहाँ तो पहले प्रश्न दिमाग में उठा था। **अजर, अमर गुणों का निधान...** ऐसा आया था न? मैंने कहा, यह एक बात ठीक है। है तो आत्मा, संस्कृतवाले को पूछना चाहिए न? पण्डित को पूछा। समझ में आया? यह भगवान आत्मा तो अजर-अमर है तो इसके गुण भी अजर-अमर हैं और गुण अजर-अमर है तो आत्मा भी अजर-अमर है। आहा...हा...! बात यह है कि इसने विश्वास की धार चढ़ाई नहीं है। 'सराणे' समझते हो? यह छुरी साफ नहीं करते? धार लगाते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा स्वयं की श्रद्धा के भरोसे की धार में चढ़ाया नहीं। आत्मा को भरोसे की धार में चढ़ावे तो एक सैकण्ड के असंख्य भाग में जितने सामान्य, विशेष गुण का पिण्ड है, उतने समस्त गुणों का एक अंश परिणमन व्यक्त-प्रगट हो जाता है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया कुछ?

कर्मों से और शरीर से भिन्न..... भगवान आत्मा.... कर्म तो जड़ अजीवतत्त्व है। शरीर भी अजीवतत्त्व है, भिन्न है। **जब अपने आत्मा को देखा जाता है....** भिन्न है – ऐसा देखा जाता है। समझ में आया? यह तो कल कहा था न? भगवान ने आत्मा को कैसा देखा है? मलिन पर्याय दिखे तो मलिन पर्याय तो आस्रवतत्त्व की है। वास्तव में वह आत्मतत्त्व है ही नहीं, वह आस्रवतत्त्व है। आहा...हा...! आत्मा भगवान है। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने ऐसा आत्मा देखा-जाना है। ओहो...! वह तो पूर्णानन्द प्रभु है। रागादि, आस्रवतत्त्व में जाते हैं; कर्म, शरीर अजीवतत्त्व में जाते हैं – ऐसा सामान्य -विशेषगुण का पिण्ड प्रभु... कहते हैं कि शरीर और कर्मों से भिन्न देखने में आवे तो वह शुद्ध ही दिखता है।

मुमुक्षु : कब?

उत्तर : ऐसा है। अभी, कब क्या? नवरंगभाई! परन्तु शुद्ध है, यह तो सिद्ध किया। जिसे आत्मा कहते हैं, ज्ञायकभाव कहते हैं, उसमें आस्रव कहाँ आया? पर्यायतत्त्व जो आस्रव है, वह तो ज्ञायकभाव तत्त्व से भिन्न है। हैं? आहा...हा...! शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व

अत्यन्त भिन्न है, वह तो अत्यन्त भिन्न है। यह आस्रव तो एक समय में अनित्य तादात्म्यरूप दिखता है परन्तु नित्य तादात्म्य स्वभाव की अपेक्षा से वह पर्याय भी संयोगीभाव-परद्रव्य ही है। आहा...हा...! समझ में आया? नित्य तादात्म्यस्वभाव, ज्ञान-आनन्द आदि तादात्म्यस्वभाव से देखने से तो, जो अनित्य एक समय की (पर्याय) तादात्म्य है, वह नित्य त्रिकालस्वभाव को देखने से वह भाव भी संयोग में जाता है। नवरंगभाई! यह कर्ता -कर्म में आया है। पहली ६९-७० गाथा में (आया है)। ६९-७० में उसे संयोगीभाव कहा है। संस्कृत टीका, अमृतचन्द्राचार्यदेव (ने कहा है)। क्योंकि वस्तुस्वभाव नहीं है। समझ में आया? जैसा है, वैसा देखने से दृष्टि शुद्ध को देखती है। आहा...हा...! बात भी..... यह आत्मा कैसा है? इसका इसे पता नहीं है। इसकी चीज की खबर बिना इसे धर्म करना है। लो! क्या करना? धर्म का पिण्ड तो यह है। धर्म शब्द से स्वभाव। स्वभाव का पिण्ड धर्मी है। अब स्वभावपिण्ड धर्मी है, उसकी दृष्टि और उसका ज्ञान किये बिना धर्म करना है। कहाँ से करना? समझ में आया?

भगवान आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न प्रभु, इस शरीर, कर्म और संयोगी विकारी भाव से भिन्न है। अभी है, है उसे ऐसा देखने से शुद्ध दिखता है। आहा...हा...! यह तो राग, विकल्प और निमित्त का अस्तित्व अनादि से देखता है। यह... यह... यह... अंशबुद्धि में बुद्धि विस्तृत करे तो इसकी बुद्धि राग और संयोग में जाती है, उनका स्वीकार है। यह भगवान आत्मा.... समझ में आया? एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द प्रभु है। उसे शुद्ध है – ऐसा दिखता है।

जैसे मिट्टी सहित पानी को जब पानी के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाए तो पानी शुद्ध ही दिखता है। पानी मलिन है? मलिन तत्त्व तो मिट्टी के कारण मिट्टी का भाग है। समझ में आया? पानी का भाग नहीं है।

मुमुक्षु : मिट्टी मैली है?

उत्तर : मिट्टी ही मैली है, पानी कहाँ मैला है? यह मैला परिणाम है, वह मिट्टी का है; पानी का नहीं। इसी प्रकार **भेदविज्ञान की शक्ति से अपनी आत्मा को कर्मों से भिन्न और कर्मोदयजनित भावों से भिन्न.....** लो, यह आस्रव आया। शुभ और अशुभभाव

होने पर भी उनसे दृष्टि हटाकर अपने स्वभाव की ओर देखे तो आत्मा को कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए भाव वे भिन्न हैं; भिन्न ही हैं। समझ में आया?

इन रागादि को देखने से उसे एक दिखते हैं। यह तो पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि, व्यवहारबुद्धि, मिथ्याबुद्धि हुई। यह विकल्प और यह कर्म, यह शरीर, यह वर्तमानमात्र की बुद्धि हुई। समझ में आया? भगवान आत्मा इस राग, निमित्त, कर्मजन्य उपाधिभाव है तो उसका अपराध, वह अपराध त्रिकालस्वभाव से विरुद्ध है। विरुद्ध है तो वास्तव में उसका स्वभाव नहीं है, हेय है। अत: जब उसे हेय कहा तो उपादेय क्या रहा? समझ में आया? शुद्ध द्रव्यस्वभाव ज्ञायकभाव उपादेय रहा। न्याय से, साधारण स्थिति से देखे तो यह रहा। कर्म, शरीर यह तो ज्ञेय परद्रव्य में गये; विकार दु:खरूप है। है इसकी अवस्था परन्तु वह दु:खरूप है; इस कारण हेय है। जब वह हेय अर्थात् लक्ष्य करने योग्य नहीं है, आश्रय करने योग्य नहीं है तो रहा आत्मा। समझ में आया?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का पिण्ड है। वह (राग) हेय हुआ, उसके दु:ख की अवस्था होने पर भी वह आस्रवतत्त्व में जाती है। आहा...हा...! उससे भिन्न देखने से अर्थात् वस्तु का स्वभाव देखने से, पानी का स्वभाव देखने से पानी शुद्ध है। है? आहा...हा...! बड़ी बात करे परन्तु मूल (बात का) पता न ले.... समझ में आया?

कहते हैं, पानी स्वभाव की अपेक्षा से तो निर्मल है। **भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा को कर्मों से भिन्न और कर्मोदयजनित भावों से भिन्न सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्य का सागर निरंजन परमात्मादेव ही देखना चाहिए।** स्वयं को देखना चाहिए, तो अपना स्वरूप तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द-वीर्य का पिण्ड है। समझ में आया? देखता तो है, देखने की नजर तो है, परन्तु देखने की नजर राग, विकार को देखती है। एक क्षणिक विकृत अवस्था जो स्वभाव से विपरीत है, उसे देखती है। उसी दृष्टि में उससे भिन्न मेरी चीज है – ऐसा देखने से भगवान शुद्ध ही दिखता है। समझ में आया? **सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही श्रद्धान होता है।** लो! सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही श्रद्धान होता है। समझ में आया? है? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : सुनते-सुनते अधिक समझ में आता है ?

उत्तर : इसलिए सुनने से, ऐसा ? इसलिए वजन सुनने पर देता है, भाई ! हमारे पण्डितजी को पूछना पड़े न, क्या कहते हैं यह ? आहा...हा... !

भगवान कहाँ अनजाना है ? वह कहाँ ज्ञानस्वभावरहित है ? कि उसे दूसरे के द्वारा जाना जाए। आहा...हा... ! चैतन्य का पिण्ड प्रभु, चित्पिण्ड। चित्पिण्ड आया है न ? उसे दर्शन के अर्थ में लिया है। पिण्ड है, इसलिए पण्डित जयचन्दजी ने पिण्ड अर्थात् दर्शन के अर्थ में लिया है। सामान्य है न ? और प्रकाश के अर्थ में ज्ञान लिया है। चार बोल लिये हैं। सुप्रभात.... सुप्रभात। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख – ऐसा लिया है। एक कलश में चित्पिण्ड लिया है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा.... अपना स्वरूप सम्यग्दृष्टि शुद्ध देखता है। अशुद्ध देखे, वह अपना स्वरूप है ? वह अपने स्वरूप में नहीं है – ऐसा ज्ञान करता है। उसका अर्थ आ गया है, भाई ! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। शास्त्र में इस शैली में बात की है। अपना स्वभाव शुद्ध है, पवित्र है, राग से भिन्न है – ऐसा स्वरूप है। ऐसा देखो, बाकी राग रह गया, परन्तु वह राग भिन्न रह गया। अपने स्वरूप में नहीं आया, परज्ञेय में गया तो व्यवहार जाना हुआ (प्रयोजनवान है)। निश्चय हुआ तो राग है, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है, बस ! इतनी बात है। है, इतना ज्ञान करने योग्य है। समझ में आया ?

यह तो सम्यग्दर्शन से लेकर पहले से बात है। पहले से न हो तो राग से भिन्न स्वरूप है, विकल्प से भिन्न स्वरूप है – ऐसे स्वरूप का भान हुआ तो विकल्प अपने स्वरूप में नहीं है – ऐसा (भान) हुआ। परन्तु है तो अवश्य। समझ में आया ? स्वरूप शुद्ध परमात्मा निजानन्द प्रभु की दृष्टि में वस्तु शुद्ध है, पर्याय में भी वह विकार नहीं आता, एक नहीं होता। पर्याय में भी, द्रव्य में भी। द्रव्य में तो राग का एकत्व नहीं होता, क्योंकि उसमें नहीं है परन्तु दृष्टि में भी राग का एकत्व नहीं होता। भाई ! क्योंकि दृष्टि शुद्ध निर्मल पर्याय संवर निर्जरारूप है, उस संवर-निर्जरारूप पर्याय में आस्रव पर्याय कभी नहीं होती। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इस श्रद्धान और ज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा में स्थिर होने

का पुरुषार्थ करता है। लो! इस श्रद्धा के बल से, मैं शुद्ध हूँ-पूर्ण हूँ – ऐसा प्रतीति में ज्ञान में – भास में आया है तो पुरुषार्थ करके स्थिर होने का प्रयत्न करता है। बस! यह स्थिर हुआ, वह मोक्ष का मार्ग और संवर-निर्जरा है, बाकी सब बातें हैं। इतने उपवास किये इसलिए निर्जरा हो गयी... बल्लभदासभाई! वर्षीतप किया (इसलिए) निर्जरा हो गयी... उसका इतना काल गया, सुन न अब! निर्जरा कहाँ से आयी? ए... नवरंगभाई! भगवान आत्मा अपने आस्रव और कर्म से भिन्न, अपने स्वरूप से जैसा तत्त्व है, वैसा देखने से रागादि रहे, वे पृथक् – भिन्न रह गये। अत: ज्ञानी को द्रव्य में बन्ध नहीं, द्रव्य बन्धस्वरूप नहीं; अबन्धस्वरूप की दृष्टि हुई तो दृष्टि में भी बन्ध नहीं है। दृष्टिवान को बन्ध है ही नहीं। दृष्टिवान को बन्ध है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। बन्ध, बन्धभाग में गया; अबन्धद्रव्य के अबन्ध परिणाम में वह बन्धभाव नहीं आया, नहीं आता। समझ में आया?

जब-जब स्वानुभव अथवा आत्मा में स्थिरता प्राप्त करता है, तब-तब पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। दृष्टि का अनुभव, भान होने पर भी स्वरूप में निर्विकल्पपने अनुभव होवे तो बहुत निर्जरा होती है। समझ में आया? यह लोग कहते हैं न, भाई! शास्त्र की स्वाध्याय करने से निर्जरा होती है। अरे...! भगवान! सुन तो सही! परद्रव्य के लक्ष्य में निर्जरा कहाँ से आयी? आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी कहा, आया न? पर परिणति.... पण्डितजी! हमारी विशुद्धि होओ, यह टीका करने से विशुद्धि होओ ऐसा पाठ है, लो! उसका अर्थ समझना चाहिए न! निर्जरा तो अपने स्वरूप की स्थिरता में ही होती है परन्तु टीका के काल में मेरा विकल्प तो है परन्तु उससे भिन्न मेरा घोलन है, उस घोलन से मेरी निर्जरा होती है।

मुमुक्षु – आत्मा की समीपता होगी?

उत्तर – आत्मा की समीपता और आत्मा में रहने से होती है; राग में रहने से होती है? अरे...! भगवान! दोनों मार्ग ही भिन्न है। एक आस्रवमार्ग, एक संवरमार्ग या निर्जरामार्ग। निर्जरामार्ग तो अपने स्व के आश्रय में निर्जरामार्ग शुरु होता है। समझ में आया?

कहते हैं, **गुणस्थानों की रीति प्रमाण बन्ध नियमित प्रकृतियों का होता है...** थोड़ा बन्ध, वह बन्ध बन्धभाग में रहा। लम्बा विस्तार किया है, ठीक। कुछ नहीं। नीचे

तीसरा पैराग्राफ.... **आत्मा में स्थिरता होने का काम...** इस ओर, **आत्मा में स्थिरता होने का काम चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाता है...** पीछे लिखा है – वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र है। पण्डितजी ! ऐसा है, प्रभु ! सुन तो सही ! आत्मा शुद्ध है, जहाँ ऐसी दृष्टि हुई तो उसमें आंशिक स्थिरता भी हुई; अतः मिथ्यात्व गया, अनन्तानुबन्धी गयी। मिथ्यात्व जाने से सम्यक्त्व हुआ; अनन्तानुबन्धी (गयी तो) स्वरूप में अंशरूप स्थिरता (हुई) फिर जो शब्द कहना हो, वो कहें, लो ! स्वरूपाचरण नहीं, स्वरूपाचरण नहीं, चिल्लाहट मचाते हैं। अरे... ! भगवान ! सुन तो सही, भाई ! है ?

उद्दण्ड लड़का शोर मचाता है – ऐसा कहते हैं। उद्दण्ड लड़का होता है न ? तूफानी... यह तरबूज होता है न ? तरबूज, क्या कहते हैं ? उसका पिता तरबूज लाये न ? तरबूज, क्या कहते हैं ? लाल। फिर कोई लम्बी फाँक हो, कोई नीचे चौड़ी हो, नीचे चौड़ी हो तो इतनी छोटी हो, लम्बी हो तो ऐसी हो, उसके पिता को पहले से ही पता होता है कि यह ऊधमी है; (इसलिए कहता है) पहले ही पसन्द कर ले। देख, यह दस (फाँक) पड़ी हैं, यह तीन लड़कियाँ हैं और पाँच लड़के हैं और यह तेरी माँ और यह तेरा बाप। इस प्रकार दस फाँक हैं, देख ! फिर तू कहेगा, अरे... बापू ! उनको चौड़ी है परन्तु उन्हें चौड़ी नीचे है परन्तु ऊपर लम्बी नहीं है तेरे नीचे छोटी है परन्तु लम्बी है, दोनों समान हैं। ऊधमी तो ऐसे ऊधम किया ही करता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर कम, अधिक, विपरीत करके ऊधम किया ही करते हैं। बापू ! यह तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग, भाई ! उनकी दुकान के मुनीम भी अलग प्रकार के होते हैं। समझ में आया ? तेली जैसों को महीने में दस रुपये का वेतन दे (उसे) अरबोंपति की दुकान में मुनीमरूप से बैठावे तो वह क्या करेगा ? घानी सूझेगी, सब पैसा पिल देगा। बापू ! सर्वज्ञ परमेश्वर प्रभु आत्मा है, भाई ! तीन काल-तीन लोक के जाननेवाले परमात्मा, धर्म का मूल सर्वज्ञ परमेश्वर है, जिन्हें एक समय में अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें तीन काल हस्तकमल की तरह देखा – ऐसे परमेश्वर के मार्ग में बहुत जवाबदारी से काम लेना चाहिए। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि भाई ! यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे (गुणस्थान से) होता है।

भाई! तुझसे ना नहीं हो सकती। जब तू राग में एकत्व था, और राग से पृथक् हुआ... एकत्व-विभक्त, पण्डितजी! आया न? पण्डितजी ने परसों कहा था न? '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण**' यह (समयसार की) पाँचवीं गाथा में कहा। '**तं एयत्तविहत्तं**' वह कभी सुना नहीं। पर से पृथक्, भगवान राग से पृथक् हुआ और स्वभाव से एकत्व हुआ तो राग से पृथक् हुआ उसमें कोई स्थिरता होगी या नहीं? समझ में आया? न्याय से, वस्तु से, स्थिति से समझना पड़ता है न! ऐसा का ऐसा अर्थ करे (चले नहीं)। यह तो वीतरागमार्ग है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपना शुद्धस्वरूप जब दृष्टि में नहीं था और राग व पुण्य व विकल्प दृष्टि में था, तब तो उसकी श्रद्धा भी मिथ्या थी, क्योंकि राग को ही, अंश को ही आत्मा मानता था। अथवा राग के पीछे वर्तमान क्षयोपशमज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश है, उस विकार, अंश को आत्मा मानता था। अंश को आत्मा मानता था या राग को आत्मा मानता था परन्तु त्रिकाल ज्ञायकभाव को आत्मा नहीं मानता था। भाई! त्रिकाल ज्ञायकभाव अनन्त गुण से भरपूर है, उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई तो अंश को मानता था, तब तो रागादि का लक्ष्य होता था। जहाँ अंशी की दृष्टि हुई तो उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्आनन्द का अंश और स्वरूपाचरण का – स्थिरता का अंश साथ में होता है, होता और होता ही है। तेरी लाख चर्चा करना! समझ में आया? क्या करे? उनको बेचारों को हल्का रखना पड़ा है, हाँ! 'गाँधी' को मैंने कहा खोज करता हूँ, शास्त्र का आधार (देखता हूँ)। जिसमें दोनों को आपत्ति न आवे। शास्त्र आधार मिलता नहीं, परन्तु भगवान सुन तो सही, न्याय से सुन, प्रभु का न्यायमार्ग है।

यहाँ कहते हैं, देखो! चौथे गुणस्थान से आत्मा की स्थिरता शुरु होती है, फिर स्थिरता न हो सके तो राग से पृथक् हुआ किस प्रकार? सात तत्त्व में आस्रवतत्त्व और अजीव, दोनों से भिन्न होकर ज्ञायकतत्त्व की प्रतीति की तो प्रतीति हुई कहाँ से? **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं** – इसमें आस्रवतत्त्व आया, पुण्य-पाप (इसमें आ गये), अजीवतत्त्व आया तो उनकी श्रद्धा कब होती है? इस आत्मा में वह आस्रव और अजीव नहीं है – ऐसी प्रतीति करने से स्वरूप की स्थिरता हुई। ज्ञायक की श्रद्धा होने से संवर, निर्जरा की पर्याय

उत्पन्न हुई, तब वह आस्रव बाकी रह गया, वह बन्ध का कारण है – ऐसा व्यवहार से जानता है। समझ में आया?

वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र है, जो अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से प्रगट हो जाता है... ज्ञानचन्दजी! भाई! अनन्त गुण में से चारित्रगुण का अंश न आया हो तो अनन्तानुबन्धी जाने पर क्या हुआ? क्योंकि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोह की प्रकृति है, भाई! भले ही वह चाहे जिस शास्त्र में से निकाले कि वह तो दर्शनमोह की प्रकृति में जाती है; विपरीत-अभिनिवेश में आती है – ऐसा गोम्मटसार के दृष्टान्त देते हैं परन्तु भाई! यह तो मिथ्यात्व की बात बनाकर करने का कहा है परन्तु चारित्रमोह की प्रकृति को पच्चीस है, दर्शनमोह की तीन है, तो सम्यक् अनुभव में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी गये तो वह तो कषाय की प्रकृति है। कषाय जाने से क्या हुआ? अकषाय अंश हुआ या नहीं? अकषाय अंश हुआ उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र है। समझ में आया? इसमें वाद-विवाद का समय भी कहाँ है? यह तो वस्तुस्थिति ही ऐसी है। अनन्त काल में कठिनाई से ऐसा अवसर मिला... आहा...हा...! निगोद में से निकलकर कितने पंचेन्द्रिय, उसमें मनुष्य, उसमें वीतराग की वाणी का सुनना, उसमें यह यथार्थ बात कान में पड़ना और उसकी रुचि होना, यह तो महादुर्लभ, दुर्लभ और दुर्लभ है। समझ में आया?

पाँचवें देशसंयम (गुणस्थान में) अप्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं होता इस कारण स्वरूपाचरण में अधिक स्थिरता होती है... लो! चौथे में भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध की प्रतीति हुई, उसके साथ आंशिक स्थिरता भी हुई और आगे बढ़कर जब पंचम गुणस्थान आया, वह गुणस्थान अन्तरदशा की बात है। वहाँ दूसरी अप्रत्याख्यानावरणीय.... समझ में आया? यहाँ स्वरूप में स्थिरता की वृद्धि हुई (तो उस ओर) अप्रत्याख्यानावरणीय का नाश हुआ तो वहाँ स्थिरता बढ़ गयी। यहाँ (चौथे गुणस्थान में) थोड़ी स्थिरता थी या सीधी पाँचवें से आयी? समझ में आया? स्थिरता का अंश, स्वसंवेदन का अंश, स्वरूपाचरण कणिका का अंश... कणिका ली है न? कणिका ली है। 'परमार्थवचनिका' (में लिखा है कि) कणिका जागी, है न? अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग साधता है।

सम्यक्मार्ग साधना वह व्यवहार है। सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागी, वह मोक्षमार्ग सच्चा। बनारसीदास, परमार्थ वचनिका...। अन्त में कहेंगे यह यथा सुमति प्रमाण... समझ में आया? केवली वचनानुसार है। यथायोग्य सुमति प्रमाण... जो जीव यह सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसे भाग्यानुसार कल्याण होगा। समझ में आया? अज्ञानी होगा, वह इस स्थिति को सुनेगा अवश्य, समझेगा नहीं। बनारसीदास ने तो बहुत लिखा है। तीनों काल ऐसे जीव होते हैं। जहाँ उसे स्वयं को अन्दर में भरोसा और उस प्रकार का ख्याल न आवे तो उसे खटका करता है कि ऐसा नहीं होता, ऐसा होता है परन्तु उसे धीरे से, शान्ति से देखे तो पता पड़े न?

यहाँ कहा, देखो! क्या कहा? सम्यग्ज्ञान स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण की कणिका, तीनों हो गये। सम्यग्दृष्टि हुई, स्वसंवेदन ज्ञान हुआ, चौथे में स्वरूपाचरण की कणिका कही है। पाँचवें में बढ़ गयी, छठे में बड़ी, सातवें में स्थिरता बढ़ गयी। चन्दुभाई! देखो न! भाषा कैसी है! स्वरूपाचरण की कणिका जगी, कणिका जगी, स्थिरता का अंश चौथे में (जगा है) – ऐसा लिखा है, हाँ! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद को साधता है, बाह्य भाव को बाह्य निमित्ताधीन मानता है। रागादिक होते हैं, जानता है कि निमित्तरूप है मोक्षमार्ग। समझ में आया? और मोक्षमार्ग साधना, व्यवहार शुद्धद्रव्य क्रियारूप वह निश्चय। भगवान अक्रिय शुद्धबिम्ब को यहाँ निश्चय कहा है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की क्रिया जो पर्याय होती है, उसे भेदरूप पर्याय है, इसलिए व्यवहार कहा है। दशा लेनी है न? ध्रुवबिम्ब प्रभु पड़ा है, उसे निश्चय कहा, अक्रिय है, उसमें क्रिया नहीं है, परिणमन नहीं है, उत्पाद-व्यय नहीं है और उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय हुई, वह मोक्षमार्ग साधा, वह तो व्यवहार हुआ। पर्याय है न, इस अपेक्षा से व्यवहार, हाँ! वह राग व्यवहार (कहते हैं उसका) अभी काम नहीं है। समझ में आया? क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय के आश्रय से मोक्ष नहीं होता; मोक्ष तो द्रव्य के आश्रय से होता है। मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय, मोक्ष का उत्पाद, वह भाव में से होता है। उस पर्याय का व्यय, अभाव में से भाव होता है? समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! यह तो सीधी बात है, भगवान! इसमें कहीं कोई आगे-पीछे

करे, वह वस्तु नहीं चलती। देखो! यह कणिका (लिखा है), हाँ! परमार्थवचनिका...। सम्यग्दृष्टि का विचार सुनो, उसमें है।

पाँचवें गुणस्थान में.... पाँचवाँ गुणस्थान, सर्वार्थसिद्धि के देव से भी बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धि के देव को किसी को चौदह पूर्व का ज्ञान (होता है)। यहाँ से ऐसा लेकर गया है न! उसे कुछ नहीं होता, थोड़ा (होता है)। विभाव हेय और स्वभाव आदरणीय – ऐसा अन्दर भान अनुभव के वेदन में हो गया। आगे बढ़कर स्थिर हुआ तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी शान्ति बढ़ गयी। आहा...हा...! है ? जिसे पकड़ा, उसमें विशेष स्थिर हुआ, उसे अब क्या बाकी रहा ? पाँचवाँ गुणस्थान.... आहा...हा...! श्रावकदशा..., कहते हैं कि जहाँ शान्ति की स्थिरता बढ़ गयी है और यह प्रतिमाएँ जो हैं, वे भी वास्तव में तो विकल्प है, वह नहीं; अन्दर स्थिरता के अंश शान्ति के बढ़ते हैं, उसे वास्तविक निश्चय प्रतिमा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

निर्मलता भी होती है... स्वरूपाचरण में अधिक स्थिरता होती है और निर्मलता भी होती है, पाँचवें गुणस्थान में ग्यारह श्रेणियाँ हैं। समझे न ? ग्यारह प्रतिमा। चढ़ते-चढ़ते आगे बढ़ता है, लम्बी बात है। **प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं रहता...** मुनि... मुनि...। **स्वरूपाचरण में विशेषपने स्थिरता होती है। अप्रमत्त में संज्वलन कषाय का मन्द उदय है, तब अधिक निश्चलता होती है**। (ऐसे) करते-करते बारहवें गुणस्थान में (पहुँचते हैं)। वीतरागता बारहवें में, वीतरागता तेरहवें में अन्तर्मुहूर्त में केवल (ज्ञान)।

इष्टोपदेश में कहा है – मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि आत्मा सम्बन्धी ही प्रश्न पूछे.... है ? **मोक्ष के प्रेमियों का....** अपने व्याख्यान चल गये हैं। सब व्याख्यान उतर गये हैं। इष्टोपदेश (सब) व्याख्यान रिकार्ड हो गये हैं।

मुमुक्षु – इस समय आपने राजकोट में यही शब्द कहे थे कि आत्मा की ही बात पूछना।

उत्तर – आत्मा... आत्मा.... आत्मा... करणानुयोग सब होओ, अब छोड़ना, कितनी तो हमें ही नहीं आती। करणानुयोग में इस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बँधती हैं

कितनी सत्ता में होती है, यह याद भी न हो, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? भगवान आत्मा पूरा है, उसका पूछ न, उसका कह न, उसका उत्तर माँग न? भाई! आता है न उसमें, नहीं? बहुत बोल, ग्यारह बोल आते हैं। योगसार में ग्यारह बोल आते हैं। योगसार में आ गया है, अपने सब उतर गया है। बहुत समय से बहुत बातें आती हैं। आत्मधर्म में तो बहुत प्रकार आ गये हैं परन्तु.... आत्मधर्म को वे कहते हैं, ए.... एकान्त है। भगवान! उसे दृष्टि में नहीं समाता न, इसलिए ऐसा लगता है। भाई! उसे धीरे से देखना चाहिए। ऐसा का ऐसा पक्ष से और आग्रह से नहीं देखा जाता। समझ में आया? न्याय से देखना चाहिए न?

मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे आत्मा सम्बन्धी ही प्रश्न पूछें, उसका ही प्रेम करें.... समझे? हमें कितने ही गुप्तरूप से पूछते हैं महाराज! हमें ध्यान किस प्रकार करना? वे जानते हैं कि महाराज ध्यान करते हैं परन्तु ऐसा कोई ध्यान नहीं कि ओम... ओम... किया करें। यह आत्मा वस्तु है, उसकी दृष्टि करके स्थिर होना, वह ध्यान है। अभी आत्मा के भान बिना ध्यान किसका? समझ में आया? उसका प्रश्न कर, उसे देख, उसे अनुभव कर। **वह आत्मज्योति अज्ञानरहित है...** भगवान में अज्ञान की गन्ध नहीं है। वह तो चैतन्य का नूर, पूर, सूर्य है। चैतन्य के नूर का पूर है। तेज, नूर अर्थात् तेज। चैतन्य के तेज का पूर है, उसमें अन्धकार कैसा? सूर्य में अन्धकार होता है? यह जड़ रजकण हैं, यह तो बहुत रजकणों की पर्याय की वैभाविकदशा है। यह तो एकद्रव्य अखण्ड, एकद्रव्य अखण्ड है। वह (सूर्य) तो बहुत रजकण का पिण्ड है। एकद्रव्य अखण्ड का तत्त्व, अकेले चैतन्य का पूर है, उसका प्रश्न कर। वह अज्ञानरहित **परमज्ञानमय है और सबसे (भगवान) महान है**। कहो समझ में आया?

☆ ★ ☆

आत्मरसी जीव कर्मों से नहीं बँधता

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियउ जइ रइ अप्प सहावि॥ ९२॥

पंकज रह जल मध्य में, जल से लिप्त न होय।
रहत लीन निज रूप में, कर्म लिप्त नहिं सोय॥

अन्वयार्थ - **(जइ कमलणि-पत्त कया वि सलिलेण ण लिप्पियइ)** जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता **(तइ जइ अप्प सहावि रइ कम्मेहिं ण लिप्पियइ)** वैसे ही यदि आत्मीक स्वभाव में रत हो तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

☆ ★ ☆

९२ **आत्मरसी जीव कर्मों से नहीं बँधता** – यह तो योगसार है न ? योगसार का ही स्पष्टीकरण बहुत किया है।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियउ जइ रइ अप्प सहावि॥ ९२॥

शर्त यह। जिसे आत्मा में रति लगी है, आत्मा की लगन लगी है.... रति है न ? भाई ! निर्जरा अधिकार में २०६ गाथा में है न ? उसमें प्रीति कर, उसमें रति कर, उसमें सन्तोष कर, उसमें स्थिर होओ। पालीताना में यह गाथा चली थी, अहमदाबाद में भी वह चली थी। वह भड़के... भड़के... भड़के... यह तो आत्मा... आत्मा करते हैं परन्तु सुन, भगवान ! तुझे आत्मा के अतिरिक्त क्या करना है ? यह क्रिया करो, भगवान की यात्रा, पूजा, सिद्धगिरि, सिद्धगिरि के दर्शन करो.... अब यह तो शुभभाव है, बापू ! तू लाख सिद्धगिरि के ऊपर जा न ! यह सिद्धगिरि पूरी अन्दर पड़ी है, अनन्त सिद्धों की पर्याय जो एक समय में सिद्ध को प्रगट हो... ऐसी अनन्त पर्यायें रखकर भगवान अन्दर पड़ा है, उस सिद्धगिरि पर चढ़.... बल्लभदासभाई ! तो तेरी यात्रा सफल होगी। यह शत्रुंजय है। शत्रु का जय करनेवाला भगवान आत्मा, वह शत्रुंजय है। यह भक्ति का भाव अशुभ से बचने के लिए होता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वरना उस काल में आने योग्य भाव होता है, इसलिए शुभभाव आता है; हो परन्तु तू उसे ऐसा मान ले कि इससे धीरे-धीरे कल्याण हो जायेगा (तो ऐसा नहीं है)। स्वद्रव्य के आश्रय के बिना कल्याण का अंश कभी भी नहीं जगता है।

देखो, दृष्टान्त दिया, हाँ ! **जैसे कमल का पत्र कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता....** यह अपने आ गया है। (समयसार) चौदहवीं गाथा। **उसी प्रकार यदि जीव**

अपने स्वभाव में रत होता है.... देखो, ऐसा भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य, ज्ञान का सूर्य, उसमें रत होता है, वह उसका स्वभाव कहलाता है। ज्ञानस्वरूपी भगवान में लीन होवे तो जीव **कर्मों से लिप्त नहीं होता**। लिप्त कहाँ से होगा? जहाँ अन्दर वस्तु में लीन हुआ तो कर्म से बन्ध कहाँ से होगा? समझ में आया? निर्जरा होती है।

आत्मा में लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है, वह रत्नत्रय की एकता धारण करता है। अपना आत्मा, उसकी रुचि, उसका स्वसंवेदन ज्ञान और उसका स्वरूपाचरण... इस प्रकार तीनों की एकता रखता है। वीतराग समभाव से लीन होता है। वीतरागभाव में अथवा समभाव में लीन होता है। राग-द्वेष विहीन होता है; इसलिए कर्मों से नहीं बँधता है। **बन्धनाशक वीतरागभाव है**। बन्ध का नाश करनेवाला तो आत्मा वीतरागस्वरूप और उसमें से उत्पन्न हुआ वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन भी वीतरागभाव है, भाई! अन्य लोग कहते हैं सरागसम्यक्त्व है। सरागसम्यक्त्व तो उसे राग से कहा है। सम्यक्त्व सराग – फराग है ही नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन। तब वे कहते हैं, वीतराग सम्यग्दर्शन आठवें में होता है, चौथे में सराग सम्यग्दर्शन होता है।

मुमुक्षु – अमुक ऐसा कहते हैं, छठवें में होता है।

उत्तर – परन्तु वह तो छठवें में कहते हैं। सातवें में वीतराग है, गौणरूप से चौथे का लिया है, वहाँ टीका में लिया है।

कहते हैं, बन्धनाशक वीतरागभाव; बन्धकारक राग-द्वेष-मोह। दोनों बन्ध आते हैं न? मोह मिथ्यात्वभाव को कहते हैं, वह तो ठीक। इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता, लो! सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि में आंशिक स्थिर हुआ, उसे इकतालीस प्रकृति का बन्ध तो सहज नहीं है। युद्ध में खड़ा हो तो भी इकतालीस प्रकृति का बन्ध नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? और अज्ञानी ऐसी दया पालने की पिच्छी लेकर, मोर पिच्छी लेकर (चलता हो) दृष्टि कर्ताबुद्धि की है, यह क्रिया मैं करता हूँ, राग आया वह मेरा धर्म है – ऐसी मिथ्याबुद्धि में मिथ्यात्व का चिकना अनन्त संसार पड़ता है। समझ में आया? फिर बहुत बात की है।

अन्तिम श्लोक समयसार कलश का (लिया है) **ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह नहीं**

होते हैं.... इस धर्मी को राग-द्वेष होते ही नहीं... होते ही नहीं... धर्म की दृष्टि में नहीं, दृष्टि के विषय आत्मा में राग नहीं तो धर्मी को राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं। **इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं होता।** यह आस्रव अधिकार का (कलश) है। **रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस** (गाथा १७७) यह आस्रव की गाथा है न? उसके पहले का उपोद्घात का कलश है। समझ में आया? भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ कि शुद्ध आत्मा है, बन्धरहित स्वरूप है, अबन्धस्वरूपी भगवान है। दृष्टि अबन्धस्वरूप की हुई (तो उसके) दृष्टिवन्त को राग-द्वेष-मोह नहीं होते हैं, उसे बन्ध नहीं है।

आत्मरमणता से वीतरागभाव बढ़ता है.... और स्वभाव में रमणता के कारण वीतरागभाव बढ़ जाता है, थोड़ा राग बाकी है, वह भी घट जाता है। कहो, समझ में आया? **बन्ध रुकता है।** भगवान आत्मा स्वरूप की दृष्टि हुई, अबन्धस्वरूपी आत्मा, अबन्धस्वभाव... कहो या मुक्त कहो – ऐसी दृष्टि हुई तो अबन्ध परिणाम हुए, अबन्ध परिणाम में बन्ध नहीं होता; बन्ध का नाश होता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

ऊँचा नाम रखकर नीचा कार्य करना योग्य नहीं

यदि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेते हैं तो उनकी नवकोटि शुद्ध नहीं है, उनका आहार ही शुद्ध नहीं है – ऐसी बात है। बापू! मार्ग तो ऐसा है। अरे! ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत में महापाप है। इसके बदले तो 'हमारी ऊँची दशा नहीं है, बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं' – ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगे, लेकिन यदि बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धराकर एक कण भी खावे तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, लेकिन मैं सिर्फ एक बार खाता हूँ, इस प्रकार एकासन करे तो अकेला शुभराग है। *(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१)*

समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ९३॥

शम सुख में लवलीन जो, करते निज अभ्यास।
करके निश्चय कर्म क्षय, लहे शीघ्र शिववास॥

अन्वयार्थ - **(जो बुहु समसुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ)** जो ज्ञानी समता सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का अनुभव करता है **(सो वि फुडु कम्मक्खउ करि, लहु णिव्वाणु लहेइ)** वही प्रगटपने कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही निर्वाण को पाता है।

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल १, मंगलवार, दिनाङ्क १९-०७-१९६६
गाथा ९३ प्रवचन नं. ३८

यह योगसार नामक शास्त्र है, उसकी यह ९३ वीं गाथा है। ९३ **समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है**। निर्वाण का पात्र कौन है ? (वह कहते हैं) –

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ९३॥

मूल गाथा है, उसका अर्थ जरा सूक्ष्म है। क्या कहते ? जो कोई **'बुहु'**, अर्थात् ज्ञानी। ज्ञानी-धर्मी उसे कहते हैं कि यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप शुद्ध है, उसका जिसे शरीर, कर्मरहित और पुण्य-पाप के भाव – विकार से रहित, अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का भान और अनुभव होता है, उसे धर्मी और ज्ञानी कहते हैं। समझ में आया ? उसे धर्म की शुरुआत करनेवाला कहते हैं।

पहला शब्द '**बुह्**' प्रयोग किया है। बुध – यह आत्मा, यह देह, वाणी, मन तो मिट्टी जड़ है, धूल है; यह आत्मा नहीं। अन्दर आठ कर्म के रजकण सूक्ष्म धूल है, वह भी आत्मा नहीं, वह मिट्टी है; आत्मा में हिंसा, झूठ, चोरी कमाने आदि के भाव (होते हैं वे) पाप हैं और दया, दान, भक्ति, व्रत आदि परिणाम होते हैं, वह पुण्य है। इन पुण्य और पाप के भाव से रहित अपना स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द यह आत्मा है। उसका अन्तर में रागरहित रुचि करके स्वभाव की अन्तर्दृष्टि होना और आत्मा ज्ञानानन्द है – ऐसा अनुभव होना, उसे धर्मी और ज्ञानी कहते हैं। सूक्ष्म बात है। कितने ही लोगों ने तो कभी सुनी भी नहीं होगी। यह भगवान आत्मा – ऐसा कहते हैं, कैसा ? है ? यह आत्मा ऐसा है। यह तो सब आये हैं न ? सुने किस प्रकार ? समझें तब न कठिन... कठिन... ?

'**सम सुक्ख**' ऐसा शब्द पड़ा है। धर्मी **सम सुख में लीन होकर...** भगवान आत्मा अन्तर अतीन्द्रिय जैसा सिद्ध का आनन्द है, जैसा सिद्ध परमात्मा में आनन्द है, वैसा इस आत्मा में अन्तरस्वरूप में आनन्द है। यह पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भाव, आकुलता और दुःख है। उनसे रहित आत्मा में आनन्द होना, उसे सुख कहते हैं। समझ में आया ? कहो, रतिभाई ! इस पैसे में सुख है, शरीर में सुख है, कमाने में सुख है – ऐसी जो कल्पना / मान्यता, वह मिथ्यात्व है और उसमें सुख है, इस विपरीत मान्यतासहित का राग-द्वेषभाव है, वह दुःख है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : धूल में भी नहीं। कौन सुखी है ? सब समझने जैसे हैं, सब दुःखी हैं, भगवान आत्मा में.... सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी (ऐसा कहते हैं कि) भाई ! तेरा आत्मा अनादि से आत्मा के आनन्दस्वरूप की दृष्टि के बिना अकेले शुभ और अशुभ के विकार के भाव को करके 'मुझे सुख है' – ऐसा मूढ़ मिथ्यादृष्टि अनादि से मानता है और यदि धर्म करना हो तो धर्म उसे कहते हैं कि यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, ये तो मुझमें नहीं हैं परन्तु शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप यह विकार, कृत्रिम उपाधि, मैल, वह मेरी चीज में नहीं है। मेरी चीज में तो अतीन्द्रिय आनन्द (भरा है)। अतीन्द्रिय अमृतस्वरूप, सुखस्वरूप.... आत्मा अतीन्द्रिय सुख का सागर है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : कितना सागर है ?

उत्तर : यह सागर तो साधारण है, वह तो अनन्त सागर है। जिसमें अनन्त... अनन्त... शान्ति पड़ी है। जो सिद्ध भगवान को अनन्त आनन्द प्रगट होता है, वह कहाँ से आता है ? बाहर से आता है ? अन्तर में उसे पता नहीं कि आत्मा क्या चीज है ? और आत्मा में क्या है तथा आत्मा क्या चीज है और उसमें क्या है ? पता नहीं। मूढ़ अनन्त काल में त्यागी हुआ, भोगी हुआ, रोगी हुआ, निरोगी हुआ, राजा हुआ और रंक हुआ... अनन्त... अनन्त बार ! परन्तु यह आत्मा क्या है और उसमें क्या है ? आत्मा क्या है और उसमें क्या है ? आत्मा चैतन्यस्वरूप है और उसमें अतीन्द्रिय शान्ति तथा आनन्द है – ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि होना, अनन्त काल से यह भाव उसने प्रगट नहीं किया। यह अन्तर में अतीन्द्रिय शान्त वस्तु (मैं हूँ)।

अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति मेरा स्वरूप है, त्रिकाल परमेश्वर ने ऐसा कहा है। परमेश्वर ने ऐसा देखा है, परमेश्वर वीतरागदेव ने ऐसा फरमान किया है कि भाई ! हमें जो समसुख – वीतरागी अनन्त आनन्द जो हमें प्रगट हुआ है, वह अतीन्द्रिय सम वीतरागी आनन्द तेरी वस्तु में पड़ा है। पाटनी ! वह भी कहाँ ढूँढ़ना ? यहाँ तो चारों ओर धूल में और पैसे में और शरीर में अथवा तो अन्दर के पापभाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना में सुख है, मूढ़ को ऐसी मान्यता अनादि का भ्रम है – ऐसा करके आगे चले तो अधिक तो राग की मन्दता-दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के शुभभाव में आता है। वह भी राग की मन्दता के शुभभाव में अनादि से सुख है – ऐसा मूढ़ मान रहा है। समझ में आया ? रतिभाई ! क्या होगा ? है ?

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर '**केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं**'.... उन केवली परमात्मा ने आत्मा में अतीन्द्रिय.... आत्मा धर्मी और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द, उसका धर्म अर्थात् स्वभाव है। उसकी, इसने अनन्त काल में पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है – ऐसी इसने दृष्टि और रुचि एक सेकेण्ड भी अनन्त काल में नहीं की है। समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं जो ज्ञानी.... पहला शब्द यह लिया। '**बुहु**' शब्द पड़ा है न ? बुहु,

बुहु अर्थात् ज्ञानी। जिसने भगवान आत्मा में गृहस्थाश्रम में हो, छह खण्ड के राज्य में पड़ा दिखे, भरत चक्रवर्ती आदि... परन्तु यह अन्तर में मेरे स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है – ऐसा सम्यग्दृष्टि को अन्तर में स्वाद आ जाता है। समझ में आया? यह अतीन्द्रिय आनन्द मुझमें है – ऐसा अन्तर सम्यग्दर्शन होने पर, समकित होने पर, धर्म की पहली दशा होने पर, आत्मा अतीन्द्रिय सागर है, अतीन्द्रिय आनन्द का मूलस्वरूप है – ऐसा उसे स्वाद सम्यग्दर्शन में, धर्म की दृष्टि में, प्रथम श्रेणी में आनन्द है – ऐसा वेदन और अनुभव हो जाता है, उसे ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया?

इसमें पाठ क्या है? देखो, '**सुक्ख णिलीणु**' शब्द क्या है? '**बुहु सम सुक्ख णिलीणु**' पहला शब्द है। कहो, मनसुखभाई! इसका नाम भी मनसुख है। है उसमें – ९३ में शब्द? शब्द है – ऐसा कहता हूँ। मैं मनसुख का कहाँ कहूँ? कहो, समझ में आया? मन में सुख है, यह मान्यता भी मिथ्यादृष्टि मूढ़ की है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मन अर्थात् ज्ञान – ऐसा अर्थ होता है।

उत्तर : यहाँ यह नहीं लेना। मन अर्थात् विकल्प, जो शुभ-अशुभपरिणाम में सुख है, वह मिथ्यादृष्टि उसे मानता है। जैन सर्वज्ञ की परमात्मा की दृष्टि से विरुद्ध मान्यतावाला यह मानता है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव.... लेट क्यों हुआ? कल्याणजीभाई! इधर आओ नजदीक। अभी हिन्दी चलता है, परन्तु हमारे जगजीवनभाई कहते हैं, आज गुजराती करना, हमारे मेहमान आये हैं। क्या कहा?

कि जो कोई ज्ञानी, ऐसा शब्द पड़ा है। सम, सम शब्द में 'शम' चाहिए। यह अर्थ में भूल है। **ज्ञानी सम सुख में लीन होकर बारम्बार आत्मा का अनुभव करता है** इतने शब्दों का अर्थ चलता है। सम सुख – भगवान परमेश्वर ने सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने केवलज्ञान में इस आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भगवान ने देखा है। है अतीन्द्रिय आनन्द का उलटारूप, अनादि काल से शुभ और अशुभ विकार करके, पुण्य और पाप के भाव करके वह दुःख का वेदन और अनुभव करता है। इस दुःख के वेदन का नाम मिथ्यादृष्टिपना और अज्ञानपना है।

मुमुक्षु : पुण्य का फल दुःख?

उत्तर : यह पुण्य फल नहीं, पुण्य स्वयं दुःख है। ९३ गाथा है। **'जो सम सुक्ख णिलीणु'** शब्द है। **'सम सुक्ख णिलीणु'** अर्थात् समसुख में लीन.... लीन है। धर्मी उसे कहते हैं, गृहस्थाश्रम में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उसे पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव की रुचि छोड़कर, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अन्तर में दृष्टि में-श्रद्धा में, ज्ञान में लेता है, उसे धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कल्याणजीभाई! यह सूक्ष्म है, सूक्ष्म बात है, हाँ! कल्याण का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा... ! **'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं'** पहाड़ा तो सुबह-शाम बोलता है।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीर्थङ्करदेव त्रिलोकनाथ ने सौ इन्द्र की उपस्थिति में / हाजिरी में समवसरण की सभा में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान तीर्थङ्कर सीमन्धरप्रभु आदि वर्तमान है, और ऐसे अनन्त तीर्थङ्कर इस भरतक्षेत्र में पूर्व में हो गये हैं। वे अभी यहाँ नहीं हैं, वे सिद्धालय में। जो महावीर भगवान आदि हुए, यहाँ थे तब तक अरिहन्त पद में थे, तत्पश्चात् अभी तो अब सिद्धपद शरीररहित हो गये हैं। महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजमान हैं, वे तो अभी अरिहन्त पद में हैं। शरीर है, वाणी है, उपदेश है। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्करदेव मौजूद महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। उन सब तीर्थङ्करों ने केवलज्ञान में ऐसा जानकर कहा कि भाई! तूने अनन्त काल परिभ्रमण में बिताया, उसका कारण कि भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द जैसा सिद्ध भगवान को आनन्द – अतीन्द्रिय आनन्द है, इन्द्रियरहित, रागरहित... ऐसा आनन्द तुझमें है परन्तु तुझे उस आनन्द की रुचि नहीं हुई है। तेरी रुचि पुण्य और पाप के भाव, शुभ और अशुभ... उनमें तेरी रुचि पड़ी है, वह दुःख की रुचि है। निर्धनता दुःख नहीं है और सधनता सुख नहीं है, वह धूल तो बाहर की चीज है। यह मूढ़ उसमें कल्पना करता है कि मैं निर्धन! ऐसी दीनता की कल्पना उसे दुःखरूप है। सधनता सुख नहीं है, वैसे ही दुःख नहीं है परन्तु मैं सधन हूँ – ऐसी ममता का भाव दुःखरूप है। समझ में आया?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप है, वह तो... सिद्ध परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए? वह निर्दोष दशा लाये कहाँ से? बाहर से आती है? कल्याणजीभाई! पीपर का दृष्टान्त दिया था। उस दिन एक बार दिया था। मुम्बई, उसे याद है। उस दिन बोले थे,

छोटी पीपर का (दृष्टान्त दिया था)। वह इतनी छोटी पीपर होती है न? उसमें चौंसठ पहरी चरपराहट भरी हुई है अन्दर और अन्दर हरा रंग पड़ा हुआ है, वह घोंटने से होता है, वह कहीं पत्थर से नहीं होता। पत्थर से होता हो तो कोयले और कंकड़ घिसना चाहिए, रसिकभाई! यह लॉजिक से बात है या नहीं? यह वकील है या नहीं थोड़ा? यह तो लौकिक का वकील है, यह तो भगवान का लोकोत्तर वकील है।

कहते है कि भाई! उस पीपर का दाना इतना, काला, अन्दर हरा, जरा चरपरा दिखे, अन्दर चौंसठ पहरी है। चौंसठ अर्थात् रुपया, रुपया.... चरपराहट पड़ी है, उसे घोंटते घोंटते अन्दर में से आती है, प्राप्त की प्राप्ति है, हो उसमें से आती है, कुएँ में से बर्तन में (पानी) आता है, इसी प्रकार इस पीपर में चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया -रुपया चरपराहट (भरी है)। यह तुम्हारी हिन्दी में चरपराहट कहते हैं, हमारे यहाँ काठियावाड़ में उसे तीखाश कहते हैं। वह तीखाश चौंसठ पहरी पड़ी है, हरा रंग पड़ा है तो पड़ा है, वह प्राप्त होता है। वैसे ही आत्मा के दाने में अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय सर्वज्ञपद पड़ा है। वह कौन जाने कहाँ होगा? उस पीपर की बात बैठती है कि बात सच्ची है।

यहाँ भगवान कहते हैं, आत्मा में अन्तर वस्तु में वर्तमान में पुण्य-पाप के विकल्प जो राग उत्पन्न होता है, वह तो दु:ख है, आकुलता है, बन्ध का कारण है, वह आकुलता जन्म-मरण के परिभ्रमण का कारण है, उस पुण्य-पाप के भाव.... विकल्परहित अतीन्द्रिय भगवान आत्मा है, उसका अन्तर में ज्ञानी को अनुभव होने पर यह आत्मा पूरा अतीन्द्रिय पूर्ण स्वरूप से भरा हुआ है। पीपर चौंसठ पहरी चरपराहट से भरी है, वैसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है – ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी को आत्मा के आनन्द का, आत्मा में आनन्द है – ऐसा भरोसा आता है। वह पुण्य-पाप में आनन्द नहीं मानता, स्त्री -परिवार में आनन्द नहीं मानता, राजपाट में नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि जीव कहीं सुख नहीं मानता। समझ में आया? इसमें समझ में आता है? कामदार! क्या है कौन जाने? यह किस प्रकार की बात होगी? आहा...हा...!

भगवान! तेरी चीज है न अन्दर! आत्मा अरूपी भी दल है, तत्त्व है, अरूपी तत्त्व

है। रंग, गन्ध, स्पर्श, रसरहित, शरीरप्रमाण अरूपी चैतन्य आनन्दकन्द का दल है, पिण्ड है। मोहनभाई का लड़का है, मोहनलाल कालीदास जसाणी.... समझ में आया? जैसे, एक शीतल बर्फ की साढ़े तीन हाथ की शिला हो तो उसमें चारों ओर शीतलता... शीतलता... शीतलता... भरी है। उसके कोने में, उसके मध्य में, उसके आसपास में सब दल शीतल ही है। वैसे ही आत्मा, देह व्यापक भिन्न आनन्द की शिला है। कौन जाने क्या होगा यह? समझ में आया? इस शिला की तरह.... बर्फ की बड़ी शिला होती है न? पाट... तुम्हारी मुम्बई में तो बड़ी होती है, कल्याणजीभाई! बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ हम देखते हैं न, इतनी -इतनी शिलायें फिरती होती हैं। यह भगवान आत्मा कितनी शिला है, इसका इसे पता नहीं होता। देह के परमाणुओं के अन्दर पृथक् और पुण्य-पाप के विकल्प जो राग उत्पन्न होता है, विकार से पृथक् यह आत्मा चैतन्य आनन्द की बड़ी शिला है। आहा...हा...! समझ में आया? जब तक इस आत्मा का अन्तर ज्ञान और अनुभव न हो, तब तक उसे धर्म की गन्ध तीन काल में नहीं हो सकती। समझ में आया?

कहते हैं, वह धर्मी जीव, जो अनादि से अज्ञान में अपने आनन्द के अतिरिक्त पुण्य-पाप के भाव में सुखबुद्धि से जिस दुःख का वेदन करता था, वह अज्ञानदशा थी, वह मिथ्यादृष्टि था; वह तत्त्व के लिए मूढ़ था। उससे भिन्न होकर भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल शान्तरस का प्रभु पिण्ड-दल है – ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि होने पर वह सम सुख में लीन है। आहा...हा...! है कल्याणजीभाई! शब्द तो देखो, वहाँ तुम्हारी बहियों में तो कितने बदल दिये। पहला शब्द है न! भाई! पहला है न! भाई! '**सम सुक्ख णिलीणु**' शब्द है। यह तो तुम्हारे दामाद के लिए कहते हैं। '**सम सुक्ख णिलीणु, णिलीणु**' लीन, '**सम सुक्ख णिलीणु**' एक शब्द में इतना पड़ा है।

जो कोई धर्मी '**बुहु**', '**बुहु**' अर्थात् ज्ञानी, जो '**सम सुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ**' – यह शब्द पड़ा है। यह तो महा सिद्धान्त मन्त्र है। भगवान आत्मा में पुण्य -पाप की आकुलता के भाव से भिन्न पड़ा हुआ प्रभु, ऐसे आत्मतत्त्व में अतीन्द्रिय शान्त आनन्दरस जिसमें भरा है, उसकी जिसे अन्तरदृष्टि होकर आत्मा के आनन्द का ज्ञान होकर आत्मा के आनन्द का स्वाद आया है, उसे ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते

हैं। कहो, समझ में आया ? इन पुण्य-पाप के भाव में सुख मानें, पैसे में सुख मानें, स्त्री में सुख मानें, राग में सुख मानें, भगवान कहते हैं कि वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। है ?

मुमुक्षु - वह दुःखी है।

उत्तर - दुःखी है – ऐसा कहते हैं। कान्तिभाई ? क्या होगा यह ? पुण्य-पाप में पड़ा हुआ दुःखी है। उसके फल की बात नहीं, फल तो बाहर धूल है। पैसा-वैसा बाहर की धूल में गये, उसमें यहाँ कहाँ आ जाते हैं ? इसके पास तो शुभ और अशुभ विकार होता है। वह शुभ और अशुभभाव है, वह दुःखरूप है, वह दुःखी जीव है। उनसे रहित आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर '**सम सुक्ख णिलीणु**' सम्यग्दृष्टि जीव – धर्म की शुरुआतवाला जीव, आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया – ऐसा (जीव).... सम सुक्ख। सम (शब्द) क्यों रखा है ? कि पुण्य-पाप के भाव वह विषम हैं। शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे विषम हैं, विषम हैं, कषाय है। उनसे '**सम सुक्ख णिलीणु**' वे पुण्य-पाप के भाव विषम हैं, आकुलता है। उनसे रहित भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द / सम सुख से भरपूर तत्त्व है, उसकी दृष्टि करने से सम सुख की दृष्टि होने पर धर्मी सम सुख में लीन है। अतीन्द्रिय आनन्द में जिसकी प्रीति, रुचि और अनुभव है... आहा...हा... ! अद्भुत बात, भाई ! समझ में आया ? पुस्तक है या नहीं ? भाई, कामदार ! बहियों में नामा लिखते हो तब एक-दूसरे में को मिलाते हो या नहीं ? क्या कहलाता है ?

'**जो समसुक्ख णिलीणु बुहु**।' '**बुहु**' शब्द है न ? भाई ! यह '**बुहु**' अर्थात् ज्ञानी होता है। ज्ञानी वोहि नहीं आता ? वोहि दयाणं। वोहि अर्थात् ज्ञानी, '**समसुक्ख णिलीणु बुहु**' – इतना अर्थ हुआ। '**पुण पुण अप्पु मुणेइ पुण पुण**' अर्थात् बदल-बदलकर इस आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि और दृष्टि जो हुई है, वह बारम्बार अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है, उसे संवर और निर्जरा होते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? '**सो वि पुण पुण**' अनुभव करता है। '**पुण पुण**' अर्थात् बारम्बार।

मक्खी को फिटकरी के स्वाद में फीकापन लगता है और उसे शक्कर के स्वाद में मिठास लगती है। मक्खी जैसा जानवर भी शक्कर को छोड़कर उड़ता नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के भाव फिटकरी जैसे खारे और दुःखरूप हैं, उनके स्वाद में

फीकापन लगने से धर्मी को आत्मा की डली, शक्कर की डली में स्वाद भासित होने से उसमें लीन होता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? मेरा आनन्द मुझमें – अन्तर्मुख में है। यह शरीर, वाणी, जड़ तो अजीवतत्त्व है। पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव होते हैं, वह तो आस्रवतत्त्व है। भगवान आत्मा उस आस्रव और अजीव से भिन्न तत्त्व है। इस प्रकार जिसे धर्म की पहली दृष्टि हुई है, वह धर्मी सम सुख में लीन होकर बारम्बार आत्मा का अनुभव करता है।

– ऐसा कहकर यह कहते हैं कि निर्वाण का उपाय कष्ट सहन नहीं है। भाई ! नीचे अर्थ किया है न ! मोक्ष का उपाय दुःख नहीं। अरे.... ! बहुत सहन करना पड़े, हाँ ! यह तो तुझे दुःख लगा, दुःख लगे वह तो आर्तध्यान है; वह धर्म नहीं है। निर्वाण अर्थात् मोक्ष का उपाय कष्ट सहन करना नहीं है। कष्ट-दुःख सहन करना तो आर्तध्यान है। निर्वाण का उपाय अतीन्द्रिय आनन्द में शान्ति का वेदन करना, सम सुख – वह निर्वाण का उपाय है। आहा...हा... ! कल्याणजीभाई ! कभी सुना नहीं होगा। जयनारायण ! वहाँ प्रमुख होकर मुखर हों, ऐसा करना... ऐसा करना.... ऐसा करना...।

मुमुक्षु : बुद्धिशाली मनुष्य कहलाते हैं।

उत्तर : परन्तु यह समझे बिना बुद्धि किसे कहना ? कल्याणजीभाई ! समझ में आया ? रसिकभाई ! न्याय से – लॉजिक से समझ में आता है न ? लॉजिक-न्याय है न ? वीतराग का मार्ग न्याय से है। निरावयम् आता है न ? पाँचवें... में आता है। निरावयम् न्याय से वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं। निरावयम्.... न्याय से वीतराग देव कहते हैं कि यह आत्मा अनादि काल से अपने आनन्द को भूलकर जितने पुण्य और पाप के भाव करता है, वह दुःख को वेदन करता है और दुःखी है। उसे धर्मी नहीं परन्तु अधर्मी कहा जाता है। आहा...हा... ! मनसुखभाई ! फुरसत में कब (थे) ? यहाँ आवे तो सुनने की फुरसत नहीं, वहाँ भी दुकान की सतत धमाल... सतत धमाल... धूल में... धूल में... हैरान... हैरान... हैरान... दुःखी का सरदार बड़ा। कैसे होगा ?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : धूल में सुखी नहीं, कौन कहता है ? मूढ़ जीव कहता है। पागलों के

अस्पताल में दूसरा पागल दूसरे पागल को कहता है कि यह चतुर लगता है। कल्याणजी भाई! ऐसा है न? भाई! यह तो मैंने कहा, वे कहते हैं ये सुखी लगता है। किसी के पास पाँच लाख की पूँजी हो या दो करोड़ की पूँजी हो... पूनमचन्द को लोग कहते हैं कि यह सुखी है। धूल में भी नहीं... कौन कहता था? दु:ख है वहाँ क्या है? धूल है? राख है वहाँ। आत्मा के साथ बैठना मिले, वह आनन्द है। यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : समाचार पत्र में तो आता है।

उत्तर : उसमें छाप कहाँ पड़ी? दु:खी की छाप पड़ी। लाखों लोगों को पता पड़े, चीटिंयों को बहुत पता पड़े तो मनुष्य चींटीं हो गया।

यहाँ कहते हैं कि निर्वाण का उपाय... है न? पहले गाथा का अर्थ ले लें – **'जो समसुक्ख णिलीणु बुहु', 'पुण पुण अप्पु मुणेइ' 'अप्पु'** अर्थात् आत्मा। बारम्बार आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की पहले दृष्टि की है, इसलिए उस आनन्द में ललचाया है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है – ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर ललचाया है। यहाँ आनन्द है, यहाँ आनन्द है, यहाँ आनन्द है। भगवान कहते हैं कि उस आनन्द का बारम्बार जो अनुभव करता है, **'सो फुडु कम्मखउ करि सहु णिव्वाणु' वह प्रगट रूप से कर्मों का क्षय करके....** वह कर्म का क्षय करता है। आत्मा के आनन्द का अनुभव करे, वह कर्मों का क्षय करता है। समझ में आया? और **'लहु'** अल्प काल में निर्वाण को पाता है।

एक गाथा में तो बहुत तत्त्व समा दिये हैं। भगवान आत्मा उसे कहते हैं कि जो अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है – एक तत्त्व। यह कर्म शरीर व अजीवतत्त्व, (२) अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह आस्रवतत्त्व, दो और दो चार हो गये। आत्मा आनन्दमय, आस्रव और पुण्य-पाप ये तीन हो गये। यह कर्म, शरीर अजीव; भगवान आनन्दमूर्ति, वह आत्मा; उसकी दृष्टि और अनुभव करना, वह संवर और निर्जरा तथा वह संवर-निर्जरा उत्कृष्ट हो जाये, तब मोक्ष होता है, उसका नाम पूर्णानन्द की प्राप्ति है। ये नव तत्त्व इसमें आ गये हैं। है? नजर से नौ दिखते हैं, ज्ञान में नौ ज्ञात होते हैं।

अरे...! भगवान! परन्तु इसने कभी अन्तर का मार्ग वीतराग ने क्या कहा? यह सुनने को नहीं मिला, वह समझे कब? रुचि कब करे? और अनुभव कब करे? सिरपच्ची,

मरकर हैरान होकर, अनन्त काल से ऐसे के ऐसे वर्ष बिताये, अनन्त भव गये... ऐसा मनुष्यपना अनन्त काल में कठिनता से मिला, चींटी, कौआ, कुत्ता, हाथी, नरक में निगोद में से निकलते-निकलते कठिनाई से यहाँ आया है। उसमें भी जब तक इस आत्मा का भान नहीं करे तो उसकी इस दशा में परिभ्रमण करता है। आहा...हा...!

एक बात – समसुख में ऐसा शब्द लिया कि आत्मा आनन्दमूर्ति, वह वीतरागी सुख का कन्द है, उसे आत्मा कहते हैं। उसकी अन्तर्दृष्टि करके आनन्द का ज्ञान करे और आनन्द का अनुभव करे – ऐसी दशा को संवर और निर्जरा कहते हैं। उस संवर-निर्जरा में पुण्य और पाप तथा आस्रव मलिन तत्त्व से रहित हुआ, वे मुझमें नहीं, उसे पुण्य-पाप और आस्रव का ज्ञान हुआ कि वे मलिन हैं, मुझमें नहीं हैं और वे बन्ध का भाव है। शुभ -अशुभ विकारभाव, वह बन्धभाव है। यह पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध चार तत्त्व हो गये। शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की समसुख की मूर्ति है, वह जीव है। उसमें सम्यग्दर्शन का / अनुभव का भान होने पर यह आत्मा आनन्दमूर्ति, उसका वेदन और शान्ति का वेदन होने पर उसे संवर और निर्जरा कहा जाता है। वह वेदन बढ़ते-बढ़ते **'लहु णिव्वाणु'** अल्प काल में पूर्ण आनन्दरूपी मुक्ति को प्राप्त करता है। यह नव तत्त्व हो गये। अभी नव तत्त्व का पता न हो, किसे कहना? आँकड़ा / नाम का भी पता न हो और भाव का तो कहाँ पता होगा? इसमें समझ में आया? रतिभाई!

समसुख शब्द पड़ा है न, उसके सामने एक विषमसुख है। वह विषम सुख क्या? वस्तु दुःखरूप, यह वस्तु की बात नहीं। वस्तु तो पर में रह गयी, यह शरीर-वरीर, वह तो मिट्टी-धूल है, वह तो जड़ है-पर है, यह पैसा-वैसा धूल पर है, वह कहाँ आत्मा में किसी दिन स्पर्शित होती है? वह तो मिट्टी-धूल है। भगवान तो अरूपी है, आत्मा तो रूप रंग, गन्ध-स्पर्शरहित चीज है। वह तो स्पर्शवाली, गन्धवाली, जड़, मिट्टी, धूल है, इसलिए वह अजीवतत्त्व है, शरीर, कर्म और बाह्य स्त्री, पुत्र का दल यह सब दिखता है, वह सब अजीव। अन्दर आत्मा है, वह जीव अलग वस्तु है। उनके लक्ष्य से हुए पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव, वह पुण्य-पाप आस्रव और बन्ध यह चार तत्त्व एक में समाहित हो जाते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उत्पन्न होता है, वह पुण्य है, उसे आस्रव

कहते हैं और चैतन्यमूर्ति उसमें अटका, इसलिए उसे बन्ध कहते हैं। समझ में आया ? उसे विषम सुख कहते हैं। विषम सुख अर्थात् दुःख। पुण्य-पाप का भाव, वह विषम अर्थात् सम से विरुद्ध वह दुःख। उस पुण्य-पाप, आस्रवभाव के राग से हटकर भगवान आत्मा के आनन्द के वेदन में आया, तब आत्मा का भान हुआ, वह आत्मा और शान्ति का – अरागी समसुख का वेदन हुआ उसे संवर और निर्जरा कहा जाता है। उस समसुख से निर्जरा होते-होते समसुख की जहाँ शुद्धि बढ़ गयी (और) पूर्णता हो, उसे भगवान मोक्ष कहते हैं। कामदार! यह कभी सुना भी नहीं होगा। लोग नहीं समझते, इसलिए तत्त्व से क्या कहते हैं ? वह सुनते नहीं, समझते नहीं (तो) बन्द करा दिया, नहीं, मानूँगा.... परन्तु पहले सुन तो सही, क्या है ? समझ में आया ?

सर्वज्ञ ने न्याय से, लॉजिक से, युक्ति से मार्ग सिद्ध किया है। अनन्त परमेश्वर हो गये, भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, गणधर विराजमान हैं, सन्त विराजते हैं, लाखों मुनि विराजमान हैं... वर्तमान विदेहक्षेत्र में, हाँ! इन्द्र ऊपर से भगवान के समवसरण में अभी आते हैं। किसी को करोड़ पूर्व का जिसका आयुष्य है। मुनि सुव्रतभगवान के समय से जिन्होंने दीक्षा ली है, अभी केवलज्ञानरूप से विराजमान हैं। आगामी चौबीसी में बारहवें और तेरहवें तीर्थंकर यहाँ होंगे, तब वहाँ मोक्ष पधारेंगे। इतनी उनकी – भगवान सीमन्धर प्रभु की दीर्घ आयु है। कल्याणजीभाई! यह सब वहाँ के सेठिया, उनका पत्ता (अभिमान) निकल जाता है।

भगवान के श्रीमुख में से ऐसी वाणी आयी है और सन्त-ज्ञानी वह बात करते हैं। भाई! '**फुडु कम्मखउ करि**' आत्मा में शान्ति का, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का जितना वेदन करे, अनुभव करे... '**अनुभव चिन्तामणि रत्न और अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्ष स्वरूप**' इस आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, शान्ति का वेदन करना, उसे भगवान मोक्ष का मार्ग कहते हैं। जितने पुण्य और पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सभी बन्ध के कारण और दुःखरूप हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? कहो, पाटनीजी! इसमें कहीं तर्क का अवकाश तो नहीं परन्तु भाषा में कभी इसने.... मनुष्यपने में निर्णय करने का अवसर मुश्किल से मिला, उसे खो बैठा। जाओ!

उसे निगोद का शरीर मिला या वह मिला, दोनों में अन्तर है? आलू, शकरकन्द शरीर मिला। एक शरीर में अनन्त जीव, वह मिला और यह मनुष्यपना मिला परन्तु जिसने आत्मा क्या चीज है? उसकी दृष्टि कैसे करना, उसका भान नहीं तो उसे शरीर मिला और मनुष्य का शरीर (मिला), दोनों समान हैं, क्योंकि उसमें इसे कोई लाभ नहीं और इसे कोई लाभ नहीं। गोरडिया! समझ में आया? यह मुद्दे की रकम की बात है। लोग ऐसे होते हैं न कि पाँच लाख दिये हों, छह आना रूप से ब्याज (लेते हों, वह कहे) अब ब्याज नहीं, रोकड़ लाओ, ब्याज बीस वर्ष खाया, मूल पूँजी लाओ। पूँजी नहीं, तब किसलिए ब्याज दिया – इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि मूल पूँजी आत्मा के भान बिना तेरे पुण्य-पाप के परिणाम सभी पुण्य का ब्याज बाहर गया। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपने स्वरूप का समसुख की शान्ति का वेदन करे। आहा...हा...! एक शब्द में तो कितना भर दिया है! गृहस्थाश्रम में भरत चक्रवर्ती, छियानवें हजार रानियाँ... समझ में आता है। फिर भी उन्हें राग है परन्तु वह राग जरा अशुभ है, उससे आत्मा आनन्द है – इस प्रकार भिन्नता का भान है। यह नहीं रे, नहीं मेरा स्वाद अन्तर में है। इस छह खण्ड के राज्य में पड़ा होने पर भी आनन्द को नहीं भूलता। आहा...हा...! समझ में आया? नट डोरी पर नाचता हो, नाचता हो परन्तु उसका पैर कहाँ है? वह नहीं भूलता, (भूले) तो नीचे गिर जाये। इसी प्रकार धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में रहने पर भी छियानवें हजार स्त्रियाँ, पटरानी, रानियाँ उन्हें देवांगनाओं के समान होती हैं। जिनका शरीर भी सुन्दर.... इन्द्र तो जिनके मित्र हैं। भरत चक्रवर्ती को इन्द्र तो जिनके मित्र होते हैं, जिनका सिंहासन अकेले हीरा माणिक से जड़ा हुआ, जिसकी अभी किसी राजा 'एडवर्ड' के पास भी नहीं हो, इतनी कीमत तो उसके सिंहासन के पाये की होती है। समझ में आया? परन्तु अन्दर यह मेरा आत्मा आनन्द है न! अरे...! आनन्द में कब जाऊँ? कब जाऊँ? रुचि वहाँ लगी है। ऐसे पुण्य-पाप के भाव होने पर भी रुचि आत्मा के आनन्द में लगी है, उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहा...हा...! सम्यक् अर्थात् सच्ची दृष्टि। तो आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, उसकी रुचि और अनुभव हुआ, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के भाव वह दु:खरूप हैं – उनका वेदन, वह मैं – यह मिथ्यादृष्टि आत्मा, दु:ख में आत्मा मानता है। समझ में आया?

निर्वाण का उपाय कष्ट सहन.... इन्होंने (भावार्थ में) इसकी थोड़ी व्याख्या की है। शब्द तो यही है परन्तु 'सम' में से निकाला है। मोक्ष का उपाय कष्ट सहन नहीं। लोग कहते हैं न कि जैसे कष्ट सहन करूँगा, ऐसे अधिक.... धूल में... कष्ट सहन में तो दुःख है। मोक्षमार्ग दुःखरूप होता है ? बहुत सहन करे, परीषह बहुत सहन करे... परीषह सहन करना अर्थात् क्या ? अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद और उल्लसित आनन्द स्फुरित हो। दुःख नहीं लगे प्रतिकूलता नहीं दिखे, ज्ञाता के समभाव में जाननेवाला-देखनेवाला... जाननेवाला-देखनेवाला (रहता है) । लाख प्रतिकूलता हो, वह सब ज्ञेय-जाननेयोग्य चीज है, मुझे कोई प्रतिकूल है नहीं और मुझे कोई अनुकूल है नहीं। यह प्रतिकूल विकारीभाव और अनुकूल भगवान आत्मा है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि प्रतिकूल, वह अपने पुण्य-पापभाव, वह अनिष्ट और दुःखरूप है (– ऐसा देखती है) । इसलिए आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द, यह उसकी दृष्टि – सम्यग्दृष्टि की होती है। आहा....हा.... ! समझ में आया ?

सुख का भोग, क्या कहते हैं ? देखो ! **परन्तु समभावपूर्वक सुख का भोग है।** यह अर्थ है। इसमें नहीं है, यह तो शब्द है, इसमें थोड़ी टीका की है। सम्यग्दृष्टि को दुःख नहीं। दुःख सहन करना, वह मोक्ष का उपाय नहीं है। आनन्द समता... समता... समता... कौन सी समता ? लोग कहते हैं, वैसी नहीं। अन्तर समस्वरूपी प्रभु, शीतल शिला, अरूपी चिदानन्द, चन्दन... चन्दन... चन्दन शिला आत्मा और अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु का स्पर्श करके आनन्द का वेदन आया, वह कष्ट नहीं; वह समसुख है। वह समसुख मोक्ष का उपाय है। सुख का भोग साथ में है। आहा...हा... ! उसे निर्जरा कहा जाता है। जिसमें शान्ति... शान्ति... अनाकुल शान्ति, स्वभाव के सागर में से कण फूटा... भगवान... ! जैसे पानी का समुद्र हो और जैसे ज्वार आवे, ज्वार किनारे आवे; वैसे अतीन्द्रिय आनन्द का सागर चैतन्य रत्नाकर प्रभु आत्मा है। उसकी अन्तर में सम्यग्दृष्टि से एकाग्र होने से उसकी वर्तमान दशा में आनन्द की बाढ़ आती है, वह आनन्द की बाढ़ मोक्ष का उपाय है। आहा...हा... ! कल्याणजीभाई ! ये शब्द भी कभी सुने नहीं होंगे। कामदार ने तो तुरन्त स्वीकार किया। धीरुभाई ! जोबालिया ! बहुत इकट्ठे हुए हैं। यह भी जोबालिया ही है न ? ओ...हो... !

प्रभु! तेरा मार्ग अलग है प्रभु, भाई! दुनिया माने और मनावे, इससे कहीं वीतराग का मार्ग नहीं हो जाता। वीतराग परमेश्वर का मार्ग सम वीतरागभाव है। समसुख कहो या वीतरागभाव का आनन्द कहो। आहा...हा...! वह वीतरागभाव का आनन्द अन्दर में आवे, वह वीतराग का मार्ग कहलाता है। जिसमें पुण्य और पाप का भाव तो रागभाव है; वह वीतरागमार्ग नहीं है। अद्भुत बात भाई! फिर भी (सम्यग्दृष्टि) राजपाट में कैसे रहता है? भाई! उसे अभी आसक्तिभाव होता है, इसलिए राजपाट में दिखता है परन्तु वह आसक्ति को दु:ख देखता है। वह आसक्ति को दु:ख देखता है। सम्यक्त्वी को भोग की वासना आती है परन्तु उसे उपसर्ग... उपसर्ग... काला नाग देखता है। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष यह पाप की वासना जहाँ भोग की आती है, उसे काला नाग देखता है। अरे...! यह दु:ख जहर है। समझ में आया? उसकी स्थिरता नहीं है, इसलिए इतना (भाव) आता है परन्तु उसमें उसे प्रेम और रुचि नहीं है, आहा...हा...! समझ में आया?

सम्यक्त्वी को यह इन्द्राणी होती है। है न अभी? शकेन्द्र है न? सौधर्म देवलोक का शकेन्द्र अभी है, एकावतारी, हाँ! एकावतारी। उसकी रानी भी एक भवतारी है। शचि-पति दोनों एक भवतारी हैं। सौधर्म देवलोक में बत्तीस लाख विमान का स्वामी है। सम्यक्त्वी, क्षायिक सम्यक्त्वी है। उसकी रानी (इन्द्राणी) सम्यक्त्वी है, दोनों एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। उसमें पड़े होने पर भी कहीं आनन्द नहीं देखते; वे आनन्द अन्दर में देखते हैं। बत्तीस लाख विमान और एक-एक विमान में कितने में ही तो असंख्यात देव हैं।

मुमुक्षु – शचि इन्द्राणी क्षायिक सम्यक्त्वी है।

उत्तर – क्षायिक का मैंने नहीं कहा। सम्यक्त्वी इतना कहा, सम्यक्त्वी इतना ही कहा, क्षायिक कहीं स्त्री में नहीं होता, वहाँ नहीं होता। फिर आयेगा, परन्तु सम्यक्त्वी इतना कहा। वह क्षायिक सम्यक्त्वी है, शकेन्द्र क्षायिक सम्यक्त्वी है और उसकी रानी है, वह सम्यक्त्वी है। दोनों मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं, अभी स्वर्ग में विराजमान हैं। इस देव की इतनी फिर एक-एक इन्द्राणी इतनी अधिक होती हैं, करोड़ों अप्सरा... लोगों को ऐसा

लगता है कि यह भोग करते हैं, अन्तर से दु:ख लगता है, वह राग मिटता नहीं, स्वरूप की स्थिरता की कमजोरी है, इसलिए राग आता है परन्तु दु:ख लगता है, उपसर्ग आया ऐसा लगता है, जैसे रोग का उपसर्ग आया हो, ऐसे ज्ञानी को भोग की वासना उपसर्ग और रोग लगता है। आहा...हा...! समझ में आया? और मूढ़ मिथ्यादृष्टि को उस भोग की वासना में मिठास लगती है। इतना दृष्टि में अन्तर है। अब उस दृष्टि की कीमत कहाँ लाना, करना? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं – **अपने आत्मा का आत्मारूप श्रद्धान, ज्ञान, उसमें ही रमना अर्थात् आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है।** इसकी व्याख्या की है। इस शब्द की व्याख्या है, वह इसमें नहीं, वह दूसरी पुस्तक है। अकेले श्लोक का ही अर्थ है। यह हिन्दी है न? भगवान आत्मा देह-देवल में, स्त्री की देह हो तो मिट्टी है, ऊपर चमड़ी लिपटी है। भगवान आत्मा उसरूप कभी नहीं हुआ, सोने की पाट को लाख कपड़े, कपड़े, जीर्ण, नये-पुराने, बाघ के, हिरण के चित्र से भी वह सोने की पाट उस चित्रामरूप और कपड़ा रूप कभी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान अन्दर सोने की पाट है, उस पर कपड़ा किसी को पुरुष का, किसी को स्त्री का, किसी को नपुंसक का, किसी को हाथी का, और किसी को कन्थवा का। यह सब ऊपर मिट्टी का लेप है, वस्तु भगवान चिदानन्द आनन्दकन्द भिन्न तत्त्व है। समझ में आया?

यहाँ '**समसुक्ख णिलीणु**' शब्द है न? आहा...हा...! भाई! तेरी दशा कौन? तू कौन? भाई! तू कौन? तू अर्थात् कि अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड, वह तू। भाई! यह शरीर, वाणी, मन तू? यह पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह तू? भगवान तू विकार? भगवान तू अजीव? या भगवान तू जीव? आहा...हा...! तो जीव अर्थात् क्या? आनन्द और शान्ति के जीवन से भरपूर भगवान को जीव कहते हैं। आहा...हा...! कहते हैं, भाई! इस हिरण की नाभि में कस्तूरी परन्तु उसे उसकी महिमा नहीं। इसी प्रकार भगवान कहते हैं, बापू! तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द और सर्वज्ञपद आत्मा में पड़ा है। वे सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी होते हैं, वे कहाँ से लाये केवल? बाहर से आता है? चौसठ पहरी चरपराहट कहाँ से आयी? पत्थर से आयी? कल्याणजीभाई! यह मेरे में ऐसा है? एक बीड़ी बिना

चले नहीं, एकदम घुटी हुई उड़द की दाल न हो तो हिचकियाँ उठें। हिचकियाँ उछल जाये, उड़द की दाल होती है न? उड़द की। छाछ.... छाछ समझते हो? मट्ठा, मट्ठा डालते हैं न? फिर दाल ऐसी एकरूप घुटी हुई न हो (तो कहे) धन की धूल कर डाली, कहो, तब धान ला करके देते हैं परन्तु ऐसा कर डाला? दाल अलग, छाछ अलग, एकरस नहीं होता, वहाँ एकरस देखने को लगा, मूर्ख! यहाँ एक रस नहीं होता, यह तो देख! समझ में आया? अरे...! उड़द की दाल ऐसी बनायी, धूल ऐसी बनायी, ऐसा हलवा एक दम लहलहाता आया, ऐसा घी टपकता (आया) वहाँ तो एकाकार (हो जाता है), मूढ़ है। है? अरबी के टुकड़े ऐसे सरीके तले हुए होते हैं न? और श्रीखण्ड, पूड़ी खाने बैठा हो तो मानो मूढ़ वहीं पूरा रत हो गया। भाई! वह तो मिट्टी है, प्रभु! छह घण्टे में विष्टा होगी, यह शरीर ऐसा यन्त्र है। श्रीखण्ड और पूडी अन्यत्र कहीं कोठरी में डालोगे तो छह घण्टे में विष्टा नहीं होगी परन्तु यह अच्छा श्रीखण्ड फर्स्ट क्लास यहाँ डालोगे तो छह घण्टे में विष्टा होगी – ऐसा यह यन्त्र है। यह तो मिट्टी धूल है, बापू! यह आत्मा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

अन्तर में भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से पूर्ण छलाछल भरा है। कहते हैं, ऐसे आत्मा की अन्तर श्रद्धा, सम्यक् अनुभव, उसका ज्ञान और उसकी रमणता (हो), उसे भगवान सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। आहा...हा...! लो! यह **आत्मा में रत होता है, मन के विचार बन्द हो जाते हैं, वचन और काया की क्रिया स्थिर हो जाती है.... उसी समय आत्मस्थिति होने से आत्मिक सुख का स्वाद आता है**। मन छूट जाये, विकल्प छूट जाये, आत्मा आनन्द अनुभव में आवे तब सम्यग्दर्शन होने से, सम्यग्दर्शन होने पर उसे आत्मा के निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हो जाता है। उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वह सम्यग्दर्शन होने के बाद उसे स्वरूप में स्थिरता, रमणता होती है, उसे चारित्र कहते हैं। समझ में आया? बाहर से वेष पलटे, और यह किया, इसलिए हमें सम्यग्दर्शन हो गया और चारित्र हो गया (– ऐसा नहीं है)। अनन्त बार यह थोथा कर-करके नौवें ग्रैवेयक तक गया। समझ में आया? 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछे पटकयौ'। यह सज्झाय में आता है। द्रव्य संयम, आत्मा के सम्यक् अनुभव दृष्टि बिना बाहर के

क्रियाकाण्ड से नौवें ग्रैवेयक ऊँचे गया। फिर पीछे पटका... चार गति में भटकने को फिर से आया परन्तु इसने आत्मा की दृष्टि, आत्मा का ज्ञान और अनुभव नहीं किया।

दृष्टान्त देते हैं। **शक्कर खाने से मिठास....** आती है। शक्कर (खावे तो) मिठास दिखती है, नीम को खाने से कड़वाहट दिखती है और नमक खाने से खारापन दिखता है। ऐसे भगवान का अनुभव करने से आत्मा को आनन्द आता है। यह दृष्टान्त.... दृष्टान्त के लिए है या दृष्टान्त सिद्धान्त के लिए है ? वह नीम खाने से कड़वाहट दिखे, नमक खाने से खारापन दिखे, शक्कर खाने से मिठास दिखे, अफीम खाने से कड़वाहट दिखे; तब आत्मा का अनुभव होने पर कुछ होता है या नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **उसी प्रकार आत्मा के शुद्धस्वभाव में रमणता करने से आत्मानन्द का स्वाद आता है।** जैसे, वह कड़वा स्वाद, मीठा स्वाद, खारा स्वाद (आता है), (वैसे ही) भगवान आत्मा में आनन्द है, उसका सम्यग्दर्शन करने से, उसका ज्ञान करने से, आत्मा को आनन्द का स्वाद आता है। उसे आत्मधर्म कहा जाता है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : शक्कर जैसा स्वाद आता है ?

उत्तर : शक्कर जैसा मीठा कहाँ, धूल है। मीठा तो जड़ है, ऐसा कहते हैं। आत्मा का स्वाद शक्कर जैसा मीठा होगा न ? शक्कर तो जड़ मिट्टी धूल है और इसे (आत्मा को) शक्कर का स्वाद आता है ? यह शक्कर तो जड़ है, मीठी अवस्था तो मिट्टी है, इसके ख्याल में आता है कि यह मीठी है, बस ! इतना। मीठा होकर मीठे को नहीं जानता, ध्यान रखना। शक्कर मीठी है न ? मीठी तो जड़ की अवस्था, मिट्टी-धूल की है, यह जाने कि यह मीठा, यह आत्मा मीठा होकर मीठे को जानता है ? आत्मा ज्ञान में रहकर मीठे को भिन्नरूप से यह मीठा है – ऐसा जानता है। मीठा होकर जाने तो आत्मा जड़ हो जायेगा। आहा...हा... ! ऐसा समझना पड़ेगा ? कल्याणजीभाई ! बहियों के लिए, नामे के लिए कितना समझना पड़ता होगा ? है ? बनिये तो चक्रवृत्ती ब्याज निकालते हैं, दस लाख दिये हों, चार आने के हिसाब से, अभी तो महँगा हो गया है पहले की बात है। दस लाख दिये हों, चार आने के हिसाब से तो एक दिन का ब्याज निकालते हैं और ब्याज मिलाकर फिर वापस चार आने का दूसरा दिन का निकालते हैं। उसका ब्याज मिलाकर, चार आने का दूसरे दिन का

मिलाते हैं। वह चक्रवृत्ती ब्याज कहलाता है, वहाँ धूल में यह चक्रवृत्ती ब्याज निकालता है। कामदार! वहाँ कामदारपना निकालता है। है? कहते हैं बापू! इसमें तो थोड़ा कामदार हो।

तेरे स्वरूप में बापू! आनन्द है। जैसे पर के स्वाद में तुझे ज्ञान होता है, ज्ञान होता है कि यह कड़वा है। वह आत्मा कड़वा होकर कड़वे को नहीं जानता; कड़वा तो जड़ है, कड़वा होकर कड़वे को जाने तो आत्मा जड़ हो जाएगा। मीठा होकर आत्मा मीठे को जाने तो आत्मा जड़ हो जाएगा। नमक का खारा स्वाद, वह खारा होकर खारे को जाने तो आत्मा खारा-जड़ हो जाएगा। उसे जानने से ख्याल में आता है कि यह कड़वा है, खारा है, बस इतना! इसी प्रकार भगवान आत्मा को जानने से उसमें वह भिन्न होकर जानता है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप को एकमेक अभेद होकर आत्मा को जाने, पूर्व के तीन दृष्टान्तों में से इतना अन्तर है। समझ में आया? यह खारा मुँह नहीं कहते? खारा मुँह हो गया, चरपरा मुँह हो गया, तो क्या आत्मा चरपरा होता होगा? चरपरी अवस्था तो जड़ की, मिट्टी -धूल की है। आत्मा जड़रूप होगा? वह तो ज्ञान जानता है कि यह चरपरा है, इतना। चरपरे को भिन्न रखकर जानता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने आनन्द को भिन्न रखकर जानता है – ऐसा नहीं है। आनन्द को भिन्न रखकर विकार का वेदन करता है, वह अनादि का मूढ़ है। आत्मा के आनन्द को भिन्न रखकर विकार का वेदन करता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। उससे रहित आत्मा के आनन्द में एकाकार होकर आनन्द का वेदन करे, उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और धर्म कहा जाता है। उसे संवर, निर्जरा और मोक्ष का उपाय कहा जाता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल २, बुधवार, दिनाङ्क २०-०७-१९६६
गाथा ९३ से ९४ प्रवचन नं. ३९

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ९३॥

यहाँ तो आत्मा अपने आनन्दस्वभाव को जानकर बारम्बार आनन्द का अनुभव करता है, वह कर्म का क्षय करके निर्वाण प्राप्त करता है – इतने भाव रखे हैं। समझ में आया? कल थोड़ी बात अन्तिम आ गयी थी। जैसे शक्कर खाने से मीठेपन का स्वाद आता है, नीम खाने से कड़वेपन का स्वाद आता है और नमक खाने से खारेपन का स्वाद आता है; इसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय शान्तस्वरूप की दृष्टि और अनुभव करने से आत्मा के आनन्द का स्वाद आवे, तब से उसे निर्जरा शुरु होती है। कहो, समझ में आया?

किसी भी पदार्थ का स्वभाव हो, उस स्वभाव का उसे अनुभव – स्वाद आये न? ऐसे ही आत्मपदार्थ है, वस्तु है, उसमें उसका अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्तरस स्वभाव है। चारित्र और आनन्द ऐसे दो लिए समझ में आया? उसके स्वभाव की रुचि और सन्मुखता होकर उसका ज्ञान (होता है) और उस स्वभाव की रुचि का परिणमन होना, उसका अनुभव (होना) उस अनुभव में चैतन्य के आनन्द का स्वाद आये बिना नहीं रहता। स्वाद आये उसे अनुभव धर्म कहते हैं, उसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं, उसे कर्म की निर्जरा कहते हैं। कहो, इसमें समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा के शुद्धस्वभाव में रमणता करने से आत्मानन्द का स्वाद आता है। उस समय कर्म की स्थिति घटती है – ऐसी सब बात की है। **जब आस्रव कम और निर्जरा अधिक हो, तब मोक्षमार्ग का साधन होता है।** क्या कहते हैं? जब आत्मा

में शुद्धपने के भान की दृष्टि में जब तक उसे स्थिरता पूर्ण न हो तो अस्थिरता का आस्रव थोड़ा आता है, आस्रव थोड़ा आवे और निर्जरा बढ़ जाए – ऐसे साधक जीव को धर्म होता है। समझ में आया ? आस्रव थोड़ा हो जाए, क्योंकि आत्मा की दृष्टि, शुद्ध रुचि हुई और स्वरूप में किसी भी स्वाद की अधिकता हुई, इतना निर्जरा का भाव बढ़ गया; इसलिए उसे मिथ्यात्व का आस्रव तो हट गया, थोड़ा अव्रत या कषाय का थोड़ा भाग बाकी रहे तो आस्रव थोड़ा और निर्जरा अधिक (होती है)। समझ में आया ?

आस्रव थोड़ा और निर्जरा अधिक... यह व्याख्या... अकेला जहाँ मिथ्यात्वभाव, अव्रत, प्रमाद अकेला आस्रवभाव है, वहाँ तो अकेला बन्धभाव, अधर्मभाव है परन्तु जब आत्मा शुद्ध आनन्द और शान्तस्वरूप आत्मा में आनन्द है – ऐसी रुचि से आकर्षित हुआ, इस कारण उसमें बारम्बार झुकाव करके स्वाद के अनुभव में वृद्धि करे इतनी उसे निर्जरा बढ़ी और उसे आस्रव थोड़ा हुआ। आस्रव थोड़ा और निर्जरा अधिक, इसका नाम साधक जीव की दशा है। अकेला आस्रव वह मिथ्यादृष्टि की दशा (है); बिलकुल आस्रव नहीं और पूर्ण निर्मलता, यह अरिहन्त की दशा है। समझ में आया ?

कहते हैं, अन्तिम लाईन है, बीच में सब छोड़ दिया। जब आस्रव – कर्म आने के कारण घटे, क्योंकि कर्मरहित आत्मा और पुण्य-पाप के विकार के भावरहित आत्मा – ऐसे आत्मा का आश्रय लेकर और दर्शन-ज्ञान तथा शुद्धि प्रगट हुई तो निर्जरा बढ़ गयी। समझ में आया ? और मिथ्यात्व का आस्रव मिट गया। कदाचित् चौथे गुणस्थान में हो तो भी अव्रत, प्रमाद, कषाय का आस्रव निर्जरा की अपेक्षा आस्रव थोड़ा है। समझ में आया ?

सच्चे सुख का भोग सम्यग्दृष्टि को भले प्रकार आत्मा के सन्मुख होने से होता है। सच्चे सुख का भोग आत्मा के सन्मुख होने से होता है। विकार, हर्ष-शोक, शुभ-अशुभभाव का अकेला अनुभव अथवा कर्मचेतना का अकेला अनुभव और कर्मफलचेतना का अकेला अनुभव, वह अधर्मदशा है और आत्मा चैतन्य ज्ञायकस्वरूप के सन्मुख की रुचि-दृष्टि, ज्ञान हुआ, उसे ज्ञानचेतना जगी अर्थात् उसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना बहुत अल्प रही और वस्तु के स्वभावसन्मुख में आत्मा के आनन्द सन्मुख में आनन्द (बढ़ गया)। क्या कहा ?

सच्चे सुख का भोग सम्यग्दृष्टि को भले प्रकार आत्मा के सन्मुख होने से होता है। आत्मा आनन्द और शान्त... शान्त शब्द से चारित्र (और) आनन्द शब्द से सुख – ऐसा शान्त और आनन्दस्वरूप का प्रभु पिण्ड, उसकी दृष्टि सम्यक् और रुचि-परिणति तथा ज्ञान होने से उसे निर्जरा अधिक है, इससे आत्मा के अनुभव का भोग अधिक है। ज्ञानचेतना का भोग अधिक है। मिथ्यादृष्टि में अकेले राग-द्वेष की कर्मचेतना और हर्ष -शोक के वेदन की अकेली दशा थी, वह बाधकदशा थी। मिथ्यादृष्टि को धर्म का साधकपना वहाँ नहीं होता। अब जहाँ साधकपना प्रगट हुआ, वहाँ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की – आत्मा की दृष्टि का, आत्मसन्मुख का आनन्द का भोग आंशिक प्रगट हुआ, वहाँ निर्जरा बढ़ी और आस्रव घटा। कुछ समझ में आया? इस कारण उसे साधकपना प्रगट हुआ। बिल्कुल आस्रव न हो और अकेली शुद्धि प्रगट हो जाये, वह तो अरहन्तदशा हुई। अकेला आस्रवभाव आवे और बिल्कुल धर्म-सन्मुख साधन नहीं, वह अधर्मदशा (हुई)।

अब, साधक की मिश्रदशा (हुई)। जहाँ आत्मा शुद्ध चैतन्य की, आनन्द की लालच लगी है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द अधिक है, वह जगत् के किसी भी सुख में नहीं है – ऐसी दृष्टि जहाँ आत्मा के आनन्द की सम्यग्दृष्टि हुई, उसे आस्रव थोड़ा और निर्जरा बहुत (होती है)। कर्मचेतना थोड़ी, कर्मफलचेतना थोड़ी, और ज्ञानचेतना अधिक – ऐसी साधकदशा को धर्मदशा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

इस सच्चे सुख का भोग सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सन्मुख होने से होता है। इन्द्रियों का सुख, इन्द्र का सुख, भोग का सुख – यह सब रागवाला आकुलता का सुख, दुःख है। वह तो मूढ़दृष्टि के कारण चैतन्य के आनन्द के स्वाद के बेभान के कारण वह सुख – कल्पना, इन्द्र का और चक्रवर्ती के भोग में सुखबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि की बुद्धि है। समझ में आया? धर्मी की दृष्टि में सुखबुद्धि आत्मा में है, इस कारण आत्मसन्मुख की दृष्टि में उसे आत्मा का भोग विशेष हो गया है; इस कारण आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है। आहा...हा...! अकेला राग-द्वेष और पुण्य-पाप का ध्यान तो अधर्मध्यान है; अधर्मध्यान है। जबकि भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूप, उसकी पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, चैतन्यतत्त्व

के सन्मुख दृष्टि हुई, वहाँ धर्मध्यान हुआ। पहले अधर्मध्यान था, वह स्वभावसन्मुख की दृष्टि ज्ञान होने से धर्मध्यान हुआ। यह लोग कहते हैं, धर्मध्यान अर्थात् शुभभाव, वह नहीं। स्वभावसन्मुख की जितनी एकता हुई उसे धर्मध्यान कहते हैं। उग्ररूप से एकता को शुक्लध्यान कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

आज बड़ा लेख आया है। यह दो मत हैं। कितने ही कहते हैं कि निश्चय धर्म है तो कितने ही कहते हैं व्यवहार धर्म है। बहुत आधार दिये हैं। यह पंचास्तिकाय में ऐसा कहा है कि तीर्थंकर की रुचि करे, उनके आगम की रुचि करे तो पुण्य बाँधे, मोक्ष नहीं होता। पण्डितजी ! पीछे आता है न ? पंचास्तिकाय में पीछे (आता है)। ऐसे-ऐसे बोल भी डाले हैं और परमात्मप्रकाश में, योगसार में ऐसा लिखा है कि तीर्थधाम मन्दिर में देव नहीं, देव तो यहाँ (देह-देवल में) है। 'मूर्ख भ्रमे बहु स्थान' यह तो निश्चय की बात हुई, अब इसका करना क्या ? ऐसे निश्चय के बहुत बोल रखे हैं तो अब उसमें सच्चा मत किसका ? निश्चय के इतने धर्म हैं (ऐसा लिखा है)। 'जैनदर्शन' (तात्कालिक समाचार पत्रिका) आता है न ? कोई इन्दौर का दौलतराम है न ? इन्दौर में कोई दौलतराम है ? दिगम्बर है ? ऐसा ! बहुत में लिखता है। निश्चय के तो ऐसे बोल आते हैं।

कर्म का क्षय, आत्मा के ध्यान से कर्म टूटते हैं, कर्म तड़तड़ होते हैं और परमात्मप्रकाश में शिष्य पूछता है कि महाराज ! दूसरी सब बातें छोड़ दो, हमारे कर्म कैसे टूटे और आत्मा कैसे प्राप्त हो ? – वह उपदेश दो। अब ऐसी बात आवे तब परमात्मप्रकाश में, समाधिशतक में – दूसरे को उपदेश देना भी उन्माद है, दूसरे को समझाऊँ यह उन्माद है, ऐसा सब रखा है। तो अब क्या करना अभी ? इसलिए अभी अपने रतनचन्दजी मुख्तार कहते हैं ऐसा करना कि अभी निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है... पण्डितजी ! अभी व्यवहार उपदेश देना क्योंकि पंचम काल में निश्चय मोक्षमार्ग नहीं होता, क्षपकश्रेणी चढ़े, तब (होता है) इसलिए अभी व्यवहार कहना। मन्दिर बनाओ, दर्शन करो, व्रत करो, यह व्यवहार करो.... बड़ा लेख आया है। सच्चा कौन ? दो में से सच्चा कौन ?

लिखा है 'दौलतराम' मित्र, जूना पीठा, इन्दौर.... शास्त्री उपदेश के विषय में दो प्रकार के लोकमत। सच्ची धारणा कौन सी ? सच्ची धारणा यह कि वर्तमान व्यवहार का

उपदेश देना, जो रतनचन्दजी कहते हैं, यह सच्ची धारणा.... निश्चय के बहुत बोल लिखे हैं, हाँ! सब चला अवश्य, अन्दर गड़बड़, गड़बड़। शास्त्र में तो ऐसा कहते हैं कि महाराज! मुझे जन्म-मरण मिटे वह उपदेश दो, मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। क्यों लेट होना? क्या हुआ?

मुमुक्षु – संसारिक है?

उत्तर – संसारिक है। भटकने का है। दु:खी होने का है। कहो, इसमें कुछ समझ में आया? आहा...हा...!

कहते हैं यह आत्मा.... आत्मा वस्तु अखण्डानन्द प्रभु के सन्मुख में जो दृष्टि, ज्ञान और रमणता हुई, उतना भगवान ने धर्म कहा है। उसे निर्जरा अधिक हो जाती है, आस्रव थोड़ा रहता है। पूर्ण वीतराग न हो, तब तक थोड़ा आस्रव रहता है। अज्ञानी को तो अकेला आस्रव ही है क्योंकि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय इनमें से एक भी नहीं मिटा है। वह पूरा आस्रव है। भगवान अरिहन्त तो कोई आस्रव नहीं है, ईर्यापथ आस्रव एक समय का, वह कोई आस्रव नहीं है। वे पूर्ण अनास्रवी, पूर्ण अनन्त ज्ञानादि को प्राप्त हुए हैं। अब धर्मी जो साधक है, उसे आत्मा के सन्मुख की दृष्टि हुई है, इसलिए आत्मा के आनन्द के अंश का अनुभव है, उसे ज्ञानचेतना अन्दर में प्रगट हुई है, इसलिए संवर और निर्जरा विशेष है, उसे थोड़ा-सा आस्रव है। कहो, समझ में आया? आहा...हा...!

इसलिए आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है। राग और पुण्य का ध्यान, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; बीच में आस्रव हो, पुण्य-पाप परिणाम (हों) परन्तु वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो मोक्षस्वरूप जो भगवान आत्मा, विकार और कर्म तथा शरीर से रहित स्वरूप – ऐसा मोक्षतत्त्वस्वरूप, निश्चयमोक्षस्वरूप-शक्ति, उसकी दृष्टि करने से मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है और पुण्य-पाप तथा राग-द्वेष तो बन्ध का लक्षण है, वे तो बन्धस्वरूप है; इसलिए बन्ध के लक्ष्य से, बन्ध के स्वरूप से – आश्रय से कभी छूटने का मार्ग प्रगट नहीं होता। समझ में आया? आहा...हा...! सीधी सरल (बात है) परन्तु इसने कभी अनन्त काल में यह प्रभु के पास रहा, यह पास रहा परन्तु इसने सन्मुख नहीं देखा। आहा...हा...! ऐसे (बाहर) ही देखा किया है और उसमें से कुछ लाभ होगा, बहिर्मुखदृष्टि

से लाभ होगा, ऐसा ही इसने अन्तर्मुख भगवान आत्मा को दृष्टि में से ओझल कर दिया है। है? आहा...हा...!

भगवान पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा, जिसका सर्वज्ञ भी पूरा कथन कहने पर वाणी में न आवे – ऐसा आत्मा है। 'जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में, कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।' 'जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में, कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।' गोम्मटसार में आता है कि भगवान ने जाना, वे अनन्तवाँ भाग कह सके। आहा...हा...! 'उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?' केवली परमात्मा पूर्णानन्द का नाथ जहाँ पूर्ण मुक्ति हो गयी, भाव मुक्ति (हो गयी), भले चार (अघातिकर्म) बाकी रह गये, उसका कुछ नहीं। भाव मुक्ति हो गयी। वे भी भगवान आत्मा की जात-भात की बात पूरी नहीं कह सकते तो 'उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे? अनुभव गोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब, अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आएगा?' श्रीमद् राजचन्द्र तीस वर्ष में भावना करते हैं। आत्मदृष्टि होने के बाद की बात है, हाँ! ओ...हो...! ऐसा भगवान आत्मा कहाँ पुण्य और पाप के विकल्प के आस्रव से जीवतत्त्व भिन्न, अरे...! उसका भान हुआ, कहते हैं कि यह बातें अनुभवगम्य हो गयीं, अनुभवगम्य! गूँगे का गुड़, गूँगा गुड़ कैसा? ऐसा भगवान आत्मा, उसका अनुभव हुआ, उसका ध्यान (हुआ) वह एक ही मोक्ष का मार्ग है।

आत्मध्यानी ही गुणस्थानों की श्रेणी चढ़ सकता है। देखो, क्या कहते हैं? चौथे गुणस्थान में, पाँचवें में, सातवें में, और फिर छठवें में आता है, यह गुणश्रेणी की श्रेणी आत्मध्यानी कर सकता है। राग के विकल्प में अटका हुआ गुणस्थान की श्रेणी बढ़ा नहीं सकता। समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्णानन्द शान्तस्वरूप महापिण्ड चैतन्य, चैतन्य पिण्ड, चैतन्यदल, चैतन्य नूर, चैतन्य पूर – ऐसा पूर्णानन्द प्रभु, कहते हैं, उसकी दृष्टि, उसका ध्यान – एकाग्रता द्वारा गुणस्थान की श्रेणी बढ़ती है। राग के अवलम्बन से, पुण्य से अवलम्बन से कहीं गुणश्रेणी की धारा बढ़ती नहीं है। चैतन्य के एकाग्रता की धारा से गुणस्थान धारा बढ़ती है। आहा...हा...! समझ में आया? वस्तु पूर्णानन्दस्वरूप – ऐसा आत्मा उसमें आरूढ़ होने से गुणधारा, गुणश्रेणी, गुणस्थान बढ़ते हैं। गुणधारा, गुणश्रेणी

कहो या गुणस्थान (कहो) । इसके अतिरिक्त किसी राग, पुण्य और निमित्त के आश्रय से गुणस्थान की धारा बढ़ती नहीं है । आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आया ?

मुमुक्षु को एक आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए। फिर निर्विकल्प की थोड़ी बात की है। **निश्चयनय त्रिकाल शुद्ध आत्मा का दर्शन कराता है।** निश्चयनय तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध है – ऐसा दर्शन कराता है। व्यवहारनय तो भेद और राग का दर्शन कराता है। आहा...हा... ! अभी डाला है इन्होंने, भाई ! सातवीं गाथा आती है न।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७॥

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं न ? दो मत में से अभी व्यवहार का उपदेश देना, यह सच्चा मत है। यह भगवान ने कहा है और यह निषेध है, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अर्थ किया यह अभी सच्चा नहीं (– ऐसा मानते हैं) । अरे ! भगवान ! परन्तु यह क्या हुआ ? समझ में आया कुछ ? '**ण वि होदि अप्पमत्तो**' जहाँ छठवें में पुण्य-पाप के विकल्प का भेद निकाल दिया, असद्भूत व्यवहार के उपचार और अनुपचार के भेद निकाल दिए और पर का ज्ञान उपचार है, उसे निकाल दिया। सातवीं (गाथा में) गुण-गुणी का भेद है, वह निकाल दिया अर्थात् सद्भूत अनुपचार निकाल दिया। अकेला ज्ञायकभाव है, उसमें यह भेद नहीं है। भेद डालना, यह विकल्प का कारण, यह बन्ध का कारण है; इसलिए यह मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा वहाँ सिद्ध करना है। अकेला भगवान ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक – ऐसा विकल्प नहीं, हाँ ! यह तो समझाने में क्या आये ? अकेला चैतन्य, भेद जो पुण्य-पाप के अचेतन, विकल्प, जड़ अर्थात् चैतन्य के नूररहित, उनसे भिन्न पड़ा हुआ चैतन्य, अकेला ज्ञान का परिणमन, ज्ञायकभाव से करे और उस परिणमन में ज्ञायकभाव शुद्ध जो दृष्टि में आवे, उसे धर्मदृष्टि कहते हैं। आहा...हा... ! अब इस दृष्टि के बिना व्यवहार अभी कहो, पंचम काल में निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है (– ऐसा कहते हैं) । भगवान तूने गजब किया है, आहा...हा... ! परन्तु निश्चय के बिना व्यवहार होता ही नहीं, स्व आश्रय से निश्चय प्रगट हुआ, तब पराश्रित

कुछ राग बाकी रह गया, उसे व्यवहार कहते हैं। अकेला पराश्रयभाव हो, उसे मिथ्यादृष्टि और अधर्म कहते हैं, और अकेला स्वाश्रय पूर्ण प्रगट हो गया, वह केवलज्ञानी हो गया और स्व आश्रय की दृष्टि, ज्ञान से आश्रय शुरु हुआ है परन्तु पूर्ण स्व आश्रय अभी नहीं हुआ, उसमें शुभ रागादिक पराश्रय अभी बाकी रह गया, उसे व्यवहार कहते हैं। वस्तु की यह स्थिति है। समझ में आया? अब उसे कहते हैं कि अभी व्यवहारमोक्षमार्ग कहो, अभी निश्चय नहीं, निश्चय तो आठवें गुणस्थान से आएगा... अरे भगवान!

मुमुक्षु – गुणस्थान तो पहला छोड़ना पड़ेगा।

उत्तर – गुणस्थान किसका छोड़ेगा? व्यवहार की दृष्टिवाले को तीन काल में गुणस्थान बदलता ही नहीं। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं कि **निश्चयनय त्रिकाल शुद्धात्मा का दर्शन कराता है।** अभेद, अभेद... भेद है, वह तो विकल्प है। विकल्प से धर्म की शुरुआत होती है? समझ में आया? फिर बहुत लम्बी बात की है। **निश्चय धर्म को उपादान साधन और व्यवहार को निमित्त साधन जानना।** भगवान आत्मा...! अरे...! अपने स्वरूप का आश्रय होना, यह तो कोई बात है! अनन्त काल में इसने आश्रय लिया ही नहीं, स्वयं अनन्त काल से बाहर ही धक्के मारे हैं, बहिर्बुद्धि, उसका नाम बहिर्बुद्धि है, इसका नाम ही बहिरात्मा है, इसका नाम बहिरात्मा है। अन्तरात्मा ज्ञानस्वरूप में दृष्टि देने से अभी परमात्मा भले ही नहीं हुआ परन्तु परमात्मा मेरा स्वरूप है – ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ अन्तरात्मा हुआ। समझ में आया? और मैं पुण्य तथा पाप और राग व दया, दान, व्रतवाला हूँ, वह तो अभी मिथ्यादृष्टि है, अधर्मी, अज्ञानी है। वह तो बहिर्बुद्धि, बहिरात्मा है। बहिर (अर्थात्) जिसके स्वभाव में नहीं – ऐसे विकल्प को अपना स्वरूप मानकर वहाँ अटका है, वह तो बहिरात्मा है। आहा...हा...! सीधी बात है। भगवान सीधा सरल चिदानन्द पड़ा है। सत् सरल है, सत् सर्वत्र है, सत् सुगम है परन्तु इसने उसे दुर्लभ कर डाला है कि उसकी बात सुनना इसे (नहीं रुचती है)। निश्चय नहीं... निश्चय नहीं... निश्चय नहीं... निश्चय अर्थात् सत्य नहीं; व्यवहार अर्थात् आरोपित, वह सच्चा... आहा...हा...!

यह जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया? जैन

अर्थात् पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अपना आश्रय लेकर पराश्रय अज्ञान और राग-द्वेष का अभाव करे, उसे जैन कहा जाता है। यह तो वस्तु की स्थिति है, इसमें परमेश्वर ने कोई नया धर्म नहीं किया। इतने ही ऐसा कहते हैं कि भगवान ने तो सबके अनेकान्तनय लेकर धर्म कहा, ऐसा होगा ?

मुमुक्षु – सबका समन्वय करते हैं।

उत्तर – धूल भी नहीं किया। वस्तु ऐसी है। सबके नय लेकर अनेकान्त मार्ग सब इकट्ठा करके, कहा ? भगवान के ज्ञान में पहले से नहीं आया कि ऐसा आत्मा पूर्णानन्द अखण्ड अभेद है और दूसरों के नय इकट्ठे करके कहा। ऐसे के ऐसे... समझ में आया ?

आत्मा एक समय में पूर्ण अखण्ड आनन्दकन्द ध्रुवस्वभाव अनन्त गुण का पिण्ड है। पर्याय का परिणमन, द्रव्य का ध्रुवपना – ऐसा उसका स्वरूप ही है। ऐसा स्वरूप भगवान ने तो पूर्व में सम्यग्दर्शन, ज्ञान में जाना था। जन्मे तब तो तीन ज्ञान लेकर आये थे, फिर जगत के नय इकट्ठे करके कहा – ऐसा कहाँ था ? आहा...हा... ! कितने ही पण्डित इस पुस्तक में लिखते हैं, बहुत मतों के नय थे, उन्हें भगवान ने इकट्ठा किया। अरे... ! भगवान ! तू क्या कहता है ?

मुमुक्षु – समन्वय करने को।

उत्तर – किसके साथ समन्वय होगा ? धूल के साथ ?

यह तो अखण्ड प्रभु एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड.... अनन्त गुण वे कितने ? आकाश के प्रदेश से अनन्त गुणे... लाओ तो सही बात। ऐसा न हो तो यह चीज ही न हो। महा पदार्थ, महा प्रभु, असंख्य प्रदेश में अनन्त-अनन्त गुण व्याप्त हैं। स्वभाव की मूर्ति उसे क्या कहना! अरूपी स्वभाव का दल-पिण्ड, चित्पिण्ड, चित्घन, आनन्दघन, ज्ञानघन – ऐसा शास्त्र में कहा है न ? विज्ञानघन... आहा...हा... ! ऐसा भगवान जिसमें आकाश के प्रदेश के अमाप... अमाप... अमाप... फिर कहाँ माप ? ऐसे अमाप का अन्त नहीं, उसके प्रदेशों की संख्या से ही भगवान असंख्य प्रदेश में रहा, (आकाश के प्रदेशों से) अनन्त-अनन्त गुणे गुण उसमें है, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों का जहाँ आश्रय लिया,

वहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान का अनुभव हुआ, उसे आस्रव बहुत ही घट गया; संवर-निर्जरा बढ़ गयी। समझ में आया?

अनन्तानन्त गुणस्वरूप भगवान की जहाँ अन्तरदृष्टि, अनुभव और सम्यक् हुआ, तब किसी गुण की, कितने ही गुण की, किंचित विपरीत अवस्था थोड़ी रही, वह तो अल्प रही है। अल्प बन्धन और अल्प आस्रव है और अनन्तानन्त गुण का जहाँ आदर होकर अनन्त-अनन्त गुण की पर्याय की व्यक्तता निर्मल सम्यग्दर्शन होने पर हुई, (वहाँ) निर्जरा अधिक हो गयी है, आस्रव घट गया है। निश्चय के कथन में तो सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है – ऐसा भी कहा जाता है क्योंकि स्वभाव में नहीं है, उसकी दृष्टि में नहीं है। बन्ध का भाव बन्ध के कारण में डाल दिया है, ज्ञेय में (डाल दिया), परन्तु कदाचित् उसकी पर्याय में मन्दता है क्योंकि पूर्ण अनन्त गुणों की पूर्ण निर्मल व्यक्तदशा नहीं हुई, इसलिए उसे अल्प रागादिक है परन्तु वह आस्रव बहुत थोड़ा है और मोक्षमार्ग तो अन्दर बढ़ गया, अधिक (हो गया है)। आत्मा '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' राग से, निमित्त से, भेद से भिन्न करके अधिक आत्मा की जहाँ दृष्टि हुई, उसे मोक्षमार्ग हाथ में आ गया। आहा...हा...! परन्तु यह वस्तु का जोर है, भाई! दृष्टि तो कर उसकी न! ऐसा आत्मा है। भाई! आत्मा अर्थात् क्या? साक्षात् परमात्मस्वरूप, द्रव्यस्वरूप अर्थात् साक्षात् शक्तिस्वभाव गुण परमात्मरूप। समझ में आया?

कहते हैं कि उसमें जहाँ एकाग्र हो तो उसे उपादान का साधन बढ़ गया है और किंचित राग बाकी रहा है तो उसे निमित्तरूप कहा जाता है परन्तु शुद्ध उपादान अन्तर अनन्त गुणों का पिण्ड, उसका जहाँ साधन एकाग्र होकर हुआ, वह शुद्ध उपादान साधन निश्चय है। देव-शास्त्र-गुरु आदि का राग किंचित् बाकी रहा, उसे व्यवहार निमित्त साधन का आरोप करके साधन कहा है; वस्तुत: तो वह बाधक है। समझ में आया? परन्तु उस गुणस्थान के योग्य, ऐसे ही सच्चे देव, ऐसे ही सच्चे गुरु, ऐसे ही सच्चे शास्त्र का उसे उस प्रकार का शुभराग होता है; दूसरा कुदेव, कुगुरु का नहीं होता और उस छठे गुणस्थानादि में राग की मन्दता इतनी होती है कि पंच महाव्रत के परिणाम में वस्त्र-पात्र ग्रहण की वृत्ति नहीं होती – ऐसे कषाय की मन्दता की योग्यता व्यवहार से निमित्त की अनुकूलता

देखकर व्यवहार साधन का आरोप किया है। समझ में आया ? यह वस्तुस्थिति तीन काल में बदले ऐसी नहीं है। समझ में आया ? अत: पहले इसे निश्चय का आश्रय करना चाहिए।

जो कोई निर्वाण का लक्ष्य रखकर समसुख को भोगता हुआ.... निर्वाण – मुक्ति पूर्ण आनन्द की प्राप्ति बिना मैं अतृप्त हूँ, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति बिना मैं अतृप्त हूँ – ऐसा धर्मी जानता है। समझ में आया ? यहाँ पेट पूरा न भरे, तब तक ऐसा कहते हैं न कि मेरा पेट भरा नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं है, तब तक अतृप्त है; इसलिए जिसे पूर्ण आनन्द की छटपटाहट है – ऐसे निर्वाण का लक्ष्य रखकर **समसुख को भोगता हुआ आत्मानुभव का अभ्यास करे वह शीघ्र निर्वाण का प्राप्ति करेगा।** यह गाथा का अर्थ हुआ।

फिर समयसार कलश की बात थोड़ी डाली है। **ज्ञानचेतना के अथवा आत्मानुभूति के आनन्दसहित केलि कराना, कर्म करने के प्रपंच से और कर्मफल से निरन्तर विरक्तभाव की सम्यक् प्रकार से भावना भाना।** सम्यग्दृष्टि, पुण्य-पाप के परिणाम यह कर्मचेतना है और उसके हर्ष-शोक से उसे भोगना वह कर्मफलचेतना है। उनसे रहित भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध है, उसकी चेतना को नचाये, ज्ञानचेतना को नचाये; कर्म और कर्मफलचेतना को हेय करके छोड़े। समझ में आया ?

इसमें पूरा माल पड़ा है, उसके सम्मुख नजर करने का इसे समय नहीं मिलता और जिसमें कुछ नहीं – पुण्य-पाप के विकल्प और निमित्त में कुछ तेरा तत्त्व नहीं, तेरा सत्त्व या तत्त्व उसमें कुछ नहीं, उसमें लगा है और उसी में इसे सर्वस्व लगता है। बस! यह, सब! यह, व्यवहार करो, व्यवहार करो, परन्तु व्यवहार करो अर्थात् अधर्म करो – इसका अर्थ (हुआ)। अरे... भगवान! क्या कहते हैं ? समझ में आया ?

अनादिरूढ़ व्यवहार मूढ़ है। (समयसार) ४१३ गाथा में भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है। अनादि के राग को तू व्यवहार कहने जा तो वह तो व्यवहार मूढ़ है, निश्चय में अनारूढ़ है। अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़, निश्चय में अनारूढ़ – ऐसे तीन शब्द प्रयोग किये हैं। (समयसार) ४१३ गाथा। ४१३ गाथा है न ? ४१३ बहुत बार कही गयी है। एक की एक बात बहुत बार (कही गयी है)। वहाँ आगे इसमें से भी विवाद उठा है न!

'यशोविजय' ऐसा कि व्यवहार से धर्म कहता है, वह तो मूढ़ है। उन्हें ऐसा लगा कि अरे! हमारे यशोविजय को मूढ़ कहते हैं। ऐसा आया था। बाहर से आया था।

४१३ में है, देखो! **जो वास्तव में 'श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक हूँ'** व्यवहारलिंग, व्यवहारव्रतादि में मानते हैं वे **मिथ्यात्व अहंकार कर रहे हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ़....** ज्ञानी हैं, वे व्यवहार में मूढ़ नहीं हैं, व्यवहार के ज्ञाता हैं। समझ में आया? जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह बारहवीं गाथा है। यह सब एक ही शैली रची है। वस्तु की स्थिति (ऐसी की) निश्चय का भान हुआ, तब राग बाकी रह गया, शुद्धता अल्प है, उसका ज्ञान करना वह व्यवहार है परन्तु ऐसा निश्चय हो तब व्यवहार (कहलाये) न? वरना यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि व्यवहारमूढ़ है, अकेली मन्दराग की क्रिया को तू धर्म की शुरुआत कहना चाहे और धर्म है (– ऐसा कहे) तो अनादिरूढ़ भाव, यह तो अनादि से चला आया है। मन्द-तीव्र.... मन्द-तीव्र.... मन्द -तीव्र.... अनादि का है, उसमें तू मन्द को, व्यवहार करनेवाला जगे बिना उसे व्यवहार कहेगा कौन? अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़... उसे मूढ़ कहा है। ज्ञानी को व्यवहार में मूढ़ नहीं कहा, व्यवहार का जाननेवाला कहा है। चैतन्य शुद्ध भगवान आत्मा का भान हुआ, (तब) व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा – ऐसा भाव होता है, उसे जानता है, वह मूढ़ नहीं है और यह जो अकेला व्यवहार है, निश्चय के भान बिना, उसे मूढ़ कहा है। क्यों? कि **प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़....** राग से, व्यवहार से भिन्न कराकर आत्मा की दृष्टि और आश्रय करना – ऐसा प्रौढ़ निश्चय विवेक अनारूढ़ है। निश्चय में अनारूढ़ है, (वैसे) व्यवहार को व्यवहार का ज्ञान करनेवाला जगे बिना व्यवहार नहीं कहा जाता। ४१३ में ऐसा कहते हैं।

अब यह कहता है अकेला व्यवहार करो, व्यवहार करो – ऐसा बड़ा लेख दिया है। ठीक! (ऐसा लेख है कि) दो मत है परन्तु सच्चा मत किसका? लो, ठीक! सच्चा मत यह 'रतनचन्दजी' का। वे कहते हैं किसी दूसरे का नहीं, अभी के किसी पण्डित का भी नहीं, यह आचार्य इतना कहते हैं उनका भी नहीं, दो मत हैं। एक कहते हैं कि आत्मा में देव है दूसरा कहता है कि भगवान में देव है। तब रतनचन्दजी कहते हैं, भगवान के मन्दिर

में दर्शन करने से निद्यत और निकाचित कर्म छूट जाते हैं – ऐसा धवल के पहले भाग में है। ऐसा करके आधार दिया है। अरे... ! यह तो आत्मा के दर्शन से (कर्म) टूटे, तब निमित्त से कथन कहा जाता है। वह ऐसा कहते हैं तब परमात्मप्रकाश में कहते हैं कि आत्मा देव, भगवान यहाँ देह में विराजमान हैं, वहाँ देव मानेंगा तो मूढ़ है। वह तो व्यवहार स्थापना है। समझ में आया ? वह तो शुभभाव का निमित्त है। भगवान देव तो यहाँ विराजमान है। इस देव का तुझे पता नहीं (और) तू जहाँ-तहाँ भटका करे तो मर जाएगा। 'राजा भिक्षार्थे भ्रमे ऐसी जन की टेव' बड़ा तीन लोक का नाथ जहाँ तहाँ कहे हे भगवान ! हे भगवान ! मुझे देना। वहाँ है तेरी मुक्ति ? संवर-निर्जरा वहाँ उनके पास है ? ए...ई... ! भगवान तो यहाँ है।

तुम राजुल से पूछते थे, कहाँ है तेरी गीता ? यहाँ गीता थी न, गीता से कहे गीता कहाँ है ? गीता यह रही – ऐसा कहे। जातिस्मरण हुआ है न, इनके भतीजे की लड़की यहाँ आयी थी तब पूछा था, गीता कहाँ है ? पूर्वभव में उसका नाम गीता था। यहाँ जूनागढ़ में लुहाना की लड़की (थी)। गीता कहाँ है (तो कहे) गीता यह रही, गीता यह रही। गीता का आत्मा यह रहा, मैं यह रहा। भगवान कहाँ है ? भगवान यहाँ है ? बात तो सही करना चाहिए न ? मैंने कहा गीता कहाँ है ? (तो कहा) यहाँ है। ऐसा बोली थी, हाँ ! यहाँ आठ दिन रखी थी, यहाँ चार बार आ गयी है। अभी दो सौ लड़के थे, तब भी बताने के लिए लाये थे। गीता कहाँ है ? यह रही। पूर्व भव में तेरा नाम क्या था ? गीता ! कहाँ से आयी है ? जूनागढ़ से आयी हूँ, आ रही हूँ। धीरुभाई ! तुमने वह लड़की देखी है या नहीं ? नहीं देखी ? अभी चार बार आ गयी। आहा...हा... ! मनसुखभाई ! हमारे मनसुखभाई, शाम को पूछते हैं कि ऐसा होता होगा ? परन्तु यह हुआ है न ! होता क्या होगा ? अकेले पैसे कमाने में मजदूर... मजदूर... मजदूर... बड़े। मलूकचन्दभाई ! सच्ची बात होगी ? वे शाम को पूछते थे। ऐसा होता होगा ? परन्तु यह हुआ है न ? होता होगा क्या ?

मुमुक्षु – परन्तु यह तो दूसरों को न।

उत्तर – परन्तु दूसरे को हुआ है या नहीं ? हैं ? पौने छह वर्ष, ढाई वर्ष में बोली, ढाई वर्ष में बोली, मैं जूनागढ़ से आयी हूँ, मेरा नाम गीता है, वहाँ मुझे बुखार आया था और

मैं मर गयी हूँ, सब बोली थी। स्वयं ही बोली थी परन्तु इन लोगों को विश्वास नहीं आया, दो वर्ष तक विश्वास नहीं आया। फिर यह हिम्मतभाई और सब वहाँ निर्णय कराने गये थे। हमारे हिम्मतभाई ये तो पहले वहाँ तक निर्णय किया कि यहाँ से तुझे लेंगे तो तू तेरी माँ को पहचानेगी ? तेरे पिता को पहचानेगी ? हाँ। तेरी माँ को पहचानेगी, हाँ! तेरे काका को पहचानेगी ? हाँ। तू गीता को पहचानेगी ? यह क्या पूछते हो ? गीता तो यह रही। वहाँ कहाँ गीता थी ? पण्डितजी ! ऐसा जबाव दिया। इन पण्डितजी ने जरा हाँ, हाँ (कराने को पूछ लिया)। तेरी माँ को पहचानेगी ? तेरे बापू को पहचानेगी ? तेरे काका को पहचानेगी ? वहाँ गीता को पहचानेगी ? गीता को पहचानेगी क्या कहते हो ? गीता तो यह रही। ऐसा कहा न ? भाई ! पौने छह वर्ष में (बोली), ढाई वर्ष में जातिस्मरण भव का हुआ। तुम्हें फुरसत कब (थी) ? अभी यहाँ चार दिन आ गये है। आठ-आठ दिन रहकर। वह तो बहुत बार आती है, मनसुखभाई ! कभी मुश्किल से आते हैं, किसी कारण, वह तो बहुत बार आती है। मनसुखभाई ! यह तो जगजीवनभाई उसके काका होते हैं न ! इसलिए फिर आ जाती है। कहो समझ में आया ? आहा...हा... ! कहते हैं, भाई ! प्रत्यक्ष बात है। उसमें कहते हैं, ऐसा होता होगा ? परन्तु होता है, यह हुआ है न, समझ में आया ?

इसी तरह आत्मा तीनों काल ऐसा का ऐसा भगवान तेरे समीप में विराजमान है अर्थात् कि तू स्वयं है। अरे ! तुझे देखने का अवसर तुझे नहीं, भगवान ! उसके सन्मुख की रुचि करना, यह ठीक है। वह भी अभी बैठा नहीं और यह रुचि बाहर की, पुण्य, दया, व्रत और भक्ति जो व्यवहार अनादि से बाहिरबुद्धि से और बाहर में अपनापन मानकर किया है। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानचेतना भगवान आत्मा... ! यह समयसार का श्लोक है। **ज्ञानचेतना को अथवा आत्मानुभूति को आनन्दसहित केलि कराना।** अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, भाई ! प्रभु तू रुचि तो कर, भाई ! कि भगवान आत्मा परमात्मा मैं ही हूँ, हाँ ! और इस परमात्मा का विस्तृत पर्याय में हो, वह सिद्ध है। समझ में आया ? यह परमात्मा पूर्णानन्द का प्रभु मैं स्वयं हूँ। मुझमें अपूर्णता नहीं, विपरीतता नहीं। वस्तु में अपूर्णता और विपरीतता कहाँ से आयी ? वस्तुरूप से परमानन्द के स्वभाव का पिण्ड, चिद्पिण्ड,

चिदनाथ, अखण्डानन्द भगवान, वह मैं। ऐसी अन्तर्दृष्टि कर, ज्ञानचेतना की केलि कर। राग की चेतना और कर्मफलचेतना को गौण कर डाल। समझ में आया? **सर्व काल शान्तरस का ही पान करना। यही ज्ञानी की प्रेरणा है।** लो, यह ९३ गाथा (पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

आत्मा को पुरुषाकार ध्यावे

पुरियासार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ-णिम्मल-तेय-फुरंतु॥ ९४॥

पुरुषाकार पवित्र अति, देखो आतम राम।
निर्मल तेजोमय अरु, अनन्त गुणों का धाम॥

अन्वयार्थ - **(जिय)** हे जीव! **(एहु अप्पा पुरियासार-पमाणु पवित्तु गुण -गुण-णिलउ णिम्मल तेय-फरंतु जोइज्जइ)** इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिए।

☆ ★ ☆

९४ अब जरा अन्यमती से अलग बात (करते हैं) क्योंकि पुरुषाकार आत्मा है। लोकाकाश प्रमाण, लोक प्रमाण आत्मा नहीं ऐसा बड़ा आत्मा को आकाश प्रमाण बड़ा व्यापक होगा? तुम आत्मा की बहुत महिमा करते हो, महान... महान... महान... तो वह महान सम्पूर्ण लोकालोक में व्यापक होकर महान होगा? नहीं। वह व्यापकपना क्षेत्र से उसे महानपना नहीं हो सकता। उसे भाव का महानपना है, क्षेत्र से तो शरीर प्रमाण है, इसलिए शब्द लिया है।

पुरियासार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ-णिम्मल-तेय-फुरंतु॥ ९४॥

ओ...हो...! अकेले आनन्द की जड़ पड़ी है। यह वर्षा की झड़ी आती है या नहीं? वर्षा की झड़ी आवे, वहाँ तीन-तीन दिन तक सामने देखा नहीं जाता। पहले इतनी वर्षा थी,

अब कम हो गयी है। आठ-आठ दिन। शनिवार से शुरु हो तो निश्चित होता कि (आगामी) शनिवार तक रहेगी। यहाँ तो तीन बार शनिवार से शुरु हो तो रविवार को कुछ नहीं मिले। उस समय तीन बार शनिवार से शुरु हुई। पहले ऐसा था, हाँ! पचास-साठ वर्ष पहले। यदि शनिवार से वर्षा शुरु हो तो शनिवार की आठ दिन की झड़ी हो। झड़ी अर्थात् आठ दिन तक बरसे – ऐसी पहले कहावत थी। मलूकचन्दभाई! पता है। एक बार, तीन बार शनिवार को आयी तो रविवार को कुछ नहीं मिला। शनिवार को शुरु हो तो लोग बातें करें। काल बदल गया। ए...ई...!

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! **इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण....** यह महा-सिद्धान्त है। पहले ९३वें गाथा तक इतनी महिमा की, तब (किसी को लगे कि) इतना महान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त-अनन्त गुण, तो यह बड़ा तो कितना (बड़ा) क्षेत्र से होगा? बापू! क्षेत्र से बड़ा (होवे उसकी) महिमा नहीं है; क्षेत्र से तो शरीर प्रमाण ही है। उसके गुणों के भाव के स्वभाव की अचिन्तता के भाव की महिमा है। समझ में आया? यह वेदान्त आदि कहते हैं न? सर्वव्यापक। क्या धूल सर्वव्यापक है? सुन तो सही! ध्यान करना हो तो इसे ऐसा करना पड़ता है? तो इसका अर्थ कि जितने क्षेत्र में है, उतने में एकाग्र करता है; इसलिए पुरुषाकार प्रमाण आत्मा है – ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र.... भाव से पवित्र **गुणों की खान....** है न? **गुणगणणिलउ णिलउ** गुण के समूह का निलय। निलय अर्थात् घर अकेले अनन्त आनन्दादि गुणों का घर आत्मा है, वह तेरे राग में भी नहीं और तेरे पैसे में – धूल में कहीं नहीं, समझ में आया? **गुणगणणिलउ** और **णिम्मलतेय फुरंतुं** निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिए।

ऐसा भगवान आत्मा शरीर–प्रमाण अन्तर निर्मल गुण का नाथ, तेज से स्फुरित – ऐसे आत्मा को अन्तर ज्ञान और श्रद्धा से देखना चाहिए।

आत्मा की भावना करने के लिए शिक्षा दी है कि आत्मा को ऐसा विचारना चाहिए कि उसका आत्मा अपने पुरुष के आकार–प्रमाण है, सर्व शरीर में

व्यापक है। सम्पूर्ण शरीर में व्यापक सर्वत्र है या नहीं ? अंगूठे से इस सिर तक; तथापि भिन्न जिस आसन में बैठा हो उस प्रमाण मानना – ऐसा कहते हैं। फिर लम्बी बात व्यवहार की बहुत डाली है। **यह निर्मल जल समान, शुद्ध स्फटिक समान परम शुद्ध है। द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को सदा निरावरण देखना।** वस्तुदृष्टि से देखो तो निरावरण, त्रिकाल निरावरण है। वस्तु को आवरण क्या ? समझ में आया ?

सामान्य और विशेष गुणों का धारक है, वह ज्ञाता-दृष्टा है, वीतराग है, परमानन्दमय है, परमवीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त्व गुण का धारक है, परम निर्मल तेज में चमक रहा... है। भगवान चैतन्य के तेज में विराजमान है। उसके चैतन्य के नूर, प्रकाश के पुँज से चमक रहा है। राग और विकार से चमके, वह वस्तु नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? **इस प्रकार अपने शरीर में व्यापक आत्मा को बारम्बार देखकर चित्त को रोकना यह ध्यान का प्रकार है।** साधु विशेष कर सकते हैं परन्तु हम **देशव्रती मध्यम ध्याता....** मुनि है वह आत्मा का उत्कृष्ट ध्यान कर सकते हैं। देशव्रती पंचम गुणस्थानवाला, दो-कषाय का अभाव हुआ है, इसलिए मध्यम ध्यान कर सकता है। मुनि है, उन्हें तीन कषाय अस्थिरता के कारण मिट गये हैं, इसलिए स्थिरता का कारण उन्हें अधिक है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है। यहाँ अपने को वजन लेना है। चौथे गुणस्थान में भी... एक व्यक्ति ने यह डाला, टोडरमलजी ने तो कहा है कि चौथे गुणस्थान में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि में राग-द्वेष हो वह मिथ्याचारित्र है; इसलिए उसे मिथ्याचारित्र है, उसे चौथे में स्वरूपाचरण नहीं है... परन्तु समकिती को इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती ही नहीं, सुन तो सही ! इष्ट-अनिष्ट की स्थिरता हो परन्तु यह पदार्थ इष्ट-अनिष्ट होता ही नहीं – ऐसा बड़ा लेख (आया) है। चौथे गुणस्थान में उसने पाँच इन्द्रिय के विषय छोड़े नहीं हैं, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि छूटी नहीं है, इसलिए उसे मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इसलिए मिथ्याचारित्रवाले को स्वरूपाचरण नहीं है – ऐसा करके लिखा है। आहा...हा... ! भाई ! मिथ्याचारित्र नहीं, उसे अव्रत है। मिथ्याचारित्र तो जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व पर है, उसके चारित्र को मिथ्याचारित्र कहा जाता है परन्तु ऐसे तीन शब्द प्रयोग अवश्य किये हैं न,

मिथ्याचारित्र कहो, अचारित्र कहो, या अविरत कहो – ऐसे भी शब्द टोडरमलजी ने प्रयोग किये हैं, वह तो अपेक्षा से है, भाई!

भगवान आत्मा अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है। स्वरूप की दृष्टि हुई है, उतना तो ध्यान करनेवाले की योग्यता प्रगट हुई है। सम्यग्दृष्टि ध्याता नहीं और (उसे) ध्यान भी नहीं – ऐसा नहीं है। ध्यान और ध्याता की शुरुआत चौथे से शुरु हो गयी है। समझ में आया? '**दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।**' द्रव्यसंग्रह (गाथा ४७) में कहा है, ध्यान में एकाग्रता (होती है)। भगवान आत्मा के सन्मुख निर्विकल्प दृष्टि, वह ध्यान है और उसमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है – ऐसा सम्यक्त्वी जघन्य ध्याता है।

ध्याता को सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए। भगवान आत्मा की एकाग्रतारूप ध्यान करनेवाले को सम्यग्ज्ञान न हो तो ध्यान नहीं कर सकता। सम्यग्ज्ञान, आत्मा का भान होना चाहिए। नीचे बीच में है **क्योंकि जब तक अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का श्रद्धान न हो, वहाँ तक उसका प्रेम नहीं होता।** भगवान आत्मा का प्रेम और पुण्य-पाप का प्रेम छूट न जाए, तब तक आत्मा का प्रेम नहीं होता और आत्मा के प्रेम बिना अन्दर लगनी नहीं लगती। लगनी लगने का नाम ध्यान है। इस संसार में दो-दो घण्टे पाप का ध्यान नहीं करते? भूल जाए, जिस विचार में चढ़ा हो, उसमें यदि कुछ दो लाख-पाँच लाख, दो महीने में पैदा होनेवाले हों तो अन्दर से घोड़े चढ़ता है। (कोई पूछे) कहाँ थे? मैं तो विचार में चढ़ गया था। घर में मेहमान आये थे परन्तु तुम आँख बन्द करके बैठे थे; इसलिए हम कुछ पूछ नहीं सके। मैं तो दो घण्टे विचार में चढ़ गया था। हैं? ध्यान करना तो आता है (परन्तु) उलटा। धीरुभाई! आता है या नहीं? ऐसे स्थिर हो जाये, स्थिर हो जाए। खोटे विकल्प में चढ़ जाए, इस लड़के का ऐसा हो जाए, अमुक ऐसा हो जाए, ऐसी श्रेणी हो जाती है। इसमें लड़के का विवाह हो, करोड़ की पूँजी हो, पाँच लाख खर्च करना हो, सगा-सम्बन्धी अच्छा हो, कोई आगे-पीछे मरण न हुआ हो, उसकी होंश में विचार करने बैठा हो कि इसका ऐसा करूँगा और वैसा करूँगा। रात्रि के दस से बारह दो घण्टे निकल जाते हैं, पता नहीं (चलता)। अरे...! कब-सब (हुआ)? यह सब हो गया। वरगोडा हो गया। सब

चले गये तुम्हें सब ढूंढ़ते थे, मैं तो कौने में बैठा था। बारात सब बाहर निकल गयी, मुझे पता नहीं। तुम्हें सब ढूँढ़ते थे परन्तु तुम कहाँ बैठे थे ? मैं भण्डार में बैठा था। वहीं का वहीं विचार में चढ़ गया था। सबेरे ऐसा करना है, सबेरे वैसा करना है, सबेरे ऐसा करना है, ध्यान आता है या नहीं ? इसी प्रकार जब उलटा आता है और दूसरा भूले तो यह सुलटा आवे और दूसरा भूले ऐसी उसमें ताकत है। समझ में आया ? उलटे में तो ताकत शिथिल पड़ जाती है और सुलटे में ताकत तो उग्र होती है; इसलिए सुलटा करने की ताकत अधिक है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इसलिए सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है।

जब तक इसका प्रेम न लगे, **प्रेम बिना उसमें आसक्ति या स्थिरता नहीं हो सकती।** प्रेम के बिना उसमें एकाकार ऐसी लीनता नहीं होती है। **ध्याता को यह श्रद्धान होना ही चाहिए कि मैं ही परमात्मारूप हूँ।** इस परमात्मा का पेट ही मैं हूँ। मैं परमात्मा हूँ, मुझमें से परमात्मा पर्याय प्रस्फुटित होनेवाली है। किसी पर्याय में से नहीं, राग में से नहीं, निमित्त में से नहीं। ऐसा परमात्मा (मैं हूँ) ।

मुझे जगत के इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों के प्रति कोई रागभाव नहीं। धर्मी को इन्द्र के सुख और पदवी की लालसा नहीं होती, तीन लोक का राज भी जहाँ सड़े हुए तिनके जैसा लगे, आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष सब सड़ा हुआ तिनका (लगे), पूरी दुनिया दुःखी लगे, इसलिए उस पद को ज्ञानी नहीं चाहते हैं। जिसमें मिठास लगे तो इच्छे परन्तु आत्मा के आनन्द की मिठास के समक्ष समकिती को किसी पद में मिठास दिखाई नहीं देती। पुण्यभाव में मिठास दिखाई नहीं देती तो उसके फल में मिठास कैसे देखेगा ? आहा...हा... !

अरे... यह भगवान आत्मा, इसका सत् स्वरूप और सत् के अनन्त गुण, इसका इसने कभी माहात्म्य नहीं किया और यह व्यवहार-व्यवहार करके मर गया। वह तो निगोद में अनन्त बार वहाँ गया। शास्त्र में तो ऐसा भी आता है, फूलचन्दजी कहते हैं ऐसा कि निगोद में भी क्षण में साता बँधती है और क्षण में असाता बँधती है। इसलिए शुभ-अशुभ (चलता है) ऐसा एक बार कहते थे। आधार माँगा परन्तु.... ऐसा कहते हैं। पण्डितजी ! निगोद में क्षण में साता बाँधता है। दूसरे समय में असाता, तीसरे समय में साता, इसलिए

शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ ऐसा का ऐसा चला ही आता है, ऐसा कहते थे... कुछ होगा परन्तु आधार ख्याल में नहीं आया। निगोद में, हाँ! यह नित्य-निगोदवाले। ऐसे शुभ-अशुभभाव, शुभ-अशुभभाव क्षण-क्षण हुआ ही करते हैं। शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ क्रम है। ऐसा कहा था, भाई! नहीं? फिर हमने माँगा था, आधार कहीं है? हमने ढूँढा भी था परन्तु बहुत मिला नहीं, कहीं-कहीं ढूँढा अवश्य था। निगोद के जीव हैं न? उन्हें (पण्डितजी की) बहुत अभ्यास अभ्यास है। इसलिए कुछ हमने पूछा था, उसका आधार क्या? लाओ, मैं भेजूँगा (ऐसा कहा था) परन्तु भूल गये।

मुमुक्षु – ....

उत्तर – ध्रुव प्रकृति भी परिणमन का निमित्त है या नहीं? ध्रुव प्रकृति भी निमित्त कौन? ऐसा कहते हैं न? हमने कहा कि शास्त्र में अशुभ परिणाम के समय भी पुण्य में थोड़ा रस पड़ता है। तब कहे, वह तो ध्रुव प्रकृति... परन्तु ध्रुव प्रकृति में निमित्त कौन? अपने आप मुफ्त में पड़ गयी? यह सिद्ध हुआ कि अशुभ के समय प्रकृति ने भले थोड़ा रस (पड़े) और पाप में बहुत रस पड़ता है। समझे न? इसलिए वह शुभ करने जैसा है, यह प्रश्न वहाँ कहाँ है? यह तो क्या होता है? सबने बहुत चिल्लाहट मचायी थी। अर...र...! अशुभभाव के समय भी पुण्य में रस? परन्तु भगवान कहते हैं, सुन न अब। अकेले शुद्धभाव में बिलकुल बन्ध नहीं परन्तु शुभ-अशुभ में तो अशुभ के समय पाप में अधिक, पुण्य में थोड़ा, शुभ के समय पुण्य में अधिक और पाप में थोड़ा – ऐसी दो वस्तु होती ही हैं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

यहाँ कहते हैं, मैं परमात्मा हूँ, मुझे इन्द्र आदि के पद की भी मुझे भावना नहीं है। सम्यग्दर्शन, इन्द्र के पद और से डोले इन्द्रियाणियाँ, मेरे आनन्द के आगे सब तेरे पद खोटे हैं। ऐसी उसकी अन्तर की दृढ़ता आत्मा पर होती है। फिर तीन शल्यरहित की विशेष बात की है। (**श्रोता** : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आत्मज्ञानी ही सब शास्त्रों का ज्ञाता है

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्न।
सो जाणइ सत्थहँ सयल सासय-सुक्खहँ लीणु॥ ९५॥

जो जाने शुद्धात्म को, अशुचि देह से भिन्न।
ज्ञाता सो सब शास्त्र का, शाश्वत सुख में लीन॥

अन्वयार्थ – **(जो असुइ सरीर विभिन्नु)** जो कोई इस अपवित्र शरीर से भिन्न **(सासय सुक्खहँ लीणु)** व अविनाशी सुख में लीन **(सुद्धु वि अप्पा मुणइ)** शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है **(सो सयल सत्थहँ जाणइ)** वही सर्व शास्त्रों को जानता है।

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल ३, गुरुवार, दिनाङ्क २१-०७-१९६६
गाथा ९५ से ९६ प्रवचन नं. ४०

योगसार, ९५ गाथा **आत्मज्ञानी ही सब शास्त्रों का ज्ञाता है**। शीर्षक है। आत्मा को जाने, उसने सर्व शास्त्रों को जाना क्योंकि सर्व शास्त्रों को जानने का फल इस आत्मा का ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान नहीं किया और अकेले शास्त्र पढ़े, उसे कहीं उसका फल नहीं, इसलिए यहाँ वजन है, देखो!

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्न।
सो जाणइ सत्थहँ सयल सासय-सुक्खहँ लीणु॥ ९५॥

जो कोई इस अपवित्र शरीर से भिन्न.... यह शरीर तो अपवित्र, मिट्टी का पिण्ड है। इससे भिन्न भगवान अनन्त आनन्द पवित्र का धाम आत्मा है **और अविनाशी सुख में लीन....** होकर, अर्थात्? आत्मा में अविनाशी अतीन्द्रिय आनन्द अनादि-अनन्त पड़ा

है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द शाश्वत् है, जैसे वस्तु शाश्वत् है, (वैसे) उसका आनन्द भी शाश्वत् है। ऐसे शाश्वत् आनन्द में एकाग्र होकर आनन्द के अनुभव से वेदन से आत्मा को जाने, उसने सब जाना। कहो, समझ में आया?

अविनाशी सुख में लीन शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है.... हितरूप कार्य तो यह है, प्रयोजनभूत आत्मा का कार्य, मोक्ष के परमानन्द सुख का हेतुरूप आत्मा परम आनन्द का अन्तर में अनुभव करना। समझ में आया? आत्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्ध समान, सत्-शाश्वत ज्ञान और आनन्द का धाम आत्मा है – ऐसा आनन्द जो त्रिकाली है, उसमें लीन होकर वर्तमान आनन्द के वेदन द्वारा आत्मा को जानता है। समझ में आया? वह सर्व शास्त्रों का ज्ञाता है।

मुमुक्षु – वर्तमान आनन्द से निश्चित होता है।

उत्तर – वर्तमान आनन्द के अनुभव से आत्मा को जानता है कि यह आत्मा है, ऐसा। राग और पुण्य-पाप, वह आस्रवतत्त्व है। यह शरीर-वाणी मन तो जड़ है-पर है – मिट्टी है। अब इस आत्मा को शाश्वत् अन्दर में सुख है, उसे अन्तर अवलम्बन कर आनन्द का अनुभवसहित करता हुआ अनुभव द्वारा आत्मा को जानता है, उसने जाना कहा जाता है – ऐसा कहते हैं। यह तो एकदम योगसार है न!

योगसार अर्थात् भगवान आत्मा, उसका योग अर्थात् अन्तर जुड़ान। अनादि से पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभराग का जुड़ान है। जुड़ान तो है, वह जुड़ान मिथ्यादृष्टि में अधर्मरूप जुड़ान है। भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूप है – ऐसा पहले निर्णय करके, पश्चात् उसके सन्मुख होकर आनन्द की शक्ति की पूर्णता सन्मुख होने पर उसे अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन का अंश आने पर उसके द्वारा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है – ऐसा जिसने जाना, उसने समस्त शास्त्रों को जाना। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो मक्खन की बात है। योगसार है न! मक्खन पोला होता है, इसलिए एकदम चला जाता है आहा...हा...! प्रभु! तेरे पास आनन्द है न! तेरा आनन्द कहाँ ढूँढ़ने जाना पड़े – ऐसा है। यह आनन्द तो तेरा धर्म है। धर्मी-धर्म का धारक – ऐसा धर्मी आत्मा आनन्दादि धर्म का धारक है, वह तो तेरा स्वभाव ही है। आनन्द तो तेरा धर्म

है, त्रिकाली, हाँ! त्रिकाली वस्तु भगवान आत्मा शाश्वत् है, तो उसका धर्म आनन्द, ज्ञानादि त्रिकाली शाश्वत् है। यह तो आनन्द को लेकर ही आत्मा पड़ा है। सभी शास्त्र पढ़कर सब लाख बातें करके जिसने अन्तर के अनुभव में आत्मा को जोड़ा, अनुभव वह आनन्द है, निर्विकल्प आनन्द है, राग और पुण्य-पाप की वासनारहित शुद्धपरिणति द्वारा यह आत्मा आनन्दस्वरूप है – ऐसा जिसने आनन्द के अनुभव द्वारा अनुभव किया, उसने बारह अंग का सब जाना, क्योंकि शास्त्र में कहने का हेतु तो इतना था। कहो, समझ में आया?

शास्त्रों का ज्ञान तभी सफल कहलाता है, जब अपने आत्मा की यथार्थ पहचान हो।... शास्त्र का ज्ञान तब सफल कहा जाता है कि आत्मा को जाने, आत्मा को यथार्थ पहचान ले। यथार्थ आत्मा को पहचाना, जाना, कब कहलाता है? **उसकी रुचि प्राप्त हो और उसके स्वभाव का स्वाद आने लगे।** जानना, रुचि, और आनन्द, भाई! तीन ले लिये। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु आत्मा है। केवलज्ञानी परमात्मा ने अरहन्त तीर्थंकरदेव ने आत्मा को आनन्द और ज्ञानस्वरूपी देखा है। प्रत्येक का आत्मा, हाँ! भगवान केवलज्ञानी परमेश्वर है, तीर्थंकरदेव ने इस आत्मा को अनन्त आनन्द और ज्ञानवाला देखा है। उसे रागवाला, पुण्यवाला, कर्मवाला आत्मा को भगवान ने नहीं देखा है। समझ में आया? ऐसा जिसने देखा है, ऐसा जो देखने के लिए यत्नशील है, उसे आत्मा के पूर्ण स्वभावसन्मुख की दृष्टि होकर, उसका ज्ञान होकर और उसके आनन्द के स्वाद को लेने-अनुभव में पड़े तब उसने आत्मा को जाना और भगवान ने जाना वैसा इसने माना। बहुत सूक्ष्म परन्तु, भाई! कहो जगजीवनभाई! कैसा कठिन? मेहमानों के लिए पूछते थे। मेहमानों के लिए पूछते थे, यह बहुत कठिन। अभी तक प्रौषध, सामायिक करते थे, मान लिया (धर्म)।

आत्मा में उसका अभ्यास करे और वह न बने – ऐसी वह चीज नहीं है। आत्मा में रजकण के और राग के भाव को कायम करना चाहे तो वह नहीं हो सकता। आत्मा अपने स्वभाव के अतिरिक्त जगत् के रजकण, परमाणु – पुद्गल छोटा या स्कन्ध; स्कन्ध अर्थात् बहुत रजकणों का पिण्ड-जत्था, उसे आत्मा इस रजकण से लेकर पूर्ण स्कन्ध को

अपना करने लगे तो अनन्त पुरुषार्थ से भी वह नहीं हो सकता। वैसे ही आत्मा अन्दर में जो पुण्य-पाप का विकार है, उसे स्थायी-शाश्वत् आत्मा के साथ जोड़ना चाहे तो वह हो ही नहीं सकता। आहा...हा... ! समझ में आया ? परन्तु आत्मा इस ज्ञान और आनन्द का भरपूर भण्डार-भरपूर प्रभु आत्मा है – ऐसे स्वभाव के अन्तर में एकाग्र होकर यह आत्मा उसे तो प्राप्त कर सके – ऐसा उसका स्वरूप है। समझ में आया ?

सैंतालीस शक्तियों में ऐसा एक गुण भगवान ने लिया है कि आत्मा में प्रकाश (शक्ति है)। आत्मा स्वयं को प्रत्यक्ष हो सके – ऐसा उसमें गुण है। परोक्ष रहे – ऐसा कोई गुण उसमें नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? कामदार ! यह सब समझना पड़ेगा, हाँ ! यह सब अभी तक उलटे-सीधे गोले मारे हैं वे, सही बात है या नहीं ? मारे हैं तूने। सही बात है या नहीं ? नानचन्द्रभाई ! यह तो धीरे-धीरे सुने तो हो। थोड़ा समय देना पड़ेगा। कहाँ गया दोशी ! जयन्तीलाल ! समझना यह, आहा...हा... !

परमेश्वर, जिन्हें एक समय की ज्ञानदशा में अपना पूर्ण स्वभाव भासित हुआ, उसमें तीन काल-तीन लोक भी अपनी पर्याय में भासित हुए – ऐसे भगवान की वाणी में, इच्छा बिना वाणी निकली, उस वाणी में आया, वह वाणी कहो या उसे आगम कहो। उस वाणी की रचना की तो फिर उसे आगम कहा जाता है। उस वाणी में, आगम में ऐसा आया, शास्त्र में ऐसा आया... यहाँ शास्त्र है न ? सर्व शास्त्रों का ज्ञाता... भगवान की ऐसी वाणी निकली उस वाणी को सुनकर गणधरों ने अपनी योग्यता के भाव से सूत्ररूप से रचना की, निमित्तरूप से विकल्प में। उस वस्तु को आगम कहते हैं। उस आगम में ऐसा कहा गया है, समस्त आगम में यह कहा गया है कि भाई ! तू तेरा राग और पुण्य-पाप तेरे त्रिकाली स्वभाव में एक करना चाहे तो नहीं हो सकते। भाई ! यह शरीर, वाणी, मन जड़-मिट्टी है। इन्हें तू आत्मा के साथ एक समय भी यदि तन्मय करना चाहे, एक समय, तो नहीं होंगे। विकार एक समय तन्मय है, वह त्रिकाली स्वभाव के साथ तन्मय नहीं होता। समझ में आया ? तन्मय अर्थात् क्या होगा ? तन्मय... तन्मय... – उस रूप।

भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और ज्ञान का सागर प्रभु, वह शरीर, कर्म आदि के रजकण को एक समय-सेकेण्ड का असंख्यातवाँ भाग, अपनी वर्तमान दशा में करना चाहे

तो नहीं हो सकता और राग-द्वेष के परिणाम एक समय में तन्मय है परन्तु वे त्रिकाल स्वभाव के साथ तन्मय / एकरूप करना चाहे तो नहीं हो सकता। तब भगवान आत्मा अनादि आनन्द और ज्ञान से एक रूप तन्मय है, उसकी वर्तमान दृष्टि करके उस आनन्द के साथ तन्मय होना, वह तुझसे हो सकेगा। समझ में आया ? क्योंकि उसमें वह गुण है। एक प्रकाश नाम का बारहवाँ (बारहवीं शक्ति) गुण है। समझ में आया ? सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश.... सैंतालीसवाँ में बारहवाँ (गुण है)।

भगवान आत्मा में.... यहाँ तो यह प्रश्न उठा की सर्व शास्त्रों में यह कहा है। आत्मा के आनन्द से (आत्मा को) जाना उसने सब (शास्त्र) जान लिये। अत: यहाँ तो यह हुआ कि यह आत्मा अनादिकाल से विकार और संयोगी चीज को अपनी करना चाहता है परन्तु उसमें वह गुण नहीं है। समझ में आया ? उसमें गुण अर्थात् गुण करने का अर्थात् लाभ करने का ऐसा कोई गुण नहीं है। विकार को अपना करे या शरीरादि को करे ऐसा उसमें त्रिकाली गुण, गुण का गुण नहीं। ऐसा गुण, उसका वह गुण नहीं परन्तु आत्मा में एक गुण अनादि-अनन्त ऐसा है कि जो स्वयं को प्रत्यक्ष कर सके – ऐसा उसमें गुण है। आहा...हा...! समझ में आया ? आहा...हा...!

भाई! उस सुख को वेदन में प्रत्यक्ष कर सके – ऐसा तेरा गुण है, हाँ! और उस गुण का गुण यह है। वह गुण जो त्रिकाली प्रकाश गुण है, उसका गुण ऐसा है कि स्व-संवेदन (अर्थात्) राग के बिना आनन्द का वेदन करके जान – ऐसा उस गुण का गुण है। गुण का गुण अर्थात् उस गुण का कार्य। आहा...हा...! इसमें बहुत सूक्ष्म, भाई! उस गुण का गुण फिर। उस गुण का गुण अर्थात् उस गुण का कार्य, समझ में आया ? परन्तु बात इसे यह क्या चीज है और कैसे है, यह तो कभी जानने का मन्थन किया नहीं। बाहर ही बाहर में स्वयं खो गया। है ? परमेश्वर खो गया।

सूरदास थे न ? उसमें बात आती है, अन्धी आँखें, उन्हें कृष्णरूप से स्वीकारते न ? अन्धे थे तो कृष्ण ने हाथ छुड़ा लिया... भाग गये... भगवान! परन्तु तू हाथ से छूटा, हाँ! मेरे हृदय में से जा तो सही, आँखें बन्द थीं। सूरदास थे न, सूरदास! आँखें फोड़ डाली थी, ऐसा कि आँखों से स्त्री क्यों दिखती है ? अरे...! परन्तु उसमें आँख का क्या

दोष था? स्त्री क्यों दिखे? यह तो केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक दिखता है, स्त्रियाँ दिखना या स्त्रियों के अवयव दिखना वह कहीं दोष का कारण नहीं है परन्तु रागी को राग है; इसलिए ऐसा देखने से उसे राग होता है, वह आँखों का दोष नहीं है, वह राग का दोष है परन्तु अज्ञान में ऐसा भासित नहीं हुआ। ऐसा क्यों होता है? फोड़ आँख। वह आँख फोड़ना है या राग को फोड़ना है? परन्तु वस्तु के स्वरूप का पता नहीं, इसलिए इस प्रकार आँख फोड़ ली। पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण को पकड़ा... फिर भागे। आँखें नहीं इसलिए ऐसे पकड़े... भगवान भले तू हाथ में से जा, हृदय में से जा तो सही, कृष्ण तू, हाँ! इस प्रकार का उन्हें प्रेम था। इसी प्रकार आत्मा भगवान आनन्द और ज्ञान में से जाए तो सही आत्मा... वह कभी जा ही नहीं सकता। आहा...हा...! समझ में आया?

एक बाबा था, छोटी उम्र युवा बीस वर्ष का, सुन्दर, हाँ! फिर लंगोटी पहने न? लंगोटी, नहाने गया, नहाने। धुन बहुत, कृष्ण की धुन बहुत, भगत कहते, अपने भगत थे न?... उन्हें होटल थी, बाबा-बाबा कोई आवे तो वह चाय पिलाये, काम्प में होटल थी। बीस वर्ष का युवा, हाँ! अकेली लंगोटी पहने दूसरा कुछ नहीं, नहाकर लंगोटी पहनना भूल गया और एकदम होटल में आया परन्तु अरे...! महाराज! लंगोटी भूल गये। अरे...! भगत! लंगोटी भूल जाता हूँ, हाँ! परन्तु कृष्ण को मैं नहीं भूला। यह बात बनी हुई है। यह काम्प है न? काम्प में वह भगत रहता था। पता है? कस्तूरभगत, यह 'पोपट भगत' लींबड़ी में रहता है न, उसका भाई वहाँ रहता। बहुत वर्ष (पहले की) बात है। वह स्वयं पहले यहाँ आता। पोपटभाई कहता, बाबा ऐसे आवे परन्तु उन्हें तत्त्व का पता नहीं पड़ता, मार्ग का पता नहीं पड़ता। यों बेचारे वैराग्य करे, परन्तु यह आत्मा परमेश्वर साक्षात् स्वयं है, उसे भूलना नहीं चाहिए। कृष्ण तो पर है, उनकी यहाँ बात नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं भगवान आत्मा... मृग की नाभि में कस्तूरी... वैसे भगवान आत्मा के अन्तर में आनन्द और ज्ञान से भरपूर प्रभु, उसके सन्मुख देखे बिना जितना पुण्य और पाप का भाव आदि करे वह सब संसार में भटकने के लिए है। समझ में आया? वह फिर

ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा हो तो वह कुछ पढ़ा नहीं, परन्तु जिसने भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण सहज सम्पत्ति, अनन्त गुण का साम्राज्य जिसके घर में है... आहा...हा... ! उस ज्ञान की एक पर्याय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो ऐसा साम्राज्य एक पर्याय का है, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का एक गुण, ऐसे अनन्त गुणों का एक स्वरूप... आहा...हा... ! दुनिया के राजा और चक्रवर्ती वे क्या हैं ? वे भी देखते हैं, वे कुछ इसे कर नहीं देते। वह देखने पर ऐसा मानता है कि यह मुझे चक्रवर्ती का राज है। यह मेरी स्त्री है, यह तो मान्यता है। यह कोई वस्तु मिल नहीं जाती परन्तु वह विकार के साथ मानता है कि मेरे हैं। ज्ञानी उन्हें देखता है, उन्हें विकार नहीं कि यह है, इतना अन्तर है। समझ में आया ? यह चीज तो है जैसी है; जानता है, यह मैं शुद्ध हूँ, यह है उसे मैं जानता हूँ। वह (अज्ञानी) जानने के उपरान्त वे मेरे हैं – ऐसा मानता है, यह उसके दोष की अधिकता है। समझ में आया ? कि जो उसके नहीं... राग भी उसका नहीं, उसे मानता है, वह मिथ्यादृष्टि की अधिकता है परन्तु ऐसा कोई गुण नहीं है कि मिथ्यात्व कायम रहे, गुण नहीं है और यह गुण है, जिसमें भगवान प्रकाश नाम का एक गुण कहते हैं कि जिसका कार्य आत्मा राग और विकल्परहित प्रत्यक्ष वेदन में आवे – ऐसा आत्मा का गुण है। आहा...हा... !

सैंतालीस गुण में (ऐसा एक गुण है) । अपने व्याख्यान सब आ गये हैं। अभी नये व्याख्यान तो अभी रिकार्डिंग हो रहे हैं। आत्मप्रसिद्धि तो प्रकाशित हो गयी है न पहले की ! परन्तु यह नये व्याख्यान बहुत अच्छे हैं, इनमें बहुत अच्छी बात आयी है परन्तु अभी रिकार्डिंग में अन्दर पड़े हैं, बाहर निकले तब... हैं ? सैंतालीस शक्ति, आहा...हा... ! सैंतालीस शक्ति न ? बाहर आ गयी है। हमारे यह कुँवरजी भाई की ओर से प्रकाशित होनेवाली है। बहुत अच्छे व्याख्यान आये हैं, अभी सैंतालीस शक्ति के व्याख्यान हुए हैं, बहुत अच्छे हुए हैं। पहले से भी अच्छे, बहुत स्पष्टीकरण आया है। पण्डितजी को पहले देना, समझ में आया ?

भगवान आत्मा.... कहते हैं कि उसमें गुण है। प्रभु परमात्मा ने देखा है। वह क्या गुण है ? कि आत्मा स्वयं को प्रत्यक्ष हो – ऐसा गुण है। राग द्वारा ज्ञात हो – ऐसा वह रहे

नहीं – ऐसा उसका गुण है। आहा...हा...! और उस गुण का गुण अर्थात् कार्य, भगवान आत्मा, अपने आनन्द को प्रत्यक्ष करके यह आत्मा है – ऐसा जाने वैसा उसमें गुण है। आहा...हा...! समझ में आया? तब इसने सर्व शास्त्र जाने – ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! भले ही शास्त्र कम-ज्यादा आवे, जबाव देना भी न आवे, बोलना भी न आवे, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। भाषण होना, या न होना यह तो जड़ की अवस्था है, यह कहीं उपदेश देना आया इसलिए जीव को लाभ है (ऐसा) बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – उपदेश दे तो घोलन होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – परन्तु किसका घोलन? यह तो ज्ञान का अन्दर का घोलन स्वयं में है, यह कहीं वाणी द्वारा है? और विकल्प उत्पन्न हुआ है उसके द्वारा अन्दर संवर -निर्जरा है? भाई! यह तो मार्ग अलग प्रकार का है। यह प्रभु का मार्ग है। समझ में आया? वह स्वयं परमेश्वर है, वीतरागस्वरूप का परमेश्वर है। वीतरागपने में जितना स्वभाव में एकाग्र होता है, उतना ही उसे संवर और निर्जरा का लाभ है। वाणी से कोई लाभ नहीं और विकल्प से कुछ लाभ नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

ऐसा आत्मा, उसे जाने, उसकी रुचि प्राप्त करे और उसके स्वभाव का स्वाद आवे, वह आनन्द का अनुभव आया मानो **क्योंकि शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है।** यह भगवान शुद्धस्वरूप आत्मा, इसका अनुभव करना, वेदन करना, वेदनसहित जानना, वेदनसहित रुचि करना, वह मोक्ष का मार्ग है। जगत् को बहुत कठिन पड़ता है, वे कहते हैं कि बाहर से होगा, शुभयोग से होगा, देव-गुरु-शास्त्र से होगा, भगवान से होगा। भाई! यह ठगाई हो गयी है, हाँ! मायाचारी होगी, प्रभु! यह भगवान ऐसे नहीं पकड़ में आयेगा, उसका यह गुण नहीं है पर से ज्ञात हो, राग से ज्ञात हो, निमित्त से ज्ञात हो – ऐसा उसमें गुण नहीं है। ऐसा गुण नहीं है और ऐसे गुणवाला मानना, यह तो उसने आत्मा को नहीं माना। आहा...हा...! समझ में आया?

शुद्धस्वरूप की भावना भाने से आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा हो जाता है। इस शुद्ध परमात्मा का प्रत्यक्षपने वेदन होने पर, प्रत्यक्ष होते... होते... पूर्ण होने पर

केवलज्ञान हो जाता है – ऐसा कहते हैं। **जिनवाणी के अभ्यास का सम्यक् प्रकार से उद्यम करके अपने आत्मा को यथार्थ जानने का हेतु रखना।** हेतु तो यह है 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ...' भगवान आत्मा की परमेश्वरता.... परम ईश्वरता... परम ईश्वरता... की दृष्टि उसका ज्ञान और उसकी रमणता में आवे, वह उसका सार है। समझ में आया ? अब यह मार्ग अभी नहीं ऐसा कहते हैं। अरे...प्रभु! भाई! यदि ऐसा पंचम काल में न हो तो अभी धर्म ही नहीं है तो धर्म नहीं ऐसा नहीं होता, भाई! धर्म नहीं ऐसा नहीं और धर्म हो तो वह इस प्रकार धर्मी के आश्रय से होता है, स्व के आश्रय से हो वह धर्म कहा जाता है। आहा...हा... !

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर सीमन्धर प्रभु विराजमान हैं, उनके ज्ञान से कौन सी बात गुप्त है ? तीन-तीन ज्ञान के धनी शकेन्द्र आदि भगवान को वन्दन करने जाते हैं, उनके ज्ञान में भी कुछ कमी नहीं है। शास्त्र में आता है न कि अमुक दक्षिण के देव होते हैं, अमुक उत्तर के देव होते हैं, यह मुख्य-मुख्य बड़ी बातें हों, वे इन्द्रों को पहुँचाते हैं – ऐसा पाठ है। भाई! पण्डितजी! क्या कहलाता है ? लोकपाल, लोकपाल है न ? शास्त्र में लेख है। इस भरतक्षेत्र आदि में बड़ी-बड़ी बातें हों, वे लोकपाल इन्द्र को पहुँचाते हैं कि ऐसा है, ऐसा है। लोकपाल की बात आती है। चार लोकपाल हैं न ? यहाँ सरकार को पहुँचाते हैं या नहीं ? दूसरे के यहाँ तुम्हारी युद्ध होने की बात चलती है, हाँ! अमुक... अमुक... षड़यन्त्र ऐसा कुछ कहते हैं न ? यह सब उनके गुप्तचर हों, वे पहुँचाते हैं। जासूस कहलाते हैं। इस प्रकार यह चार जासूस हैं। चार दिशा के लोकपाल। वे इन्द्र को बड़ी-बड़ी बात (पहुँचाते हैं)। बड़ी फेरफारवाली बात भी उन्हें कान में तो पड़ गयी है। समझ में आया ? इन्द्र के अवधिज्ञान में वह बात आयी हुई है, भगवान के ज्ञान में आयी हुई है।

भाई! आत्मा अपने स्वभाव को पहुँचे, प्राप्त करे, रुचि करे, उसे जाने, उसका वेदन करे, तब उसे मोक्ष का मार्ग हुआ कहा जाता है, उसे सामायिक और प्रौषध कहा जाता है। कामदार! आहा...हा... ! भाई! ऐसी तेरे घर की मीठी बात तुझे क्यों नहीं रुचती ? भूख लगी हो और इसे ऐसा पोले से पोला मक्खन और पोले से पोला बड़ा अथवा खाजा दे और भूख

लगी हो वह इसे कैसे नहीं रुचेंगे ? इसी प्रकार जिसे यह आत्मा... अरे... ! यह आत्मा कौन है ? कैसा है ? ऐसी जिसे जिज्ञासा और रुचि हुई हो, उसे यह बात रुचे बिना नहीं रहती। भूख लगनी चाहिए।

मुमुक्षु – शीघ्रता करता है।

उत्तर – हाँ, खाने में शीघ्रता करता है। यह तो यहाँ दृष्टान्त है। कहो, समझ में आया ?

मिट्टी का दृष्टान्त दिया है, व्यवहारनय से पानी मैला दिखता है, मिट्टी मैली दिखती है परन्तु मिट्टी की मलिनता से जल की स्वच्छता भिन्न है, मलिनता से जल की स्वच्छता पृथक् है, समझ में आया ? निश्चय से देखो तो मिट्टी, मिट्टी है, पानी, पानी है। पानी और मिट्टी दोनों एक हुए नहीं हैं।

इसी प्रकार आत्मा, कर्म पुद्गलों के संयोग से देखो तो उसे सम्बन्ध व्यवहार से है। स्वभाव से देखो तो उसे सम्बन्ध है ही नहीं। भगवान चैतन्य जैसे जल स्वच्छ पानी के स्वभाव से देखो तो वह स्वच्छ है, वैसे ही भगवान आत्मा के स्वभाव से देखो तो उसे राग और कर्म का लेप है ही नहीं – ऐसी दृष्टि से आत्मा को देखना, उस दृष्टि को सत्यदृष्टि कहते हैं। ज्ञान करने के लिए व्यवहार वस्तु है, राग है, कर्म है, वह ज्ञान करने के लिए है, जानने के लिए है, आदरणीय तो यह है। समझ में आया ?

शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा परमात्मारूप दिखता है, वही दृष्टि ध्याता के लिए परम उपकारी है। पानी को स्वच्छ देखना, यही पानी की स्वच्छता के स्वरूप का सच्चा ज्ञान है; वैसे भगवान आत्मा को मैल और कर्मरहित देखना – ऐसा स्वभाव उस दृष्टि और ज्ञान को सच्ची दृष्टि और ज्ञान कहते हैं। समझ में आया ? दो नय का ज्ञान कहते हैं। व्यवहारनय से नव तत्त्वों को जानना... समझ में आया ? उसमें अशुद्धता भेद से वह जानना परन्तु उससे रहित शुद्ध को जानना, वह उसका प्रयोजन है। समझ में आया ? फिर द्रव्यसंग्रह और तत्त्वार्थसूत्र का अभ्यास करना, यह सब बात की है।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय का दृष्टान्त दिया है। यह बहुत सरस है। देखो, **मुनिराजों ने अज्ञानियों को समझाने के लिए असत्यार्थ को अथवा अशुद्ध पदार्थ को कहनेवाले**

व्यवहारनय का उपदेश किया है। अबुधबोधनार्थे....। अबुधस्य बोधनार्थ मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्। अशुद्ध आदि द्वारा उसे समझाया है कि भाई! यह अशुद्धता उसकी पर्याय में है, वस्तु में नहीं। उस द्वारा उसे समझाया है। अज्ञानी, जिसे वस्तु का स्वरूप शुद्ध अखण्ड आनन्दस्वरूप आनन्दकन्द जिसकी नजर में अशुद्धता की आड़ में आयी नहीं, अशुद्धता की आड़ में आया नहीं, उसे समझाते हैं कि देख भाई! अशुद्धता है अवश्य परन्तु वह स्वरूप में नहीं है। उस अशुद्ध से शुद्ध (स्वरूप) भिन्न है – ऐसा अज्ञानियों को व्यवहारनय से समझाया गया है।

परन्तु जो केवल व्यवहारनय के विस्तार को जाने.... व्यवहारनय के विस्तार को जाने – उसके भेदों को, उसके सम्बन्ध को, उसके राग को, उसके पुण्य-पाप को, उसके प्रकृति के परिणाम को, उसके सब विस्तार को जाने परन्तु **निश्चयनय के नियम को न जाने....** परन्तु भगवान आत्मा उस राग और भेद व निमित्त के सम्बन्धरहित है। निमित्त अर्थात् संयोगी चीज, राग अर्थात् संयोगी भाव और मन के सम्बन्ध से गुण -गुणी के भेद का विकल्प उत्पन्न होना, वह भी व्यवहार है, उस सब व्यवहार से भगवान आत्मा भिन्न है, यह निश्चयनय का नियम है। निश्चयनय का यह नियम है। उसका यह नियम है कि वह पर से भिन्न बतावे और शुद्ध स्वरूप को स्वयं पहचाने, समझ में आया? व्यवहार का यह नियम है कि वह संयोग को बतावे, राग को बतावे, भेद – गुण-गुणी का भेद वह व्यवहारनय बतलाता है, इतना... आदरणीय निश्चयनय का नियम यह है कि इससे तू भिन्न।

मुमुक्षु – दो में से मानना क्या?

उत्तर – कहा न, यह मानना, जानना, मानना। और वह (व्यवहार) है – इतना जानना कि अभी इतना बाकी है, जानना अवश्य, आदरना यह, जानना उसे। इस प्रकार दोनों नयों को ग्रहण किया कहा जाता है।

मुमुक्षु – दोनों को आदरना नहीं?

उत्तर – आदरे क्या? धूल!

मुमुक्षु – दो नय भगवान ने कहे है न?

उत्तर – भगवान ने कहे हैं।

मुमुक्षु – उपादेय चाहिए न।

उत्तर – उपादेय किस प्रकार ? नय है तो नय का विषय है, नय विषयी है, उसका विषय है – ऐसा जानना चाहिए परन्तु वह विषय आदरणीय है – ऐसा नहीं। आदरणीय हो तो दो नय कैसे रहे ? दो नय क्यों रहे ? दो ज्ञान कैसे रहे ? ज्ञान के विषय दो अलग कैसे पड़े ? दो के फल बिना दो भिन्न कैसे रहे ? इसे न्याय से तो विचार करना पड़ेगा न ? दो (नय) पड़े उसका अर्थ क्या हुआ ? एक नय अभेद को बताता है और एक नय उससे विरुद्ध ऐसे भेद को बताता है, दो नय विरुद्ध हो गये। आहा...हा... !

मुमुक्षु – अनेकान्त....

उत्तर – अनेकान्त हुआ न ! अभेद भी है, भेद भी है। अभेद में भेद नहीं, भेद में अभेद नहीं – इसका नाम अनेकान्त है, वरना तो दो एक हो जाएँगे, व्यवहार-निश्चय दोनों एक हो जायेंगे। व्यवहारनय और निश्चयनय का स्वरूप एक हो जाए तो व्यभिचार हो जाए, एक भी नय न रहे। एक नय की वास्तविकता जो है, वह न रहे तो दूसरे नय की वास्तविकता नहीं रहेगी। वरना नय का स्वरूप ही नहीं रहेगा। आहा...हा... ! पंचाध्यायी में कहा है न ? यदि व्यवहारनय का विषय निश्चय में जायेगा तो नय का स्वरूपी नहीं रह सकेगा। अतिक्रान्त हो जायेगा, व्यवहार में निश्चय का कार्य किया तो निश्चय नहीं रहा, दोनों नय का नाश हो जायेगा। अरे... वस्तु भी इस प्रकार है; इस कारण भगवान की वाणी में ऐसा आया है।

भाई ! तू वस्तु है, पूर्ण शुद्ध अखण्ड आनन्द यह निश्चय का सत्य का विषय है और उसके साथ जितना राग, संयोग है, वह व्यवहारनय का विषय है। यह दो ज्ञान हैं और एक नय का जो विषय है, उससे दूसरे नय का विषय अलग है। अलग न हो तो दो नय पड़े कैसे ? एक यह आदरणीय है तो वह आदरणीय नहीं; जानने योग्य है।

इस कारण भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा **तदात्वे** जाना हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा कहा है। पाठ में यह है, इसलिए सब तर्क देते हैं, देखो ! **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** **'सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं। ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे**

ट्ठिदा भावे॥ १२॥' जो निचली भूमिका में है, उसे व्यवहार का उपदेश देना... परन्तु ऐसा वहाँ नहीं कहा है। '**ववहारदेसिदा**' का अर्थ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऐसा किया है। यह '**ववहारदेसिदा**' शब्द है, उसका वाच्य – अभेद स्वरूप आत्मा की दृष्टि और ज्ञान हुआ, तब उसे जितना राग और संयोग में अथवा शुद्धता के अंश बढ़े या राग के (अंश) घटे, ऐसे भेद को जानना, वह '**यदात्व**' काल में प्रयोजनवान है। यह '**ववहारदेसिदा**' क्या ? इसका अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने यह किया है – इस वाचक का वाच्य है। तब दूसरे कहते हैं, व्यवहार का उपदेश देना... वहाँ उपदेश की व्याख्या ही नहीं है। समझ में आया ? आहा...हा... ! भगवान आत्मा पूर्ण प्रभु अपनी पूर्ण निश्चय दृष्टि से देखे तो मैल, भेद और संयोगरहित देखता है, यह निश्चयनय का नियम है। व्यवहारनय का यह नियम है, भेद और आश्रय वह निमित्त को देखता है। है, है इतना अवश्य; यदि वह न हो तब तो सम्पूर्ण तीर्थ और गुणस्थान के भेद नहीं रहते और निश्चय न रहे तो स्व आश्रय के बिना तत्त्व का लाभ कैसे होगा ? आहा...हा... ! समझ में आया ? यह बात की।

यहाँ कहते हैं **नियम को न जाने वह जिनवाणी का यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकता**। निश्चयनय के नियम को न जाने, भगवान कथित आत्मा निश्चय का विषय, उस वस्तु को न जाने वह ज्ञाता-दृष्टा नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया ? **बालक को विलाव दिखाकर सिंह बतलाया जाता है। यदि उसे सिंह का ज्ञान न कराया जाए तब तो बालक विलाव को ही सिंह समझता रहेगा**। विलाव को ही सिंह मानेगा – ऐसा व्यवहार बतलाते अवश्य हैं, जो यह आत्मा है, यह आत्मा है – एकेन्द्रिय आत्मा, दो इन्द्रिय (आत्मा) परन्तु यह एकेन्द्रिय-दोइन्द्रियपना वस्तु में नहीं है, ऐसा व्यवहार में बताते हैं परन्तु इसे भी मान ले तो निश्चय को नहीं समझता तो वह उपदेश के योग्य नहीं है। ऐसा यहाँ कहते हैं।

व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति देखो ! पहले में आया था, ऐसा कहीं कहा नहीं है कि निश्चय का स्वरूप जाने और पहचाने, उसे देशना देने योग्य नहीं है परन्तु अकेले व्यवहार को जाने और निश्चय को न जाने, वह देशना सुनने के योग्य नहीं है – ऐसा कहा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? **निश्चय का ज्ञान न कराया जाये**

तो निश्चय को न जाननेवाला व्यवहार को ही निश्चय तथा सत्य-मूल पदार्थ समझ लेगा। देखो, मूल पदार्थ समझ लेगा। निश्चय, सत्य और मूल। व्यवहार को निश्चय, व्यवहार को मूल पदार्थ और व्यवहार स्वयं सत्य मान लेगा।

एक बार कहा था न 'कुआवडा...' 'कुआवडा' नहीं, वह मच्छर ? राजकोट से पाँच गाँव 'कुआवडा' वहाँ सब आये थे, वहाँ विद्यालय में उतरे थे, वहाँ एक मच्छर का चित्र बना हुआ था। मच्छर... मच्छर होता है न ? लम्बे पैर, इतने-इतने चार (पैर)। बालक को बताते थे कि देखो! भाई! मच्छर ऐसा होता है। छोटे को स्पष्ट बतलाने को उसके पैर लम्बे करके बतलाये। उसमें उस गाँव में आया हाथी, उसने कभी मच्छर ऐसा नजर से निश्चित नहीं किया था, अतः कहने लगा मास्टर साहब देखो! आप उस दिन मच्छर बतलाते थे, वह आया। वहाँ ऐसा चित्र देखा, हाँ! वहाँ स्कूल में था, छोटा शरीर और पैर लम्बे इसलिए वह बतलाता है कि यह पैर बारीक-बारीक लम्बे हैं, यहाँ ***ताँकना*** हो वह सब लम्बा करे तो बता सके। लम्बा करके बताया इसलिए उसने हाथी देखा नहीं था और मच्छर का पता नहीं कि कितना होता है ? मच्छर को ऐसा करके बतलाया था (इसलिए कहने लगा) मास्टर साहब आप मच्छर बतलाते थे, वह मच्छर आया। इस प्रकार व्यवहार को निश्चय मान लिया। बनी हुई बात है, हाँ! बनी हुई बात है।

मुमुक्षु - ....

उत्तर - ख्याल में हो वह आये न!

☆ ★ ☆

परभाव का त्याग कार्यकारी है

जो णवि जाणइ अप्पु परू णवि परभाउ चएइ।
सो जाणउ सत्थहँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ॥ ९६॥

निज-पर रूप के अज्ञ जन, जो न तजे परभाव।
ज्ञाता भी सब शास्त्र का, होय न शिवपुर राव॥

अन्वयार्थ - (जो अप्पु परू णवि जाणइ) जो कोई आत्मा को व परपदार्थ को

नहीं जानता है **(परभाउ णवि चएइ)** व परभावों का त्याग नहीं करता है **(सो सयल सत्थइं जाणइ)** वह सर्व शास्त्रों को जानता है तो भी **(सिवसुक्खु ण हु लहेइ)** मोक्ष के सुख को नहीं पावेगा।

☆ ★ ☆

९६। **परभाव का त्याग कार्यकारी है।** लो समझ में आया? ९५ में ऐसा कहा, भगवान! यदि तुझे हित करना हो तो आत्मा जिस स्वरूप से है, उसे जान, उसे रुचि में ले और उसका अनुभव कर तो चारित्र हुआ, स्वरूपाचरण हुआ, तीनों हो गये। समझ में आया? और वही अनुभव मोक्ष का मार्ग है। तब यहाँ कहते हैं ऐसे अनुभव में परभाव का त्याग होता है। यह बात करते हैं, देखो! **परभाव का त्याग कार्यकारी है।**

जो णवि जाणइ अप्पु परू णवि परभाउ चएइ।
सो जाणउ सत्थहँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ॥ ९६॥

जो कोई आत्मा को और पर-पदार्थ को नहीं जानता... जो कोई इस भगवान आत्मा पूर्ण परमात्मस्वरूप अभेददृष्टि से नहीं जानता और परभाव को नहीं जानता कि यह पुण्य और पाप, राग और द्वेष मेरे आत्मा के स्वभाव से भिन्न चीज है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव शुभ इस आत्मा से भिन्न चीज है। कभी सुना नहीं होगा। कामदार! हो, यह सुना हो, बापू!

मुमुक्षु – हमें क्या करना?

उत्तर – करना यह। नहीं किया? पूरा आत्मा पड़ा है न? नहीं कैसे? शाश्वत् अनन्त गुण का धाम आत्मा है, परमात्मा यह पुकार करते हैं कि त्रिकाल ऐसा का ऐसा आत्मा है, भाई! तेरी नजर के आड़ से तुझे तेरा निधान नहीं दिखता। समझ में आया? लोग नहीं कहते 'काँख में लड़का और ढूँढ़ने जाए गाँव में' – ऐसा कुछ कहते हैं या नहीं? क्या कहलाता है? कमर... कमर। हाथ ऐसे और ऐसे रह गया, भूल गया, ए... लड़का कहाँ गया? हाथ ऐसा का ऐसा रह गया और अकड़ गया। लड़का ऐसा रह गया, लड़का कहाँ

गया ? कहाँ गया लड़का ? ढूँढ़ने जाए... परन्तु यह रहा यहाँ, देख तो सही ! ऐसा का ऐसा रहा करे, हाथ ऐसा-ऐसा हो गया इसलिए हाथ में लटक-लटक ऐसा नहीं रहा। ऐसा का ऐसा हाथ पकड़ गया और वह लड़का अन्दर में रह गया। ए... लड़का कहाँ गया ? लड़का कहाँ गया ? यहाँ तो देखता नहीं, यह रहा अन्दर। दृष्टान्त आता है या नहीं ? तुम्हारे (हिन्दी में) आता है या नहीं ? 'बगल में लड़का गाँव ढूँढ़े।' हमारे काठियावाड़ में ऐसा (कहते हैं) 'काँख में छोकरू ने गोते बाहर मां।' दृष्टान्त तो एक ही होते हैं न ! भाषा में अन्तर होता है।

कहते हैं, भाई ! तू स्वयं परमात्मा है न ! अन्दर में सम्पूर्ण शुद्ध है। तू ढूँढ़ने कहाँ जाता है ? कहीं सम्मेदशिखर में है भगवान ? शत्रुञ्जय में है ? मन्दिर में है ? मूर्ति में है ? कहाँ है तेरा भगवान ? आहा...हा... ! मेरो धनी है... आता है न अपने ? (समयसार नाटक) 'दूर देशान्तर'... क्या (है) ? 'मोही में है मोको'... कितना पृष्ठ है ? बन्ध अधिकार, परन्तु पृष्ठ कितने ? पृष्ठ का पता नहीं होता। आया... आया।

केई उदास रहैं प्रभु कारन, केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति, केई पहार चढैं चढ़ि छींकै ॥

यह तो शुभभाव है, इतना। बाकी वहाँ भगवान नहीं, तेरा भगवान को यहाँ है।

केई कहैं असमानके ऊपरि, केई कहैं प्रभु हेठे जमींकै।
मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मोहीमें है मोहि सूझत नीके ॥ ४८ ॥

मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मोहीमें है मोहि सूझत नीके ॥ देखो, यह बनारसीदास ने क्या कहा यह, **'मोहि सूझत नीके'**। अरे भगवान ! तेरा तुझे पता नहीं पड़ता, यह तो कोई बात है ? अरे ! यह तू क्या अन्धा है ? कहाँ न हमें तो इसमें प्रत्यक्ष होने का ही गुण है। अनादि-अनन्त गुण है।

मुमुक्षु – यह काल इसे रोकता है।

उत्तर – काल कब इसे रोकता था ? काल, काल के घर रहा। यह भी इसमें बहुत जगह कहा है ? दिवस और पहर वह घड़ी मेरी-मेरी ऐसा कहा है, एक जगह, हाँ ! दिवस घड़ी उसके घर रही। वह कहाँ है ? यह भाई बहुत गाते... दामोदर लाखानी, यह मेरा पहर

और यह मेरा दिन। दिन और पहर तो वहाँ रहे, यहाँ कहाँ अन्दर में आ गये हैं ? समझ में आया ? ऐसा आता है। **मोहीमें है मोहि सूझत नीके**॥ बन्ध अधिकार, ४८वाँ है, बनारसीदास !

अरे... ! भगवान तेरा तेरे पास है, बापू ! कहीं ढूँढ़ने जाये तो वहाँ से मिले ऐसा नहीं है परन्तु न हो उसमें से कहाँ से मिलेगा ? हो उसमें से मिले या न हो उसमें से मिलेगा ? आहा...हा... ! इतना बड़ा मैं ! इसे जमता नहीं। रंक हो गया, रंक – भिखारी। ऐसा हूँ ! ऐसा मैं !

एक छोटी उम्र का बनिये का लड़का था, उसका पिता पच्चीस करोड़ रुपया छोड़ गया... पच्चीस करोड़ ! ननिहाल में... इसको महीने में सौ रुपये दें, खाने-पीने का तो हो ही, जेब में सौ रुपये। फिर यह बड़ा हुआ तो इसे लगा कि मेरे तो लोग अच्छे हों, यहाँ कहीं खाने-पीने जाना हो, मित्र मुझे जिमाते हैं तो मुझे भी जिमाना चाहिए, मुझे अधिक (पैसा) चाहिए। दूसरा व्यक्ति कहता है परन्तु यह सब पच्चीस करोड़ तेरे हैं, यह तो... हैं। है... ! हाँ, तैयार होकर मालिक हो।

इसी प्रकार इस आत्मा में महानिधान पड़ा है, उसका यह स्वामी आहा...हा... ! पता नहीं है, बालक की तरह इसे पता नहीं है। थोड़ा पुण्य करे और थोड़ा राग मन्द करे और कुछ किया तो (ऐसा माने कि) ओ...हो... ! हमने बहुत किया। यह हमारी पूँजी, यह हमारी पूँजी। यह (पूँजी) नहीं। समझ में आया ?

दो बातें की, हाँ ! एक ओर आत्मा है तथा एक ओर रागादि विकारादि पर है। इन दोनों को जाने तो इसका आश्रय लेकर उस परभाव को छोड़े, दो को जाने बिना एक का आदर करना और एक को छोड़ना... ज्ञान तो दोनों का चाहिए – ऐसा कहते हैं। उसमें कहा था अकेले आत्मा का ज्ञान... फिर इसमें दो साथ में लिये। भगवान आत्मा जितनी शुद्धि तुझे प्रगट करनी है, वह सब शुद्धि तेरे सत्व में सत्व में सत्व में पड़ी है। ऐसे आत्मा को जानने से रागादि विकारादि पुण्य-पाप के भाव पर हैं – ऐसा जानकर इसकी ओर ढलने से वे छूट जाएँगे। परभाव को छोड़ना उन्हें जानकर छोड़ना और इसे जानकर आदर करना – ऐसी दो बातें हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

और परभाव का त्याग नहीं करता... सो सयल सत्थइं जाणिइ भले सर्व शास्त्रों को जाने तो भी मोक्ष के सुख को नहीं प्राप्त करता। शास्त्र का पठन... बहुत क्षयोपशम... बहुत क्षयोपशम... क्षयोपशम... क्षयोपशम समुद्र जैसा, परन्तु भगवान जाना नहीं और राग को पृथक् करके छोड़ा नहीं (तो) क्या जाना?

मुमुक्षु – शास्त्र पढ़ने से संवर-निर्जरा होती है, फिर किसलिए निकाले?

उत्तर – अरे...! भगवान! यह तो शास्त्र में आता है। स्वाध्याय करते हुए ज्ञानी को असंख्यगुणी निर्जरा होती है – ऐसा धवल के पहले भाग में आता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि शास्त्र सन्मुख का जो विकल्प है, उससे भी संवर निर्जरा (होते हैं)। ऐसा नहीं है। उस समय उसका घोलन अन्तर सन्मुख ढलता है। समय-समय में मुख्य निश्चय तरफ ही परिणति हो गयी है। उसे इस शास्त्र के स्वाध्याय काल में विकल्प तो जो है, वह तो पराश्रय पुण्य का कारण है, परन्तु उस समय स्वभाव सन्मुख का जितना झुकाव है, उतनी निर्जरा है। वह निर्जरा है। शास्त्र स्वाध्याय के विकल्प से निर्जरा हो, तब तो तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव को बहुत निर्जरा होनी चाहिए। (उसका) गुणस्थान बदलता नहीं, चौथे का चौथा रहता है। तैंतीस सागर तक स्वाध्याय (चले) और अन्त में वह भी ऐसा कहे कि अरे... यह विकल्प छूटे (और) स्थिरता हो उस दिन हमारे निर्जरा विशेष होगी। आहा...हा...! यह मनुष्यपना पायेंगे... हमारे गुणस्थान की दशा स्वर्ग में बढ़ती नहीं है। पुण्य बहुत, पुण्य बहुत न! जहाँ पानी का प्रवाह हो, वहाँ कोई खेती की जा सकती है? बीज डले किस प्रकार अन्दर? टिके किस प्रकार? ऐसे ही सम्यग्दर्शन होने पर भी पुण्य का प्रवाह बहुत है, पुण्य का प्रवाह बहुत है, इसलिए स्थिरता का बीज वहाँ नहीं रह सकता। समझ में आया? नारकी में क्षार जमीन है, जैसे क्षार जमीन में बीज उगता नहीं और पुण्य के प्रवाह में बीज उगता नहीं, ऐसे ही पुण्य के प्रवाह में पड़े हुए देव, स्वरूप की स्थिरता नहीं कर सकते। नारकी में पाप किये वे अन्तर की स्थिरता नहीं कर सकते। सम्यग्दर्शन तक कर सकते हैं। समझ में आया? वह भी अन्त में तैंतीस सागर स्वाध्याय करके... तैंतीस सागर अर्थात् क्या? आहा...हा...! दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम, एक पल्योपम के असंख्य भाग में, असंख्य अरब वर्ष।

मुमुक्षु – गिनती में पकड़ में नहीं आते।

उत्तर – परन्तु अनन्त काल हुआ, बापू! यह तो आदि रहित काल है, असंख्यात अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त (काल) कहाँ रहा, कहाँ रहा, कहाँ रहा? तू है न? है या नहीं? है उसकी अस्ति कहाँ रही? रही कहाँ? देखो न! ऐसा आदि रहित काल में भटकते भव में कहाँ भटका? कहाँ कितना (काल रहा) इसका पता है। ऐसे अनन्त काल के समक्ष यह तैंतीस सागर तो कहीं अनन्तवें भाग है। इस तैंतीस सागर में एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम (होते हैं) और एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्यात अरब वर्ष... इतनी स्वाध्याय करते हैं – ऐसा यहाँ कहना है परन्तु वह गुणस्थान बदलता नहीं। यदि अधिक निर्जरा होती हो तो गुणस्थान बदलना चाहिए। इसमें समझना आया? बहुत निर्जरा होवे तो (बदलना चाहिए)। चौथे का चौथा रहता है। अन्तर की एकग्रता के बिना निर्जरा नहीं हो सकती। पुण्य-बन्धन बहुत करता है।

मुमुक्षु – शास्त्र का अर्थ करने में।

उत्तर – वहाँ शास्त्र का अर्थ करने में... क्या धूल? यह सब समझे बिना के अर्थ करते हैं। सच्ची दृष्टि मिली नहीं और उस दृष्टि के बिना शास्त्र का अर्थ करते हैं। 'जन्मान्ध का दोष नहीं ***आन्तरो,*** जाति अन्ध को दोष नहीं ***आन्तरो,*** जो नहीं जाने अर्थ...' अन्धा अर्थ क्या जाने? 'मिथ्यादृष्टि रे तेथी आतरो, करे अर्थ न रे अनर्थ।' आहा...हा...! वस्तु का जो निश्चय स्वरूप है, व्यवहार स्वरूप है, जैसा उसका अर्थ होना चाहिए, उस प्रकार न करे वह तो कहते हैं 'जाति अन्ध करता मिथ्यादृष्टि आतरो छे, करे अर्थ न रे अनर्थ।' अरे...! वीतराग की पैढ़ी पर बैठकर, वीतराग मार्ग की पैढ़ी पर बैठकर वीतराग के नाम से उल्टे अर्थ करके चलावे बापू! बहुत जवाबदारी है, भाई! बहुत जवाबदारी है, बापू! यह तुझे अभी नहीं लगती। आहा...हा...! वीतराग का मार्ग स्व आश्रय से शुरु होता है। पराश्रय से लाभ मनावे, भाई! वह वीतरागमार्ग नहीं है। तीन काल-तीन लोक में नहीं है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, जिसने आत्मा को जाना, वह परभाव को भी जानता है, परन्तु जानकर न छोड़े तो यह शास्त्र क्या जाना उसने? राग और विकार मेरे स्वभाव से भिन्न हैं

– ऐसा जब भिन्नपना जाना और एकत्वपना रखे तो उसने जाना क्या? समझ में आया? इसलिए कहते हैं कि परवस्तु को, राग-द्वेष को छोड़ता है। अज्ञानी अनादि से कर्मचेतना में ही लीन है, उसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है।

मैं तो परमवीतरागी ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का धारक कर्म-कलंकरहित परमात्मा हूँ। ऐसा उसने ज्ञान शास्त्र पढ़ा परन्तु किया नहीं, जब ऐसा परमात्मा, ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर उसे विकार की एकत्वता टूट जाती है अर्थात् विकार का परभाव का त्याग हो जाता है, उसे त्याग हो गया होगा। दृष्टि में से त्याग हो गया। फिर स्वरूप की जितनी स्थिरता करता जाये, उतनी अस्थिरता मिटती जाती है। ऐसा न हो तो उसने शास्त्र-वास्त्र कुछ नहीं जाना और उसका सार है, वह नहीं समझा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे...

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! – इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं, किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि की तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में देने या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं। *(- आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५४४)*

परम समाधि शिवसुख का कारण है

वज्जिय सयल-वियप्पइ परम-समाहि लहंति।
जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खँ भणंति॥ ९७॥

तजि कल्पना जाल सब, परम समाधि लीन।
वेदे जिस आनन्द को, शिव सुख कहते जिन॥

अन्वयार्थ - **(सयल-वियप्पइ वज्जिय)** सर्व विकल्पों को त्यागने पर **(परम समाहि लहंति)** जो परम समाधि को पाते हैं, **(जं क वि साणंदु विंदहिं)** तब कुछ आनन्द का अनुभव करते हैं **(सिव सुक्खँ भणंति)** इसी सुख को मोक्ष का सुख कहते हैं।

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल ४, शुक्रवार, दिनाङ्क २२-०७-१९६६
गाथा ९७ से ९८ प्रवचन नं. ४१

योगीन्द्रदेव कृत यह योगसार शास्त्र। योगसार का अर्थ यह है कि वास्तविक आत्मा का जो स्वरूप है, उसमें एकाग्र होने की क्रिया को यहाँ योगसार कहते हैं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प में तो अनादि का एकाग्र है, वह तो संसार है, दु:खरूप है। विकार का अनुभव है संसार का; उससे योग अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप में, पवित्र आत्मा, अपना आत्मद्रव्य, अपने स्वभाव से खाली नहीं है। वस्तु स्वयं है, वह वस्तु स्वभाव से रहित – खाली नहीं होती, उसका त्रिकाल स्वभाव आनन्द और ज्ञान है। ऐसे स्वभाव से रहित नहीं हो सकता। ऐसे आत्मा में एकाकार होने को यहाँ योगसार कहते हैं, उसे यहाँ मोक्ष का मार्ग कहते हैं। ९७... अनन्त सुख का अथवा **परम समाधि शिवसुख का कारण है।**

वज्जिय सयल-वियप्पइ परम-समाहि लहंति।
जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खँ भणंति॥ ९७॥

सर्व विकल्प को छोड़कर, देखो! विकल्प है अवश्य... आत्मा अपने आनन्द और अनन्त गुण के शुद्धस्वभाव से कभी रहित हुआ ही नहीं, तथापि अनादि से उसकी दशा में, दशा अर्थात् हालत में, राग के विकल्प – वासना है। समझ में आया? पुण्य-पाप के विकल्प अर्थात् वासना-विकृति, वृत्ति है। उसे छोड़कर... अनादि से दशा में कहीं शुद्ध नहीं है। स्वभाव से शुद्ध कभी खाली नहीं है, यह अलग बात हुई परन्तु उसकी दशा में – हालत में अनादि से शुद्ध है – ऐसा नहीं है। अनादि से शुद्ध हो तो उसे शुद्ध करने का प्रयत्न – पुरुषार्थ कुछ नहीं रहता; इसलिए अनादि से उसकी दशा में अपने स्वभाव को भूलकर पर स्वभाव के लक्ष्य से अनेक प्रकार के शुभ और अशुभभाव उत्पन्न करता है, वह दु:खरूप दशा है, उसे छोड़कर... ऐसा कहा है।

यह तो बहुत संक्षिप्त में बात है न, एकदम सार... सार... सार... है। योग अर्थात् मोक्ष का मार्ग; उसका भी यह सार। जैसे नियमसार... नियम अर्थात् मोक्ष का मार्ग, सार अर्थात् व्यवहार, विपरीतता आदि; निश्चय से विपरीत व्यवहार, उससे रहित। भगवान आत्मा, जिसे आत्मा के हित की लगनी है (कि) अरे! अनन्त काल से यह आत्मा भटका, इसकी दया इसे आती हो, अरे! यह कितना भटका... आहा...हा...! कहीं काल का अन्त नहीं और भाव के दु:ख की कल्पना का पार नहीं। इसलिए पहले से शुरु किया है न! 'चार गति दु:ख से डरे...' यह कोई बात की बात नहीं है। इसे ऐसा लगना चाहिए कि मैं एक आत्मा हूँ और यह चीज और यह अनादि काल से परिभ्रमण के दु:ख क्या है? परिभ्रमण चार गति के चौरासी के अवतार – ऐसे इसके दु:ख की ही दशा और दु:ख की ही खान संसार है। ऐसा जिसे लगे, उसे कहते हैं कि आत्मा का हित करना हो तो यह विकल्प की जाल जो शुभ-अशुभ आदि संसार, विकारभाव, उसका लक्ष्य छोड़ दे। पहले उसका लक्ष्य छोड़ दे और वस्तुस्वभाव अनन्त आनन्द और शान्ति समाधि से भरपूर यह (आत्मा) पदार्थ है – ऐसा विश्वास कर। अर्थात् उसका सम्यग्दर्शन प्रगट कर। समझ में आया?

शान्ति और आनन्द हो, वह मेरे स्थान में, मेरे क्षेत्र में, मेरे भाव में है। ऐसा विकार में शान्ति और सुख अनादि से माना, उसे ऐसे गुलाट खाकर, राग की एकत्वबुद्धि छोड़कर, स्वभाव की एकता करके आत्मा में आनन्द है, शान्ति है, उसके स्वाद के समक्ष जगत का सभी स्वाद फीका है – ऐसी दृष्टि हो, फिर विकल्प को छोड़कर स्थिर हो। यह तो चारित्र के अधिकार की विशेष बात है न! विकल्प को छोड़कर। **परम-समाहि लहंति** परम शान्ति पाता है। भगवान आत्मा में जो शान्ति... शान्ति... शान्ति... जिसका स्वभाव है। समाधि कहो, शान्ति कहो, समभावरूप अमृत, समस्वरूप अमृत वीतरागभाव कहो – ऐसा जो आत्मा, वह विकल्प को छोड़कर और निर्विकल्प आनन्द के लाभ को प्राप्त करे, उसे परम शान्ति पाना कहते हैं।

जो परम समाधि को प्राप्त करता है। यह पर्याय की बात है, हाँ! वस्तु तो त्रिकाल... त्रिकाल परम शान्ति और समाधि से ही भरपूर पदार्थ है। वस्तु हो, उसका स्वभाव निर्दोष ही होता है। वस्तु का कोई सदोष स्वभाव नहीं होता; सदोषता तो दशा में – हालत में – पर्याय में होती है। वस्तु तो निर्दोष स्वभाव से भरपूर (पदार्थ है)। निर्दोष स्वभाव कहो या समाधिस्वरूप कहो, या वीतराग समरस कहो – ऐसे आत्मा का, पुण्य-पाप के विकल्प को छोड़कर अनुभव करना, तो वह शान्ति को प्राप्त करता है। वह शान्ति अर्थात् आत्मा के आनन्द के सुख को पाता है। यहाँ तो बहुत ही संक्षिप्त में और रोकड़िया की बात है। समझ में आया? इस संसार में भी नगद का धन्धा है। जितना विकल्प करे उतना दुःख, उसी काल है और कर्म बाँधेगा तथा संयोग मिलेंगे, वह तो बाहर की चीजें रहीं, परन्तु जितना आत्मा के स्वभाव से विपरीत भाव किये, वे भाव दुःखरूप का वेदन उसी काल में है। १०२ गाथा में आता है न? 'उस समय कर्ता और उस समय भोक्ता' **करइ वेदइ** १०२ (गाथा), कर्ता-कर्म (अधिकार) समयसार! उसी समय भोक्ता है, समझ में आया?

कहते हैं कि जितने पुण्य-पाप के विकारी भाव करे, उतना रोकड़िया दुःख उस काल में है। रोकड़िया समझे? धन्धा करते हैं, रोकड़िया धन्धा करे, कोई उधार का धन्धा करे। पहले पैसे दे फिर धन्धा। इन वकीलों का ऐसा धन्धा होता है। हम कहाँ उगाही लेने

जाएँगे तेरे घर ? ऐसे यहाँ कहते हैं; रोकड़िया धन्धा है। भगवान आत्मा अपने स्वभाव से भरपूर पदार्थ है, उसे भूलकर जितने विकारी भाव करे, वह रोकड़िया दु:ख है, उसी क्षण में उसे दु:ख है। ठीक होगा यह ? यह सब लहर करते दिखते हैं न ? यह सब पैसा, खाना – केला, पूड़ी उड़ावे, दूध-पाक और अरबी के गरम-गरम भुजिये और उसमें फिर जवान इकट्ठे हुए हों और उसमें पाँच-पचास लाख की आमदनी हुई हो और फिर देखो इनका जलसा उड़ता हो। यह सुख होगा या क्या होगा ?

कहते हैं कि भाई ! आत्मा आनन्दस्वरूप है, प्रभु ! वह अतीन्द्रिय समाधि का पिण्ड प्रभु है। जैसे चैतन्यपिण्ड है, वह ज्ञान की अपेक्षा से; आनन्द पिण्ड है, वह सुख की अपेक्षा से; ऐसे चारित्र का पिण्ड है, वह समभाव की अपेक्षा से (है)। समझ में आया ? यह समाधि समभाव। यह समभाव का पिण्ड है और वह सुख का पिण्ड कहा, (इसलिए) वह प्रत्येक एक-एक गुण का वह पिण्ड है। एक-एक गुण से पूरा भरा पड़ा है, एक गुण सर्व व्यापक है न ? इसलिए एक गुण से देखो तो एक गुणमय ही सब इकट्ठा है – ऐसे आत्मा को अन्तररुचि और ज्ञान में न लेकर पर-पदार्थ की रुचि और ज्ञेय बनाकर पर का ज्ञान करने से, उसमें राग-द्वेष की उत्पत्ति करके, पर की श्रद्धा और पर का ज्ञान तथा पर सम्बन्धी पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के विकल्प, बस ! यह दु:खरूप है। समझ में आया ?

उसे कहते हैं कि वर्जकर **'परम शांति लहंति'** भगवान आत्मा दु:ख के दावानल के विकल्प की जाल को छोड़े अर्थात् भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप अथवा समरस वीतरागस्वरूप में एकाकार होने पर उसे समरस का – शान्ति का स्वाद आवे, यह उसे धर्म कहते हैं। आहा...हा... ! धर्म की अद्भुत व्याख्या, भाई ! यह सामायिक की बात अपने दोपहर में आ गयी है और अभी इसमें भी सामायिक की बात आएगी। सामायिक में आनन्द आना चाहिए – ऐसा कहते हैं। भगवानजीभाई ! यह सामायिक किसी दिन सुनी नहीं (होगी)। सम + अय + लाभ = समता का लाभ। प्रगट, हाँ ! स्वरूप में तो समता का पिण्ड ही आत्मा है परन्तु उसे पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्ति से हटकर; और यहाँ से हटे तब कहीं एकाग्र होगा न ! यह अपना आनन्द अथवा समतास्वरूप, चारित्रस्वरूप;

स्वयं चारित्रस्वरूप त्रिकाल है, उसमें एकाकार होने पर राग-द्वेष और विकल्परहित जो स्थिरता की शान्ति प्रगट होती है, उसे भगवान सामायिक कहते हैं। आहा...हा... ! यह सामायिक कहो, या समाधि कहो। समझ में आया ?

अपने उसमें आया था न ? भाई ! (नियमसार में) परम समाधि अधिकार आया न ! और परम समाधि के अधिकार में सामायिक आयी। **'इदि केवलिसासणे' 'इदि केवलिसासणे'** यह सब गाथाएँ परम समाधि अधिकार में ही आयी है। समझ में आया ? परम समाधि अधिकार में सामायिक की बात आयी थी। बहुत गाथाएँ सामायिक की आयी। वह तो अब पूरा हुआ, अब दोपहर में तो भक्ति अधिकार चलता है।

कहते हैं, भगवान आत्मा अपने स्वरूप से विपरीत – ऐसे राग के विकल्पों को, वासना को छोड़कर, भगवान आत्मा का आश्रय – अवलम्बन लेकर अन्तर में जो शान्ति प्रगट होती है, **तब कुछ आनन्द का अनुभव करता है...** तब अतीन्द्रिय आनन्द थोड़ा (आया)। यहाँ तो थोड़े की बात है। **कवि साणंदु 'कवि'** अर्थात् कोई आनन्द अर्थात् किसी प्रकार का अलग आनन्द, ऐसा। संसार का जो आनन्द है, वह तो दुःखरूप है। वह आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द ! आहा...हा... !

'आशा औरन की क्या कीजै, ज्ञान सुधारस पीजै...
आशा औरन की क्या कीजै,
भटकत द्वार-द्वार लोकन के कूकर आशाधारी,
आतम अनुभव रस के रसिया, उतरे न कबहूं खुमारी,
आशा औरन की क्या कीजै,

भटकत द्वार-द्वार लोकन के कूंकर आशाधारी,' कुत्ता होता है न कुत्ता ! जहाँ-तहाँ बटकु... बटकु दे। बटकु समझे ? टुकड़ा... टुकड़ा... टुकड़ा। टुकड़े के लिए... इसी प्रकार यह अज्ञानी जहाँ-तहाँ मुझे कुछ सुख दो न, स्त्री का पैसे का, धूल का... कुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ भटकता है। कुछ पैसे में सुख, कुछ धूल में, कुछ इज्जत में, कुछ कीर्ति में, कुछ लड़कों में, कुछ शरीर में, कुछ सुन्दरता में... आहा...हा... ! 'भटकत द्वार-द्वार

लोकन के कूकर आशाधारी, आतम अनुभव रस के रसिया, उतरे न कबहूं खुमारी, आशा औरन की क्या कीजै, ज्ञान सुधारस पीजै।' आशा... आ...हा...!

किसकी आशा की? भाई! कहाँ स्वर्ग में कहीं सुख है? कहाँ देवों में सुख है, लेश्या में सुख है, शरीर में (सुख है)। अरे! पुण्य-पाप के भाव में सुख है? कहाँ सुख है? भाई! वह सुख तो भगवान आत्मा के अन्दर में है, उसके ज्ञानरस को पी! ज्ञानानन्द के निर्विकल्प रस का पान पी। आहा...हा...! 'कूकर आशाधारी' हाय... हाय...! कहीं मिलेगा, दूसरे बड़ा कहे और अच्छा कहे, शास्त्र पढ़ा हुआ, व्याख्यान करना आवे, बहुतों का रंजन करे (कहते हैं) भिखारी है। जहाँ-तहाँ यह मुझे ठीक कहे, ठीक कहे। क्या है परन्तु तुझे? शरीर कुछ सुन्दर हो तो ऐसा बताना चाहे। दर्पण में देखते हैं न? सबेरे देखो भूत की तरह (देखते हैं)। छोटा दर्पण हो तो बहुत ऐसा करना पड़े, बड़ा हो तो फिर (ठीक)। छोटा दर्पण और सिर बड़ा (होवे), यह लक्षण इस समय देखने हों तो भूत जैसे लगते हैं, हाँ! उसमें फिर हाथ में वह रह गया हो... कंघा! और एक ओर तेल। आहा...हा...! कहीं सुख, कहीं सुख। इसमें से सुख, इसमें से सुख। अच्छा दिखूँ तो सुख, मैं अच्छा दिखता हूँ न? शरीर अच्छा दिखे तो सुख, आहा...हा...! भगवान तू कहाँ भटका, कहते हैं, हैं! कपड़ा-बपड़ा ठीक हो, अप-टू-डेट ऐसा लगता हो, कपड़े में डाले कोई इत्र-वित्र ऐसा डालते हैं न? सेण्ट डालते होंगे परन्तु ऐसा डालकर चलते हैं। हम तो... वह अपने 'वेणीभाई', नहीं थे? राजकोट! वे प्रतिदिन सामने मिलते थे। बक्षी! प्रतिदिन तीन-चार गाँव घुमते प्रतिदिन नागर, नागर थे। सामने हर रोज मिलते। सेन्ट अन्दर से सुगन्ध मारे। चारों चले जायें, छह-छह मील तक चलें। छह मील चलें, तब ***लोटोभाडे*** – ऐसा दर्द था कुछ। उस दिन यह देखा, ऐसा साथ में निकले, तब वह कपड़े की गन्ध मारती हो, आहा...हा...! सेन्ट से सारा, पेन्ट से सुधरे हुए, इससे सुधरे हुए, बाल से सुधरे हुए, कपड़े से सुधरे हुए, गहनों से सुधरे हुए और बाहर के मकान और मकान की सब घरेलू चीजें – फर्नीचर कहो, तुम्हारी भाषा बदलनी है न! उससे हमारी शोभा! प्रभु! तू कहाँ भटका है तू? क्यों, भीखू भाई! सत्य बात होगी यह? आहा...हा...!

कहते हैं, भाई! यह सुधारस का सागर तो तू है। हैं! सुधारस का सागर तू है, उसमें

डूबकी मारना छोड़कर यह तूने कहाँ डूबकी मारी ? कहते हैं, प्रभु ! एक बार तो देख ! इस विकल्प को छोड़। तब तुझे कुछ आनन्द का अनुभव आयेगा। समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सामायिक कहते हैं। कामदार ! किसी दिन यह सब सुना नहीं। णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं (किया है)।

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ समाधि के पिण्ड हो गये प्रभु की वाणी में आया था। सामने बड़े इन्द्र थे। अहो जीवों ! यह परसन्मुखता के विकल्प... यह मुनि कहते हैं, वह भगवान की वाणी में आया है वह मुनिराज कहते हैं। कोई घर का कुछ नहीं कहते हैं। समझ में आया ? परमात्मा आनन्द, पूर्णानन्द, समाधि के पिण्ड हो गये, भगवान हैं। जिन्हें विकल्प नहीं होता, इच्छा के बिना वाणी का प्रपात निकलता है। ओम... ओम... ओम... निकलता है, ओम... ध्वनि सम्पूर्ण शरीर से (निकलती है) क्योंकि खण्ड-खण्ड मिट गया है। यह खण्ड-खण्ड है, इसलिए यह वाणी खण्ड-खण्ड निकलती है। अखण्ड आत्मा पूर्ण हो गया तो वाणी भी घनघोर एक धार निकलती है। ओम.... ओम्कार धुनि सुनि.... समझे न ? ओमकार ध्वनि सुनकर अर्थ गणधर विचारे, अर्थ गणधर विचारे। वे यह सब आगम है। सन्तों के द्वारा कथित यह सब आगम है। है भगवान की वाणी के अनुसार, आत्मा में दशा हुई और फिर यह वाणी स्वयं स्वत: निकली है। भाई ! तुझे सुख चाहिए हो तो प्रभु तो अन्तर में आनन्द है, हाँ ! उस आनन्द को देख न !

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार।
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं बार॥

कहो, कामदार ! श्रीमद् का पढ़ा है या नहीं। यह उसकी लाईन है। समझे कुछ ? यह अन्तिम लाईन थी। जब श्रीमद् का देह छूटने का लगभग काल था, उसके पहले की यह अन्तिम कड़ी है। 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार, अन्तर्मुख अवलोकते....' इस अन्तर्मुख चैतन्य प्रभु के सन्मुख देख। 'विलय होत नहीं बार' इस शुभाशुभ राग का नाश होने में देर नहीं। भगवान ! तुझमें नहीं, इसलिए नाश हुए बिना नहीं रहेगा।

इसी सुख को मोक्ष का सुख कहते हैं। लो ! अन्तिम शब्द है न ? '**सो सिव -सुक्खँ भणंति**' यह चौथा पद है। उसे मोक्ष के सुख की वानगी (नमूना) कहते हैं। माल

ले, तब वानगी कुछ होती है न ? तो उसकी जाति की वानगी होती है या नहीं ? वानगी को क्या कहते हैं ? नमूना। रुई का बड़ा ढेर हो तो थोड़ा पाव सेर निकाल कर – ऐसा देखते हैं। इसी प्रकार आत्मा आनन्द का महापिण्ड है। उसे पुण्य-पाप के विकल्पों की रुचि छोड़कर और आश्रय छोड़कर स्वरूप में जा (तो) उस आनन्द के पिण्ड में से तुझे आनन्द के नमूने का वेदन होगा और वह आनन्द का नमूना पूर्ण मोक्षसुख का कारण है – (ऐसा) तुझे ख्याल में आयेगा। मोक्ष में पूर्ण आनन्द है, उसका यह थोड़ा सा नमूना है। समझ में आया ?

यह तो योगसार है। एकदम सार वस्तु रखी है। **मोक्ष का सुख आत्मा का पूर्ण स्वाभाविक सुख है, जो सिद्धों को सदा काल निरन्तर अनुभव में आता है। ऐसे सुख का उपाय भी आत्मिक आनन्द का अनुभव करना है। सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है।** यह थोड़ा न्याय डाला है। क्या कहा ? उस ओर है। सुखी आत्मा पूर्ण सुख का कारण होता है। दु:ख अन्दर वेदे और पूर्ण मोक्ष का कारण होगा ? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप के आनन्द का अनुभव लेने पर वह सुखी आत्मा सुख का उपाय – पूर्ण सुख का कारण होता है। क्या कहा ? समझ में आया ? यह पाठ फिर ऐसा आया न ? **'जं विंदहिं साणंदु क वि, सो सिव-सुक्खँ भणंति'** इसलिए जरा स्पष्टीकरण किया। **सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है।** दु:खी आत्मा पूर्ण सुखी होगा ? सुखी भगवान आत्मा, स्वयं का दर्शन किया, दर्शन किया, अवलोकन किया और स्थिर हुआ। यह तीन हुए – श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र।

अपना स्वरूप पूर्ण शुद्ध आनन्द का दर्शन किया अर्थात् रुचि हुई; अवलोकन किया ज्ञान किया; स्थिर हुआ, तब उसे आनन्द की प्रगट दशा की वानगी मिली। उस वानगी की दशा सुखी होती हुई पूर्ण सुखी होगी। उस पूर्ण सुख के मोक्ष को वही साध सकेगी – ऐसा कहते हैं। अन्दर कष्टदायक (नहीं है)। अरे... अपवास किया और कष्ट हुआ न... अरे... ! यह तो आर्तध्यान है। यह धर्मध्यान है ? ऐसा कहते हैं। यह अपवास किया, (तब) भाई को बहुत परीषह आया था, हाँ! और बहुत परीषह सहन हुआ (इसलिए) निर्जरा बहुत (हुई)। किसकी निर्जरा, धूल की... उसे अरुचि तो लगी है, वह

तो आर्तध्यान है। आर्तध्यान में सहन कहाँ किया था? वह तो दुःख है, दुःखी हुआ आत्मा सुख की पूर्ण दशा को साधेगा? सुखी हुआ आत्मा पूर्ण सुख को साधेगा। समझ में आया? आहा...हा...! **कठिनता से पूरी करे....** कष्ट क्रिया कर-करके यह महाव्रत पालना, यह दया पालना, पूरा किया, पूरा करने दो न अब, यह तो खेद है, यह तो दुःख है। यह तो कष्ट है, अरुचिकर है, आर्तध्यान है, पाप करना है। इस परिणाम से, इस दुःख के परिणाम से, पूर्ण सुख का स्वरूप – मोक्ष मिलेगा?

इसलिए कहते हैं कि **सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है**। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आया? भगवान सुखी आत्मा की बात (कही), वह पर्याय की बात है, हाँ! सुखी तो त्रिकाल है आत्मा। उसकी दर्शन-ज्ञान और अवलोकन की स्थिरता होने पर जो सुखदशा हुई, वह सुखी, पूर्ण सुख को प्राप्त करेगा। दुःखी पूर्ण सुख को प्राप्त करेगा? आर्तध्यान में आया हुआ, राग में आया हुआ, अरुचि में आया हुआ, वह मोक्ष की ओर जाएगा? समझ में आया? आहा...हा...!

छहढाला में आता है न? भाई! नहीं? वैराग्य में दुःख लगता है, नहीं आता, कष्टदान... क्या? 'आतमहित हेतु वैराग्य ज्ञान... कष्टदान' भाई! चारित्र तो कष्टदायक है, यह बालू के ग्रास जैसा है। बालू... यह चारित्र ऐसा होगा? भाई! तुझे पता नहीं है, भाई! चारित्र तो आनन्ददाता है, उसे तू दुःखदाता माने तो तुझे चारित्र के गुण की, श्रद्धा की खबर नहीं है, समझ में आया? छहढाला में बहुत बात ली है।

जो आत्मा का ज्ञान और वैराग्य अर्थात् राग से हट जाना, वह सुखदाता है, उसे कष्टदाता मानता है, भाई! बापू! यह करके तो देखो! पंच महाव्रत पालकर तो देखो! नग्न तो रहकर देखो! प्रतिमा धारण करके कष्ट तो सहन करके देखो! यह क्या कहते हैं? अरे! भगवान! तू क्या कहता है? भाई! यह कष्ट सहन का भाव तो आर्तध्यान हुआ, भाई! उसमें तो दुःखरूप दशा है, वह दुःखरूप दशा, मोक्ष जो पूर्ण सुख, उसे साधेगी? सुखी हुआ आत्मा सुख को साधता है। आहा...हा...! कहो, दोशी! समझ में आता है या नहीं इसमें? वहाँ मुम्बई में ऐसी सूक्ष्म बात नहीं आती, हाँ! वहाँ तो सब अमुक प्रकार की आती है। वहाँ तो दस-दस, बारह, पन्द्रह हजार लोग आते हैं, वह तो

अमुक प्रकार की बात (आती है), दृष्टान्त आते हैं, अमुक आता है, बड़े शहर में कुछ दिन थोड़ा रहना उसमें... आहा...हा...!

कहते हैं, भाई! प्रभु! तेरी प्रभुता तो तेरे पास है न, भाई! उस प्रभुता में तो आनन्द की प्रभुता तेरे पास है। उसे पुण्य-पाप के रागरहित सुखी दशा प्रगट करके, आत्मा में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, इसका अर्थ कि सुखी दशा करना; दुःख की दशा का अभाव करके सुखी भगवान आत्मा का आश्रय लेकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट करना, वह सुखरूप दशा है। वह सुखी हुआ, सुख में आया हुआ आत्मा पूर्ण सुख को साधता है। आहा...हा...! यह कहा है न इसमें? **जं विंदहिं साणंदु सो सिव-सुक्खं भणंति**। समझ में आया?

आत्मिकसुख का स्वाद प्राप्त करने का उपाय अपने ही शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधि की प्राप्त करना है। तत्त्वज्ञानी को जरूर उचित है कि वह पहले गाढ़ विश्वास करे कि मैं ही शुद्धसमान शुद्ध हूँ। पहले गाढ़ (श्रद्धा) करे कि इन्द्र और नरेन्द्र कोई आवे और बदलावे (तो भी) तीन काल में नहीं बदले। मैं स्वयं शुद्ध आनन्दकन्द सिद्धसमान ही मेरा स्वरूप है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा दृढ़ विश्वास करके, **मेरा द्रव्य कभी स्वभावरहित नहीं हुआ**। मेरा भगवान, मेरा भगवान, मेरा भगवान महिमावन्त स्वभाव से खाली नहीं है। मेरा भगवान, यह वस्तु भगवान! महिमावन्त स्वभाव से भगवान खाली नहीं होता। महिमावन्त स्वभाव! अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त परमेश्वरता... स्वरूप के अनन्तपने की दशा को करे, कर्म करे, शान्ति साधन स्वयं करे। ऐसे एक-एक गुण की अनन्त महिमा का धारक भगवान महिमावन्त प्रभु, उसके गुण की महिमा के स्वभाव से कभी खाली नहीं होता। यह विश्वास आये बिना उसकी ओर का झुकाव करना नहीं हो सकता। स्थिरता, समझ में आता है? चारित्र, चरना।

ऐसा अन्दर भगवान परमानन्दमूर्ति, जिसके महिमावन्त स्वभाव से कभी रहित हुआ ही नहीं। पर्याय में अल्पता, विकल्पता भले हो; स्वरूप है, वह तो पूर्णानन्द से रहित कभी नहीं होता – ऐसा जिसे अन्तर दृढ़ विश्वास आया, उसे स्वरूप में स्थिरता का वह

स्थान मिला। समझ में आया? वह स्थिरता का धाम मिला, यहाँ ठहरना, यहाँ रहना, जितना यहाँ स्थिर हुआ, उतना आनन्द प्रगट होगा। समझ में आया? आहा...हा...!

फिर थोड़ी लम्बी बात है। **स्वानुभव की कला सम्यक्त्व होते ही जग जाती है।** लो! समझ में आया? भाई! आत्मा (ने) अपने स्वभाव की रुचि की कब कहलाये? कि वह स्वभाव उसके ज्ञान में भासित हो। आत्मा का स्वभाव शुद्ध आनन्द, जिसकी ज्ञानदशा में भाव भासे, भाव भासे, तब उसका विश्वास आवे, तब उसे उसमें स्थिरता से कल्याण होगा, इस प्रकार चारित्र की दशा प्रगट होती है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। व्यवहार की आड़ में लोगों को मार डाला है। व्यवहार के थोथे के थोथे विकल्प की जाल, उसमें मानो सब हो गया धर्म और सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण और.... है! तुम्हारे 'नागनेश' में बहुत होता है, नहीं? यह सब भी करते होंगे न? तुमने भी किये होंगे? यह भी शामिल थे न? यह मुख के सामने बैठते, सामने दुकान, जल्दी सबेरे आवें। पता है? सबेरे जल्दी चार बजे आवें... ऐसा हो जाता है परन्तु यह मूलचन्दभाई क्या करने बैठे हैं वहाँ? छोटा भाई! पता है न? छोटे भाई को तो पता होगा। 'मूलचन्द रतन', उपाश्रय के सामने दुकान.... ऊ.... करते-करते झपकी ले ले। अरे... भगवान!

आत्मा का स्वभाव... भाई! उसके ज्ञान में भाव भासित नहीं हुआ, उसका विश्वास उसे कैसे आवे? जो आत्मा का वस्तुस्वरूप है, उसका – ज्ञान का भान हुए बिना, उसके भाव का भासन, भासन कहो या ज्ञान कहो, भाई! टोडरमलजी ने भावभासन शब्द बहुत प्रयोग किया है। टोडरमलजी भावभासन शब्द बहुत बार प्रयोग किया है। उसका यह हेतु है। भावभासनरहित श्रद्धा, वह श्रद्धा नहीं है। समझ में आया? ऐसे का ऐसा मान लेना कि यह आत्मा है और यह परमात्मा सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ है तो तुझे भावभासित हुआ है? सर्वज्ञ एक समय में तीन काल, तीन लोक जानते हैं। समझ में आया कुछ? ऐसी महिमावाला ज्ञान, तुझे अन्दर भासित हुआ है? कि ऐसी अस्ति जगत में है। कब भासित हो? कि मैं भी स्वयं सर्वज्ञस्वभावी हूँ। उन्हें प्रगट हुई है, मैं सर्वज्ञस्वभावी हूँ – ऐसा सर्वज्ञ शब्द से ज्ञानस्वभाव। ज्ञान शब्द से फिर उसमें पूर्ण। अपूर्ण होता ही नहीं, वह ज्ञानस्वभाव अर्थात् सर्वज्ञस्वभाव। ऐसे स्वभाव का ज्ञान में

भासन हुए बिना, उस आत्मा की श्रद्धा भावभासन बिना सच्ची नहीं हो सकती और उसके बिना चारित्र नहीं हो सकता। समझ में आया? लो!

सम्यग्दृष्टि को स्वानुभव करने की रीति मिल जाती है। इस ओर है। धर्म की दृष्टि हुई, तब उसे कला हाथ में लग गयी कि यह अनुभव ऐसे करना। एक बार मार्ग देखा हो न तो दूसरी बार उसे सरल पड़ता है। धवल में आता है न? भाई! '**दीठमग्गे**' – ऐसा शब्द बहुत आता है। धवल की टीका में वीरसेनस्वामी कृत टीका में '**दीठमग्गे**' (अर्थात्) देखे हुए मार्ग में ज्ञानी जाता है। अज्ञानी भी देखे हुए मार्ग में जाता है। विपरीत श्रद्धा और विपरीत मान्यता के मार्ग में वह चला जाता है। समझ में आया? '**दीठमग्गे**' जिसने भगवान आत्मा की केडी (पगडण्डी) ली है, केडी समझे न? यह रास्ता, पैदल की पगडण्डी होती है न पगडण्डी। यह... पगडण्डी गयी। ऐसे धर्मी के ज्ञान में आत्मा के स्वभाव का भान होने पर उसका मार्ग दिखा है कि इसमें स्थिरता से शान्ति मिलती है। इसलिए उसने देखे हुए मार्ग में वहाँ रमता है। आहा...हा...! समझ में आया? गाथा में इतना भरा है, इतना भरा है!! समझ में आया?

कहते हैं, **आत्मवीर्य की कमी से सर्व ही सम्यक्त्वी ऐसा नहीं कर सकते तब शक्ति के अनुसार गृहस्थी में यदि रहते हैं तो....** पूर्ण आनन्द और सन्तपना प्रगट न कर सके तो गृहस्थाश्रम में रहकर भी **समय निकालकर आत्मानुभव के लिए सामायिक का अभ्यास करते हैं।** देखो, सामायिक का अभ्यास आया है। सामायिक है न यह? समाधि है न यह? गृहस्थाश्रम में भी मुनि जितना समय उसे नहीं मिले तो आत्मा के अन्तर अनुभव की धारा के मार्ग में जाना – ऐसा थोड़ा समय निकालकर सामायिक में वह समय निकालता है। समझ में आया? **सामायिक का अभ्यास करता है... समय निकालकर आत्मानुभव के लिए सामायिक का अभ्यास करता है।** फिर बहुत बात की है।

तत्त्वानुशासन में कहते हैं – **समाधिभाव में तिष्ट कर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव न हो तो उसके ध्यान नहीं है।** 'तत्त्वानुशासन' में; तत्त्व-अनुशासन शिक्षा। भगवान आत्मा... कहते हैं कि उसका ध्यान करे और उसे आनन्द न आवे तो वह ध्यान

ही नहीं है। जो वस्तु आनन्दमूर्ति है, उसमें एकाग्र हुआ – ऐसा कहना और फिर आनन्द न आवे! वह मिथ्या (है)। ध्यान करते हैं, ध्यान करते हैं (– ऐसा बहुत से कहते हैं)। इसका ध्यान? आत्मा का। आत्मा का? आत्मा क्या है? क्या कहा भाई! भाई! राग का ध्यान कर तो राग का स्वाद आयेगा; उसका आकुलता का स्वाद आये बिना नहीं रहेगा परन्तु उस आकुलता की इसे तुलना नहीं है। मिंडवनी अर्थात् तुलना। यह आनन्द है और (यह) आकुलता है। इस आनन्द को देखे तो उसके साथ मिलान करे कि यह आकुलता है। एक माल देखा हो तो दूसरे माल के साथ मिलान करे कि यह बाजरा... क्या कहलाता है? मूँग के दाने जैसा। बाजरा होता है न, रोटी (होती है)। यह मूँग के दाने जैसा, ज्वार मोती के दाने जैसी, ऐसी सब बनियों की भाषा होती है। देखो, मूँग के दाने जैसा बाजरा है। चेतनजी! ज्वार होवे तो मोती के दाने जैसी कहें परन्तु वह अच्छी दिखती हो तो किसी के साथ मिलान करते हैं कि यह मोती के दाने जैसी ज्वार है (और) यह ज्वार वैसी नहीं है, भाई!

इसी प्रकार आत्मा को आनन्द का स्वाद दृष्टि में आया हो तो रागादि आकुलता है – ऐसे उसके साथ मिलान करे, आहा...हा...! यह आकुलता है, यह आनन्द की जाति नहीं है परन्तु जिसे आनन्द का ही जहाँ पता नहीं है, उसे यह आकुलता है – ऐसा किसके साथ मिलान करेगा? यह आकुलता ही उसका सर्वस्व स्वरूप मानेगा। समझ में आया?

समाधिभाव में... यह तत्त्वानुशासन का श्लोक है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव न हो और वह ध्यान करे... सब करते हैं न, कितने ही अन्यमत में? ॐ... ॐ... ॐ.... बापू! यह ध्यान नहीं है। यथार्थ ध्यान तो उसे कहते हैं कि जो आत्मा वस्तु सर्वज्ञ ने देखा और है, वह तो आनन्दमय है, ऐसे अनन्त गुणवाला है, क्योंकि आनन्द है, उसकी रुचि है, उसका ज्ञान है, उसका वीर्य है, उसकी स्थिरता है, अस्तित्व है, वस्तुत्व है, प्रमेयत्व है, ज्ञान में ज्ञात हो – ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड है। ऐसे आत्मा का यदि ध्यान हो और अतीन्द्रिय आनन्द न आवे तो वह ध्यान भी झूठा-मिथ्या है। कुछ कल्पना से मानता है कि मैं ध्यान करता हूँ।

(एक कहता है) पीला दिखा... एक व्यक्ति पूछता था, नहीं? एक प्रतिमाधारी था, एक था न? भाई था न? चिदानन्दजी! यहाँ दो तीन बार रहे थे न? हाथवाले नहीं? वे चिदानन्द, हाथ ऐसा था न! उनके साथ एक प्रभुजी थे। उनका नाम प्रभु, फिर यहाँ आये। सात प्रतिमाधारी, नाम प्रभुजी। पानी लेकर आये हों और... सिर पर लेकर आवें, सात प्रतिमाधारी.... फिर उनसे पूछे कि आत्मा कैसा? तो कहे लाल। आत्मा लाल है। शाम को एक आर्यिका आयी थी, बहुत थकी हुई (थी)। वहाँ किसी ने पूछा होगा, यहाँ तो आत्मा की बात है। आत्मा कैसा? पहले हो लाल और फिर दिखे सफेद। आर्यिका थी। फिर थक गये। पट्टी-बट्टी रखे, पानी तो पीवे नहीं, छाछ समझे, मट्ठा, लू बहुत लगी थी, ऐसे कहीं से शाम को चलते हुए आये, ऐसी गर्मी लगे, पानी पीवे नहीं, छाछ ले नहीं। (लोग कहें) परीषह सहन किया। आर्तध्यान है बापू! उसे पूछा तब कहे, आत्मा पहले लाल हो फिर सफेद। आहा...हा... ! अभी तो आत्मा का पता नहीं पड़ता और यह प्रतिमाएँ और व्रत और वहाँ चढ़ गये थे।

(यहाँ) कहते हैं, भाई! जिसे ऐसा है कि हम ध्यान, धर्मध्यान करते हैं... ऐसा तो लोग कहते हैं या नहीं। हम धर्मध्यान करते हैं तो धर्मध्यान की व्याख्या क्या? धर्म ऐसा जो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, उसका ध्यान। अत: उसके ध्यान में यदि एकाग्र हुआ हो तो ध्यान (है)। उस एकाग्रता में यदि अतीन्द्रिय आनन्द न आवे तो वह ध्यान ही नहीं है। समझ में आया? लो! **वह मूर्च्छावान अथवा मोही है**। आचार्य कहते हैं, हाँ! तत्त्वानुशासन... तत्त्वानुशासन किसका है? रामसेनजी का है।

यहाँ कहते हैं.... इस बात में न्याय है, श्लोक लिखा है, देखो –

समाधिस्थने यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः॥ १६९॥
तदेवानुभवँश्चायमेकाग्र्य परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरं॥ १७०॥

दिगम्बर मुनियों ने, सन्तों ने तो बहुत संक्षिप्त में बहुत माल भर दिया है। मूल सत्ता को स्थिरता द्वारा, चारित्र के द्वारा अनुभव किया है। आहा...हा... ! समझ में आता है न?

और शाश्वत् मार्ग जो था, उस मार्ग को स्वयं स्वत: अनुभव किया है। ऐसी संक्षिप्त में बात की है। चारित्रसहित में रहनेवाले इसलिए आहा...हा...! कहते हैं, जिसे आत्मा का धर्मध्यान कहते हैं, उस धर्म के ध्यान में यदि आत्मा को आनन्द न आया हो तो उस प्राणी को मूर्च्छावान और मोही कहते हैं। कहीं मूर्च्छित हो गया है, इसलिए यहाँ आनन्द नहीं आता है। आहा...हा...! समझ में आया? कहीं अर्पित हो गया लगता है। घर की स्त्री ऐसी पद्मनी जैसी हो परन्तु प्रेम न लगता हो, तब फिर उसे घर की स्त्री को शंका हो जाती है, कहीं इसका मन अन्यत्र रमता लगता है। अन्यत्र कहीं है, यहाँ मन नहीं लगता। पहचान ले, फिर उसे द्वेष हो जाये, हाँ! उसे पता पड़े कि यह साथ में है। जगत् में ऐसा रिवाज है।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, परमात्मा आनन्द की मूर्ति प्रभु है और उसका यदि यह ध्यान किया हो और आनन्द न आवे तो वह कहीं मूर्च्छित हो गया है। कहीं पुण्य और पाप के प्रेम में फँस गया है। आहा...हा...! किसी शुभ-अशुभ वृत्ति या किसी विकल्प में फँस गया है। यदि फँसा न होता तो धर्मध्यान तो जिसका ध्यान करे उसमें तो आनन्द है उस ध्यान में आनन्द क्यों नहीं आयेगा? समझ में आया?

यह तो तत्त्वानुशासन है न? **जब ध्यान करते हुए आत्मा का अनुभव प्रगट होता है, तब परम एकाग्रता मिलती है तथा तब ही वह वचनों से अगोचर आत्मीक आनन्द का स्वाद आता है।** सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों ही वास्तव में ज्ञान की प्रगट दशा है। ज्ञान के साथ आनन्द भी है, इसलिए ज्ञान के साथ आनन्द भी तीनों में साथ है। समझ में आया? इसलिए कहते हैं, जिसने आत्मानुभव-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव स्थिरता प्रगट की **तब परम एकाग्रता मिलती है...** तब अन्तर एकाग्रता है। **तब ही वह वचनों से अगोचर आत्मीक आनन्द का स्वाद भोगता है।** यह ९७ (गाथा पूर्ण) हुई।

☆ ★ ☆

आत्मध्यान के चार प्रकार

जो पिंडत्थु बुह रूवत्थु वि जिण उत्तु।
रूवातीततु मुणेहि लहु जिम परू होहि पवित्तु॥ ९८॥

जो पिण्डस्थ पदस्थ अरु रूपस्थ रूपातीत।
जानों ध्यान जिनोक्त ये, होवो शीघ्र पवित्र॥

अन्वयार्थ – (**बुह**) हे पण्डित! (**जिण–उत्तु जे पिंडस्थु पयत्थु रूवत्थु मुणेहि**) जिनेन्द्र द्वारा कहे गये पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान हैं, उनका मनन कर (**जिम लहु परु होहि**) जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे।

☆ ★ ☆

९८ **आत्मध्यान के चार प्रकार**। ज्ञानार्णव में आते हैं न?

जो पिंडत्थु बुह रूवत्थु वि जिण उत्तु।
रूवातीततु मुणेहि लहु जिम परू होहि पवित्तु॥ ९८॥

हे पण्डित! '**बुह**' शब्द प्रयोग किया है। हे पण्डित! पण्डित तो उसे कहते हैं। आहा...हा...! जो इन चार प्रकार के ध्यानवाले आत्मा के आनन्द में एकाग्र होकर आत्मानुभव करे, उसे यहाँ पण्डित कहा जाता है। आहा...हा...! आता है न पाहुड़ में, नहीं? मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है। हे पाण्डे... हे पाण्डे... हे पाण्डे...! तुस कूट रहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक, है? दोहापाहुड़ में। यह श्लोक दोहापाहुड़ का है। मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने पहले अधिकार में लिया है। पाण्डे... पाण्डे... पाण्डे...! तीन बार लिया अर्थात् कि मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या – राग-द्वेष, तुस कूटता है, बापा! यह माल अन्दर भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी तुझे प्रतीति नहीं, उसका विश्वास नहीं, उसका ज्ञान नहीं और उसमें रमणता नहीं और तू दूसरी बातें करता है, ऐसा होता है और वैसा होता है और करा भोजन, लाखों लोगों को (कहे), ऐसा होता है, अमुक होता है, व्यवहार करते-करते होता है, राग करते-करते होता है, पहले ऐसा का ऐसा आता होगा कोई? आहा...हा...! अब कुछ मार्ग आया। यह कहते हैं, बापू! व्यवहार विकल्प को छोड़ने पर दृष्टि का अनुभव होता है। समझ में आया? ऐसा कठिन लगे इस तरह। अन्दर मार्ग देखा नहीं और मार्ग में चलने का पुरुषार्थ चाहिए, वह भी तैयार नहीं। आहा...हा...! कषाय मन्द करो, व्यवहार करो, और व्यवहार करते-करते व्यवहार के फलरूप में तुम्हें निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होगा (– ऐसा अज्ञानी कहते हैं)।

मुमुक्षु – बारहवीं गाथा में लिखा है।

उत्तर – बारहवीं गाथा में लिखा नहीं। लिखा... ! उसका अर्थ ही इसे नहीं आता।

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ १२॥

अरे... इसका अर्थ दूसरा है। अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका तो देख! यह तो सम्यक् अनुभव – दृष्टि हुई है, आत्मा का ज्ञान हुआ है, स्वरूप की स्थिरता भी कितनी ही हुई है परन्तु अभी अवस्था में राग, व्यवहार बाकी है। शुद्धता आंशिक... आंशिक बढ़ती जाए, अशुद्धता घटे, उसका ज्ञान करना, वह जाना हुआ प्रयोजनवान् है, उसका नाम व्यवहार है। व्यवहार करना और उसे व्यवहार का उपदेश देना, यह बात ही वहाँ नहीं है। समझ में आया? क्या हो परन्तु अब?

जिस दृष्टि से कहा गया है, उस दृष्टि से न देखें तो उसका अर्थ भासित नहीं होता। आचार्य की जो दृष्टि थी कि '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भगवान आत्मा भूतार्थस्वरूप, एकाकार आनन्दकन्द का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। यह तो निश्चय बात सिद्ध की। तब अब यहाँ कुछ व्यवहार बाकी है, या अकेला निश्चय हो गया? इसलिए बारहवीं गाथा में लिया, बाकी है। अभी अशुद्धता है, राग है; पर्याय में पूर्ण शुद्धता नहीं है, उस गुणस्थान के भेद का भलीभाँति उस-उस काल में ज्ञान करना, वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। जाना हुआ प्रयोजन है; इसलिए बारहवीं में वह डाला है, ग्यारहवीं की सन्धिरूप में बारहवीं में (डाला है)। बस! भूतार्थ का आश्रय हो गया तो हो गया केवली? नहीं, नहीं; अभी बाकी है, उसे पुरुषार्थ करना बाकी है, इसलिए जितनी शुद्धता प्रगट हुई, अशुद्धता रही, उसका ज्ञान करना है। समझ में आया? और वह शुद्धता पूर्ण करने के लिए स्व का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकार साथ में व्यवहार का ज्ञान कराते हैं। आहा...हा... ! परन्तु क्या हो? भाई! यह किसी को दे दें ऐसा है? इसके घर की चीज है, यह ले तब हो – ऐसा है।

कहते हैं कि **हे पण्डित जिनेन्द्र द्वारा कहे गये जो....** है न? '**जिण उत्तु**' वीतराग भगवान ने यह चार ध्यान कहे हैं। उनके द्वारा, **पिण्डस्थ, पदस्थ....** पिण्डस्थ अर्थात् इस

शरीर में रहा हुआ भगवान। पिण्ड अर्थात् शरीर में रहा हुआ भगवान, उसका विचार, ध्यान करना। पदस्थ अर्थात् पाँच पद में स्थित – अरिहन्त, सिद्ध आदि का विचार करके अन्तर में ध्यान करना। **रूपस्थ** (अर्थात्) अरिहन्त के अकेले के रूप में स्थित शरीर, उसका ध्यान और **रूपातित** (अर्थात्) सिद्ध का। उनका विचार करके... है परद्रव्य, परन्तु फिर भी उनका विचार (करके) अन्दर में जाना, यह उसका परिणाम-फल है। समझ में आया?

उनका मनन कर... जिम लहु परु पवित्तु होहि। जिससे **लहु** अर्थात् शीघ्र तू पवित्र हो जाएगा, भाई! तेरे स्वरूप में अन्तर एकाग्र होने से तू अल्प काल में परमात्मा हो जाएगा। तुझे अल्प काल में सिद्धपद मिलेगा परन्तु इस पवित्रता के ध्यान में कलावाले को मिलेगा। दूसरी कोई कला परमात्मपद को प्राप्त करने की नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

दृष्टान्त दिया है **जैसे वस्त्र को ध्यानपूर्वक रगड़ने से मैल साफ होता है....** यह वस्त्र का दृष्टान्त है। इसी प्रकार अशुद्ध आत्मा... मलिनता है या नहीं दशा में? वह आत्मा की रगड़ता; रगड़ता अर्थात् आत्मा में एकाग्रता। उसके **द्वारा शुद्ध हो जाता है**। ज्ञानावरणीय की बात की है, यह व्याख्या दी है, वह तो ठीक है। यह संक्षिप्त अर्थ कर दिये और यह अन्तिम गाथा देखो! तत्त्वानुशासन में

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा॥ १९१॥

जिस भाव से व जिस रूप से आत्मज्ञानी आत्मा को ध्याता है, उसी से वह तन्मय हो जाता है,.... क्या कहा? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और पूर्ण ज्ञानस्वरूप – ऐसे भाव से और ऐसे स्वरूप से उसका ध्यान करता है तो वह दशा उस भाव में तन्मय हो जाती है। भगवान आत्मा **येन** जिस भाव से और जिस स्वरूप से... भगवान पूर्ण शुद्ध आनन्द है और ज्ञान की मूर्ति है – ऐसे भाव से और ऐसे रूप से जो उसे ध्याता है – ऐसा **आत्मज्ञानी आत्मा को ध्याता है, उसी से वह तन्मय हो जाता है,....** तब वह वर्तमान दशा त्रिकालभाव के साथ एकमेक हो जाती है। आहा...हा...! समझ में आया?

जैसे रंग की उपाधि से स्फटिक पाषाण तन्मय हो जाता है। लो! यह तो दृष्टान्त दोनों के लिए, हाँ! स्फटिक पत्थर है और काला, लाल फूल हो तो उसकी दशा में भी वैसी झांईं होती है। निकल जाए तो सफेद झांईं होती है। तन्मय (हो जाता है) सफेद के साथ भी तन्मय है और लाल के साथ भी (तन्मय है)। पर्यायरूप से तन्मय है, लाल आदि से और स्वभावरूप हो तो स्वभाव श्वेत से तन्मय होता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा.... है न प्रवचनसार में ? शुभ-अशुभ और शुद्ध जिस भाव से परिणमे, उसमें तन्मय हो जाता है। प्रवचनसार। शुभ परिणमित, अशुभ परिणमित, शुद्ध परिणमित... भगवान आत्मा परिणमित होता है। पर्याय में परिणत होता है, शुभरूप भी परिणत होता है।

मुमुक्षु – स्फटिक लाल हो जाती है (या) नहीं होती ?

उत्तर – नहीं, स्फटिक नहीं, उस प्रकार की पर्यायरूप हो जाती है, पर्यायरूप होती है। लाल-पीले की पर्यायरूप होती है, नहीं ऐसा नहीं। लकड़ी नहीं होती, उसे यदि ऐसा रखोगे तो नहीं होगी, क्योंकि उसकी पर्याय होने की योग्यता नहीं है और स्फटिक में वह अपनी योग्यता से होता है। उसमें योग्यता – उसकी स्वयं की पर्याय की योग्यता है। स्फटिक की वर्तमान पर्याय की स्वयं की योग्यता है। लकड़ी की योग्यता वर्तमान भी नहीं है और त्रिकाल भी नहीं है। यहाँ रखो तो नहीं होगी।

मुमुक्षु – स्फटिक में तो प्रतिभासता है।

उत्तर – है, परिणमन है। यहाँ पर तो पर्याय का परिणमन लेना है। फिर स्वभाव की अपेक्षा से, स्वभाव की दृष्टि से...।

मुमुक्षु – होवे वह प्रतिभासे।

उत्तर – प्रतिभासे। उसके अस्तित्व में है। स्फटिक की पर्याय के अस्तित्व में वह लाल-पीली (अवस्था) है। किसी के अस्तित्व के कारण किसी के अस्तित्व में नहीं। समझ में आया ? यह वस्तु है, इससे यह दृष्टान्त दिया है। रंग-रूप परिणमे, वैसी उसकी पर्याय का धर्म है, लकड़ी का नहीं परन्तु उसका – स्फटिक का धर्म है।

जैसे लकड़ी है, देखो! यह छोटी हो, दियासलाई, बीड़ी पीते हो, वह लकड़ी यहाँ जलेगी परन्तु यहाँ गर्म नहीं होगा और लोहे का सरिया इतना होगा तो अग्नि में रखा होगा

तो एक छोर यहाँ (तक) जायेगा। वह अग्नि के कारण नहीं, उसका स्वभाव है। लोहे का —उसका स्वभाव है। लकड़ी का ऐसा स्वभाव है। अग्नि तो दोनों को है। दियासलाई भी यहाँ है, बीड़ी पीते हैं न! इस ओर की लकड़ी गर्म होवे तो कोई बीड़ी नहीं पी सकता। लकड़ी का ऐसा स्वभाव है कि उष्णता यहाँ नहीं जाती। यहाँ तक रहती है। लोहे का ऐसा स्वभाव है... अग्नि के कारण नहीं। अग्नि तो दोनों को एक है... जायेगा, उसकी योग्यता की पर्याय है।

इसी प्रकार स्फटिक और भगवान आत्मा जो शुभरूप से रंगे तब शुभ विकल्परूप परिणमता है; अशुभरूप रंगे तो अशुभरूप तन्मय हो जाता है; शुद्धरूप होवे तो शुद्ध से तन्मय हो जाता है। समझ में आया? ऐसा उसका पर्याय धर्म है। यहाँ से हटकर यहाँ जा तो वहाँ तन्मय तेरी निर्मलदशा प्रगट होगी, वरना यह राग-द्वेष की तन्मय तेरे अस्तित्व में है, क्योंकि जीव का तत्त्व है न! उमास्वामी ने इसे जीवतत्त्व कहा है न? पाँच भाव जीव तत्त्व कहे हैं, अत: उदयभाव जीवतत्त्व में जीवतत्त्व है, जड़ नहीं, अजीव नहीं। पाँच भाव — उदय, उपशम, क्षयोपशम... पाँचों ही जीवतत्त्व कहे हैं। पूरा तत्त्व लेना है उन्हें! तो वह जीवतत्त्व है, विकार भी जीवतत्त्व के अस्तित्व में है। ऐसा ध्यान करे तो वह छूट जाता है। ऐसा, तत्त्वानुशासन में विस्तार है, लो! यह ९९ में कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

सामायिक चारित्र कथन

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥ ९९॥

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव॥

अन्वयार्थ – **(सव्वे जीवा णाणमया)** सर्व ही जीव ज्ञानस्वरूपी हैं – ऐसा **(जो समभाव मुणेइ)** जो कोई समभाव को मनन करता है **(सो फुडु सामाइउ जाणि)** उसी के प्रगटपने सामायिक जानो **(एम जिणवर भणेइ)** ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल ५,	शनिवार, दिनाङ्क २३-०७-१९६६
गाथा ९९ से १००	प्रवचन नं. ४२

यह योगसार शास्त्र है, इसमें ९९ वीं गाथा। चारित्र अर्थात् समभाव किसे कहना? और समभाव किसे होता है? और समभाव कैसे होता है? समझ में आया? किसे होता है? कैसे होता है? यह कहते हैं। देखो!

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥ ९९॥

सव्वे जीवा णाणमया.... देखो! समभाव उसे होता है कि जो सब जीवों को ज्ञान में देखता है। 'सर्व जीव है ज्ञानमय' – यह इसका अर्थ है। श्रीमद् में ऐसा आता है, 'सर्व जीव है सिद्ध समान'। यह योगीन्दुदेव आचार्य (कहते हैं), सर्व जीव है ज्ञानमय। ऐसे स्वयं को भी ज्ञान में देखने से समभाव प्रगट होता है। स्वयं ज्ञानमय है, ज्ञानमय अर्थात्

ज्ञाता-दृष्टा के स्वभावमय है – ऐसा देखने से समभाव-वीतरागता की पर्याय उत्पन्न होती है और दूसरे सब जीव ज्ञानमय है – ऐसा देखने से, उनकी कर्म के वश विविधता देखे तो यह ठीक है, यह अठीक है – ऐसे राग-द्वेष हों, परन्तु कर्म के वश हुई उनकी विविधता उसे न देखने से वे सब ज्ञानमय हैं, सब चैतन्यमय हैं; इस प्रकार दूसरे को भी चैतन्यमय, ज्ञानमय देखने से कर्म के वश हुई उनकी विचित्रता में यह ठीक है, अठीक है – ऐसी बुद्धि, ज्ञानमय देखनेवाले को नहीं रहती। समझ में आया ?

सर्व जीव है ज्ञानमय। देखो ! सर्व लिये, हाँ ! स्वयं तो है परन्तु उसका अर्थ यह हुआ। मैं एक ज्ञानमय जानने-देखनेस्वरूप हूँ – ऐसी जिसने दृष्टि की, उसे स्वयं में भी समभाव की वीतरागता की उत्पत्ति होती है। वह समस्त जीवों को द्रव्य-तत्त्वदृष्टि से देखे तो वे सब भी भगवान ज्ञानमय है; इसलिए उनकी विषमता को ठीक-अठीक रूप नहीं देखता। विषमता कर्म के आधीन, ज्ञानवरणीय के आधीन, कम-ज्यादा ज्ञानपना हो; दर्शनावरणीय के आधीन-क्षयोपशम चक्षु-अचक्षु का कम-ज्यादा हो; मोहनीय के आधीन रागादि, मिथ्याभ्रान्ति आदि हो; अन्तराय के आधीन स्वयं वश होकर करे, हाँ ! विकार आदि कमजोरी दिखे या आयुष्य के आधीन (कोई) दीर्घ आयुष्य और कोई थोड़े आयुष्यवाला दिखे; नाम के आधीन भिन्न-भिन्न, सुन्दर-असुन्दर, सुडौल-अडौल – ऐसे शरीर के आकार दिखें परन्तु ये तो दूसरी भिन्न चीज है। गोत्र के आधीन हुई नीच और उच्चकुल की अवस्था देखे तो पर्यायदृष्टि से देखना है, यह जानने का है। समझ में आया ? वेदनीय के निमित्त से किसी को धनवान-सधन, निर्धन देखे तो वह तो संयोग से देखना (हुआ)। वह तो जानने योग्य है।

वस्तु ज्ञानमय है – ऐसे देखने से संयोग के आधीन किसी की सधनता, निर्धनता की विशेषता को जाननेयोग्य मानकर, उसमें यह ठीक-अठीक करने जैसा नहीं रहता। कहो ! यह सेठ है और यह गरीब है, वह तो कर्म के आधीन, वेदनीय के आधीन, प्राप्त संयोग के आधीन, देखने की बात है। परन्तु संयोग के आधीन न देखे और सब आत्मा ज्ञानमय चैतन्य प्रभु है तो इस दृष्टि से सबको देखने पर भी ठीक-अठीक के संयोग से उत्पन्न होता राग-द्वेष धर्मी को नहीं होता है। समझ में आया ?

सव्वे जीवा णाणमया.... अहा! कितनी बात करते हैं! अभव्य हो या चाहे जो हो; निश्चय से परम सत् प्रभु ज्ञानमय ही आत्मा है। उसमें कम-ज्यादा ऐसा शब्द नहीं। ज्ञान की हीनाधिक (दशा), वह भी सर्व ज्ञानमय में वह नहीं आती। समझ में आया? ऐसे ही अपने में भी ज्ञान की हीनाधिकता नहीं आयी। मैं तो ज्ञानमय हूँ, चैतन्यबिम्बस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि होने पर उसे अन्तर के आश्रय में वीतरागता की भी उत्पत्ति होती है। उसे सामायिक और समभाव कहा जाता है। समझ में आया?

सर्व जीव, **सभी ही जीव....** ऐसा लिखा है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा। आहा...हा...! सबको जब ज्ञानस्वरूपी देखे तो स्वयं को भी ज्ञानस्वरूपी देखता है। समझ में आया? अपने में भी कर्म के निमित्त के वश से दशाओं को जाननेयोग्य – पर्यायदृष्टि से जाननेयोग्य जानता हुआ, सर्व आत्मा ज्ञानमय सर्व जीव हैं। मैं भी ज्ञानमय हूँ – ऐसी अन्तर की दृष्टि होने पर उसे समभाव और वीतरागता की ही उत्पत्ति होती है। समझ में आया?

जो कोई समभाव का मनन करता है... ऐसा। **मुणेइ** (अर्थात्) जानता है, वास्तव में। इस प्रकार जो ज्ञानमय जानकर, समभाव को उत्पन्न करता है, **उसे ही प्रगट रूप से... फुडु** है न? **सामायिक जानो...** प्रगट सामायिक। शक्तिरूप तो सामायिक है ही – ऐसा कहते हैं। भाई! समभाव तो उसका स्वरूप ही है। ज्ञानमय कहा, उसका अर्थ भी समभाव स्वरूप उसका है। ज्ञानमय कहो या वीतराग ज्ञानस्वरूप कहो, समज्ञानमय यह तो उसका स्वरूप ही है परन्तु इस प्रकार अन्दर नजर पड़ने पर, उसका ज्ञान होने पर प्रगट समता की दशा प्रगट होती है। समझ में आया? ओ...हो...!

व्यवहार से **यदात्वे** जाना हुआ प्रयोजनवान है। देखो न! कहाँ शैली रखी है। समझ में नहीं आया? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहा कि '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' (समयसार गाथा-११) भाई! भूतार्थ अर्थात् ज्ञानमय कहो, भूतार्थ त्रिकाल एक स्वरूप कहो, उसके आश्रय से आत्मा को सम्यग्दृष्टि, समभाव की सम्यग्दृष्टि प्रगट होती है और उसके ही आश्रय से चारित्ररूपी समता का भाव (प्रगट होता है)। '**भूदत्थमस्सिदो**' '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**'

'**भूदत्थमस्सिदो खलु चारित्रवंत हवदि जीवो**' (कहा है)। पद्मनन्दि आचार्य में यह है। इसी की इसी गाथा को यहाँ '**सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' कहा है। पद्मनन्दि आचार्य में ऐसा (आता है कि) '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' यति चारित्रभाव होता है – ऐसा लिखा है। वहाँ ऐसा है, शब्द यह लिया है। पद्मनन्दि आचार्य... मूल तो समयसार में सब बीज हैं। शास्त्र, आचार्य दूसरे सब मानों पूरे उसमें बीज भरे हैं। थोड़ा तो, बहुत हुआ है अब।

'**भूदत्थं**' वहाँ यह कहा था, यह गाथा एक बार कहीं से निकाली थी, वहाँ यति शब्द रखा है। भूतार्थ के आश्रय से यति इतना प्रगट होता है – ऐसा वहाँ कहा है। इसमें भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दृष्टिपना प्रगट होता है (ऐसा कहा) परन्तु उसका अर्थ यह है कि जो वस्तु ज्ञानमय अर्थात् ज्ञानमय अर्थात् वीतरागतामय अर्थात् निर्विकल्पस्वभाव समरूपी एक स्वरूप है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यक्चारित्र होता है, शुक्लध्यान होता है, केवलज्ञान होता है; इस प्रकार सभी जीव को देखने से कहीं राग-द्वेष करना नहीं रहता है।

जो अनन्त आत्माओं की आठ कर्मों के वश विषमता, विविधता, अनेकता, जो ज्ञात होती है, वह कहीं उनका मूल स्वरूप नहीं है। समझ में आया? सभी ज्ञानमय प्रभु हैं न! आहा...हा...! उसे फिर यह ठीक और अठीक करने की वृत्ति ही नहीं रही। समझ में आया? व्यवहार और पर्यायदृष्टि से देखने की आँख बन्द करके वस्तु के स्थायी असली स्वभाव को देखने की दृष्टि से देखे तो स्वयं को भी ज्ञानमय देखे और दूसरे सबको भी समभाव से भरपूर भगवान ही देखे। इसलिए कहीं विषमता करने का (नहीं रहा) क्योंकि उसके ज्ञानमय में विषमता नहीं, इसलिए इसे विषमता करने का कारण नहीं रहता है। समझ में आया? अद्भुत भाई! सामायिक की व्याख्या! योगीन्दुदेव यह सामायिक की व्याख्या करते हैं। आहा...हा...! फिर आधार देते हैं, '**जिणवर एम भणेइ**' हाँ! '**जिणवर एम भणेइ**।' स्वयं समभाव से कर्ता होकर हो सकता है।

(मैं) ज्ञानमय हूँ। (ऐसे ही) सभी भगवान ज्ञानमय है, ऐसा निश्चयदृष्टि से कर्ता आत्मा होकर स्वयं के ज्ञानमय आत्मा के समभाव को प्रगट करे – ऐसे दूसरे सभी आत्माएँ ज्ञानमय है; इसलिए विषमता के प्रकार दिखने पर भी अभिन्नरूप से सब भगवान

ज्ञान है। ऐसा भी अन्दर पुरुषार्थ की दृष्टि से विषमता का लक्ष्य छोड़कर समभावी आत्मा सभी ज्ञानमय है ऐसा पुरुषार्थ से देखने पर उसे समभाव प्रगट होता है। कहो, समझ में आया? इसमें? है? देखो! सामायिक किस प्रकार ली है! हमने उसे यह किया है, हमने यह देखा था 'सर्व जीव है ज्ञानमय' इसका अर्थ किया है। यह श्लोक है न वे सब? तुम्हारे में है या नहीं? क्या है? देखो! **सर्व जीव है ज्ञानमय...** श्लोक हैं। लो! अपने सज्झाय होती है, नौ सज्झाय में उसकी सज्झाय है या नहीं? हैं? योगसार ....

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जाने समता होय।
वह सामायिक जिन कहे, प्रगट करे भवपार॥

इसमें चार-चार बोल रखे हैं, भाई! प्रत्येक में चार रखे हैं।

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥ ९९॥

सव्वे जीवा णाणमया, य सम-भाव ममते।
तत सामायउ जाणि स्फूटम्, जिणवर एम भणेइ॥

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जाने समता होय।
वह सामायिक जिन कहे, प्रगट करे भवपार॥

सर्व जीव छे ज्ञानमय, जाणे समता भार;
ते सामायिक जिन कहे, प्रगट करे भव पार॥

समभाव होता है, वहाँ भव का पार ही होता है – ऐसा उसका फल बताया। समभाव का फल ही भव का अभाव, ऐसा। एक-एक श्लोक के पण्डितजी ने चार-चार अर्थ किये थे। यह एक 'लालन'? वृद्ध (थे), पिच्यानवें वर्ष में स्वर्गस्थ हो गये। बहुत अभ्यास, बहुत अभ्यास, पन्द्रह वर्ष की उम्र से पिच्यानवें वर्ष तक अभ्यास। दृष्टि विपरीत थी, फिर यहाँ रहते थे, बारह महीने रहे थे। सब अभ्यास। सोलह वर्ष कहते थे। सोलह वर्ष से शास्त्र का अभ्यास, शास्त्र अभ्यास, वह पिच्यानवें (वर्ष तक) संवत् २००९ के साल में स्वर्गस्थ हो गये। यहाँ बारह-बारह महीने रहते थे, यहाँ बैठते थे, वृद्ध थे, फिर तत्त्व

की बात आवे तब कहें अरे...रे...! खिचड़ा किया है। फिर रोवे... रोवे... रोवे, हाँ! ऐसी सरलता! उन्होंने यह अर्थ बनाया है। इस श्लोक के उन्होंने सब अर्थ बनाये हैं। कितना ही घोटाला भी अन्दर होगा, परन्तु इतनी ही व्याख्या ठीक है। कितना ही घोटाला अन्दर डाला है, क्योंकि मूल तो श्वेताम्बर थे और पहली दृष्टि की फेरफार थी, उसमें से इसमें अर्थ किये, पूरी पुस्तक है '**स्वानुभवदर्पण**' उसका नाम है। स्वानुभवदर्पण है, वह योगीन्दुदेव के दोहों के श्लोक चार-चार बोल हैं 'सर्व जीव है ज्ञानमय'.... 'प्रगट करे भव पार' नहीं होगा इसमें... उसमें है, हिन्दी में है। '**जिनवर एम भणेइ**' यह तो हिन्दी में भी है। **सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जाने समताभार, सो सामायिक जिन कहे प्रगट करे भव पार।** हिन्दी में किया है इसका। उसमें नहीं होगा।

मुमुक्षु – सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव॥

उत्तर – यह शब्दार्थ किया है, ठीक, पाठ का शब्दार्थ। भाई ने किया है। अपने पण्डित ने किया है, पाठ को स्पर्श कर। समझ में आया?

यह सामायिक किसे कहना, इसमें सम्यग्दर्शन आ गया, सम्यग्ज्ञान आ गया और वीतरागभाव तीनों आ गये। भगवान आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् अल्पपना, विकारपना, या संयोगपना उसके स्वभाव में नहीं है। ऐसी जो अन्तर स्वभावदृष्टि होना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा जो ज्ञानमय, आनन्दमय... यहाँ ज्ञानमय प्रधान परमभावग्राहकनय से बात की है। ज्ञान परमभावग्राहक है, परमभाव है, यह वस्तु दूसरे की अपेक्षा। क्योंकि ज्ञान स्वयं सविकल्प-स्वपर को जाननेवाला गुण है और दूसरे गुण अस्ति रखते हैं परन्तु स्वयं कौन है और पर कौन है? उन्हें नहीं जानते। इसलिए सभी गुणों को निर्विकल्प कहा जाता है। निर्विकल्प यह अस्ति रखता है। अपनी अस्ति को और पर की अस्ति को वे जानते नहीं हैं।

भगवान आत्मा का ज्ञान स्वयं अपने को जानता है और उसके अनन्त गुणों को भी जानता है, इसलिए उस गुण को सविकल्प कहकर, साकार कहकर, उसे असाधारण परमभावग्राहक कहा गया है। 'आलापपद्धति' में उसका नय लिया है। परमभावग्राहकनय।

पण्डितजी ! आलापपद्धति में। समझ में आया ? इस अपेक्षा से यहाँ कहा है। परमभाव अकेला ज्ञानमय भगवान, उसका ज्ञान वह ज्ञान और परमज्ञानमय आत्मा, ऐसा अन्तर में दृष्टि ज्ञान करके स्थिर होने से... क्योंकि परम ज्ञानमय है, उसे तो ज्ञातादृष्टारूप रहना ही उसका स्वरूप हुआ, इसलिए वहाँ वीतरागता और सामायिक अर्थात् समताभाव की उत्पत्ति (हुई)। परमज्ञानमय आत्मा है – ऐसा अन्तर निर्णय होने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और समभाव तीनों उसमें से उत्पन्न होते हैं। समझ में आया ? क्या है ? सुगनचन्द्रजी ! कहाँ गया यह सब ? चक्की का पड़ और .... हैं ? ज्ञेय में। चक्की से दलना, ऐसा करना और वैसा करना.... वहीं के वहीं फँसे। गेहूँ को वहाँ दलना और फिर धोना... परन्तु अब यह तो सहज देह की, जड़ की क्रिया उसके कारण से होनी हो तो होती है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। वहाँ फँसे। बराबर क्रिया ऐसी करनी, हाँ ! निर्दोष आहार, इसलिए बेचारे का समय जाता है। एक व्यक्ति कहता था, महाराज ! तुम यह बात करते हो परन्तु हम तो आश्रम में रहते हैं, (इसलिए) चावल शोधना और गेहूँ शोधना, उसमें रहना (पड़ता है)। हमारे यह समझना, सुनना, विचारना, कब ? तीन-तीन घण्टे वहाँ रहें कौन ? परशुरामजी... परशुरामजी कहते थे।

मुमुक्षु – ....

उत्तर – सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ क्या ? राग नहीं। सविकल्प का अर्थ स्व-पर को जाने, उसका नाम सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ राग नहीं। स्व-पर को जाने, उसका नाम ही सविकल्प है। दूसरे (गुण) स्व-पर को नहीं जानते, इसलिए दूसरे को निर्विकल्प कहते हैं। विकल्प अर्थात् राग की अपेक्षा की बात नहीं है। केवलज्ञान भी सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ स्व-पर को जानना, उसका नाम सविकल्प है। यह तो प्रवचनसार में आता है न ? अर्थाकार – स्व-पर के अर्थाकार परिणमित होना, वही सविकल्प है। सविकल्प (अर्थात्) राग-फाग की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया ?

स्व-पर प्रतिच्छेदक दो को जाननेवाला उसका नाम सविकल्प का अर्थ यह राग नहीं। स्व-पर को जानने का भाव, उसका नाम ही सविकल्प है। यह सविकल्प, राग से निर्विकल्प है। राग से निर्विकल्प है परन्तु स्व-पर को जानने के आकाररूप परिणमित होना

उसका नाम ही सविकल्प है। यह तो अपना स्वभाव है। सिद्ध का केवलज्ञान भी सविकल्प है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ यही कहते हैं। भगवान! सर्व जीव ज्ञानमय है – ऐसा जानना कहा न? भाई! स्वयं जाने और पर को जाने, दोनों आया। मैं भी ज्ञानमय हूँ तो ज्ञान का स्वभाव है कि मैं भी ज्ञानमय हूँ, सभी ज्ञानमय है – ऐसा उनका जानना... जानना.. दोनों का, यह कहीं राग का कारण नहीं है; यह तो उसका स्वभाव है। स्व-पर को जाननेरूप परिणमना, होना वह ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है। समझ में आया? इससे वह सविकल्पज्ञान ज्ञातारूप मैं यह ज्ञान हूँ – ऐसा जो पर्याय में ज्ञातापना प्रगट हुआ, वह पर्याय स्व-पर प्रकाशक प्रगटी परन्तु वह रागरहित समताभाव की प्रगटी। समझ में आया? आहा...हा...!

देखो न! आचार्य ने इसलिए कहा! '**सव्वे जीवा णाणमया, जो सम-भाव मुणेइ**' ऐसा लिया है न वापस? ऐसा नहीं कि अकेले को जाने, ऐसा उसमें नहीं लिया परन्तु यह तो उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। मैं ज्ञानमय ऐसा जाना तब भी श्रद्धा, ज्ञान, और शान्ति ही उत्पन्न हुई और सभी जीवों के ज्ञान का स्वभाव है कि स्व-पर को जानना – इतना ही उनका उस सामर्थ्य का सत्व है। वह राग नहीं, इसलिए ऐसे बाहर के सभी ज्ञान में आये निश्चय से उसे यहाँ देखो ऐसे निश्चय से दूसरों को देखो। उनकी विषमता और पर के आधीन होती दशाएँ उन्हें न देखने से, इसे देखने से विषमता के कारण यह ठीक-अठीक जीव है – ऐसा उसे राग-द्वेष उत्पन्न होने का स्थान नहीं रहता; और स्वयं में भी जब ज्ञानमय – ऐसा आत्मा है – ऐसा अन्तर में जानने से उसे भी राग और द्वेष उत्पन्न होना, हीन ज्ञान है इसलिए हीन हूँ, अधिक ज्ञान है, इसलिए बड़ा, यह भी उसमें नहीं रहता। समझ में आया?

उसी के प्रगटरूप से सामायिक जानो – ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं। आहा...हा...! आचार्यों को भी जिनेन्द्र को रखना पड़ा है, हाँ! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव... तो सर्वज्ञ नहीं जानते यह? सब को नहीं जानते? और सबको जानना वह तो ज्ञानमय पर्याय है। सबको जानना, वह विकल्प नहीं; वैसे ही सब को जानना अर्थात् परज्ञानमय दशा है ऐसा नहीं है। सब को जानना वह ज्ञानमय, आत्मज्ञानमय जीव की दशा है। वीतरागी

दशा – रागरहित की सबको जानना – ऐसी ज्ञान की दशा है। समझ में आया? यह तो उसकी शक्ति है न!

समयसार में आता है न! शक्ति। आत्मज्ञानमय शक्ति है। सभी व्याख्या आ गयी है। **समस्त विश्व के....** यह दसवीं (शक्ति की) व्याख्या है। **समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति इस प्रकार सर्व को जानते हैं, इसलिए व्यवहार हो गया, वह यहाँ नहीं और सर्व को जानते हैं, इसलिए राग हुआ, यह भी यहाँ नहीं। यह सर्वज्ञत्व, आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति। भगवान आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, गुण है, वह आत्मज्ञानमय दशा होकर सबको जानता है। वह आत्मज्ञानमय होकर, पर होकर, पर के कारण नहीं और पर को जानता है, इसलिए यहाँ सर्व को जाना, इसलिए विकल्प आया और पर को जाना, इसलिए यहाँ उपचार आया – यह यहाँ नहीं है, भाई! आहा...हा...!

आत्मज्ञानमय सर्वज्ञत्वशक्ति। दर्शन में भी ऐसा लिया है – आत्मदर्शनमय सर्वदर्शीशक्ति। आत्मदर्शनमय सर्वदर्शीशक्ति। इस दर्शी शक्ति, ज्ञानशक्ति का स्वभाव ही स्वपने को पूर्ण देखना और पूर्ण जानना, उसमें सब जानना-देखना आ जाता है – ऐसी ही उसकी आत्मज्ञानमय और आत्मदर्शनमय शक्ति है। समझ में आया? इन शक्तियों में तो बहुत वर्णन है, पूरा तत्त्व भरा है न उसमें! इसलिए वही यहाँ कहते हैं।

समभाव की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं। थोड़ा अर्थ किया है। **यह भाव तभी सम्भवित होता है जब इस विश्व को....** निश्चयदृष्टि से देखे तो... इसमें यह कहा न? भाई! सर्वजीव ज्ञानमय देखे, इसका अर्थ क्या हुआ? क्या हुआ इसका अर्थ? निश्चय से देखा; व्यवहार से देखना न रहा। मैं भी जैसे ज्ञानमय, वे भी ज्ञानमय। यह ज्ञानमय देखना इसमें कोई विकल्प नहीं, वह राग नहीं। यह स्वज्ञानमय, सब ज्ञानमय। निश्चय से मैं ज्ञानमय, निश्चय से सब ज्ञानमय – ऐसी आत्मज्ञान की पर्याय प्रगट होना, उसे समभाव कहते हैं। वह वीतरागभाव है। इसलिए कहा न, देखो न! **जो सम-भाव मुणेइ, सव्वे जीवा णाणमया, जो सम-भाव मुणेइ** अरे...! सर्व जीव को इतना सब देखने जाये, वहाँ इसे राग नहीं होगा? कि नहीं। यह तो इस ज्ञान की पर्याय ऐसे सामर्थ्यवाली है कि

यह (मैं) ज्ञानमय हूँ और यह सब ज्ञानमय है – ऐसी ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य की दशा है। उसे जानने से मैं भी ज्ञानमय हूँ, पर्याय नहीं। ये सब ज्ञानमय है – ऐसा समभाव से राग की अपेक्षा बिना, पर की अपेक्षा बिना, स्व के सामर्थ्य में स्व-पर का जानना परिणमे, उसे समभाव कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

उसी के सामायिक होती है। देखो ! यह सामायिक की व्याख्या। फिर आठ कर्म की लम्बी बात की है। अपने संक्षिप्त कर दी। भाई ! संक्षिप्त कर दी न ! आठ कर्म में विषमता और विपरीतता या हीनाधिकपना हो, वह पर्यायनय का विषय है। उसे गौण करके... क्यों ? कि स्वयं ने भी अपने पर्यायनय के विषय को गौण किया है। भेद को, राग को, अल्पज्ञता को गौण करके; अभाव करके नहीं; गौण करके। व्यवहार का अभाव करके नहीं परन्तु व्यवहार को गौण करके उसे 'नहीं है' (ऐसा कहा) और (निश्चय को) मुख्य करके वह 'है' ऐसा कहा है। केवली भगवान ज्ञान और आनन्दमय है, उसे मुख्य करके उसकी अस्तिपने का जहाँ स्वीकार हुआ (वहाँ) समभाव प्रगट हुआ। समझ में आया ?

फिर कहते हैं, **इस प्रकार समभाव लाकर जब ध्याता परजीवों की ओर से उपयोग हटाकर....** अन्तिम बाद की बाद है, अन्तिम... **केवल अपने स्वभाव में जोड़ता है, तब निश्चल हो जाता है, आत्मस्थ हो जाता है।** पीछे, एकदम पीछे अन्तिम थोड़ा (बीच में) लम्बा बहुत किया है। वह तो कर्म की बात से लम्बा किया है। इस कर्म का ऐसा होता है और ऐसा होता है, यह विविधता नहीं देखना इतना। **निश्चल हो जाता है, आत्मस्थ हो जाता है।**

भगवान आत्मा ज्ञानमय, आनन्दमय, स्वभावमय, स्वभाववान, ज्ञानवान, ज्ञानमय – ऐसा ही उसका स्वरूप है। ऐसे जो आत्मस्थ होता है, उसे समभाव प्रगट होता है। **आत्मानुभव में आ जाता है....** वह आत्मा अनुभव में आ जाता है, स्थिरता। **तब ही परम निर्जरा के कारणरूप सामायिक चारित्र का प्रकाश होता है।** शुद्धि, ज्ञानमय प्रभु चैतन्यमय है – ऐसी दृष्टि, ज्ञान और उसके ओर का झुकाव होकर, समभावदशा हुई – इस दृष्टि से पर को भी निश्चय से उसके अपने ज्ञान में स्व-पर सामर्थ्य के कारण पर को भी ज्ञानमय देखने से उसकी दशा में निर्जरा का कारण समभाव उत्पन्न होता है। आहा...हा... !

समझ में आया ? कहो ! यह सामायिक ! कितनी सामायिकें की होंगी कितनों ने, यह फिर सामायिक किस प्रकार की निकली ? आहा...हा... !

यह एक समय की सामायिक भव के अभाव को करे, इससे इसमें भव का अभाव लिखा है न ! क्योंकि ऐसा समभाव हो, उसे भव का अभाव हुए बिना रहता ही नहीं। वह तो उसका फल रखा है। हिन्दी में रखा है और यह तो गुजराती में इसमें रखा है। यह तो भाई ने फिर श्लोक अनुसार शब्दार्थ करके भाई ने किया है। उसमें जरा फल डाला था, जिनवर ऐसा कहते हैं, भगवान आत्मा ज्ञानमय, जिसने वस्तु की त्रिकालीता, अभेदता स्वभाव के साथ इस स्वभाववान को है – ऐसा जिसने दृष्टि से देखा और स्थिर हुआ, उसे भव होते ही नहीं, क्योंकि वस्तु में भव और भव का भाव नहीं है। इस ज्ञानमय देखने में क्या आया ? ज्ञानमय आत्मा में क्या आया ? भव है इसमें ? भव का भाव है ? वह तो पर में गया, उसमें कहाँ है वह ? आचार्यों के शब्द हैं, यह तो आचार्यों के शब्द हैं। इनमें तो गूढ़ गम्भीरता है। इसमें एक-एक शब्द में बहुत आगम बसे हैं। समझ में आया ?

ज्ञानमय भगवान है, इस प्रकार जिसे वर्तमान दशा द्वारा त्रिकाल ज्ञानमय है – ऐसा जिसने देखा, उसमें भव कहाँ है ? द्रव्य में भव कहाँ ? गुण में भव कहाँ ? और जिस द्वारा समभाव से देखा उस भाव में भव कहाँ ? और उस भाव में भव के कारणरूप भाव कहाँ ? वह भाव तो पृथक् रह गया। समझ में आया ? भगवान आत्मा भव के अभाव-स्वभावस्वरूप है तो भव के अभाव स्वभावरूप द्रव्य, गुण, पर्याय – तीनों में व्याप्त गया। लो, और यह आया। क्या कहा ? कि भगवान आत्मा जहाँ ज्ञानमय है – ऐसा कहा तो ज्ञानमय यह तो ज्ञान स्वभाव है (और) आत्मा स्वभाववान है – ऐसा जहाँ अन्दर निर्णय और समभाव प्रगट हुआ, उसकी पर्याय में भी ज्ञानमय (भाव प्रगट हुआ), राग में नहीं आया; वहाँ भी ज्ञानमय की पर्याय, श्रद्धामय की पर्याय, स्थिरता की पर्याय प्रगट हुई, इसलिए भव के अभाव-स्वभाववाला द्रव्य, उसका निश्चय होने पर वह भव का अभाव-स्वभाव तीनों में व्याप्त हो गया। द्रव्य में भव का अभावभाव, गुण में भव का अभावभाव और उसे समभाव प्रगट हुआ, उसमें भव का अभावभाव। इससे उसमें विषमभाव नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह वस्तु ऐसी है। यह तो **जिणवर एम भणइ** यह तो जाना है – ऐसा कहते हैं। कुछ किया है भगवान ने दूसरे का ? आहा...हा... ! देखो !

निर्जरा का कारण होता है। **विकल्परहित भाव में रहना ही सामायिक है, वही मुनिपद है, वही मोक्षमार्ग है, वही रत्नत्रय की एकता है।** लो! ओ...हो...! इसने बात का स्वरूप पदार्थ का (जाना नहीं)। विकल्प आदि हो, राग आदि हो, कमजोरी का भाव (हो) परन्तु कहते हैं कि वह कोई स्थायी चीज है? समझ में आया? पर की ओर के झुकाववाला भाव, वह स्थायी चीज है? वह तो कमजोरी की चीज है। कमजोरी तो वास्तव में व्यवहारनय का, पर्यायनय का विषय हुआ, वह आदरणीय विषय नहीं रहा, जानने योग्य रहा; आदरणीय विषय तो भगवान त्रिकाल ज्ञानमय, आनन्दमय, स्वभावमय, भव के अभाव स्वभावमय आत्मा है – ऐसी दृष्टि होने पर उसे ज्ञान-दर्शन और चारित्र की समभावदशा प्रगट होती है। उसे सामायिक कहते हैं। आहा...हा...!

दिगम्बर सन्तों ने तो थोड़े-थोड़े श्लोक में तो महा-कितना ही भर दिया है! हैं? ओ...हो...हो...! मुनियों की क्या बात! छठे-सातवें में झूलते सन्त, उन्हें यह लिखने का एक विकल्प आया है, हाँ! वह राग भी मुझमें कहाँ है? मुझमें कहाँ है? मैं उसे कहाँ अपने में देखता हूँ? आहा...हा...! लिखने के काल में विकल्प है, वाणी की रचना तो जड़ की है। यह वाणी, यह श्लोक कहीं मुझसे रचित नहीं है।

जहाँ भगवान आत्मा ज्ञानमय है – ऐसा जहाँ देखा, वहाँ विकल्प उठा उसमय नहीं, वह तो पृथक् रह गया। वाणी की क्रिया तो पृथक् जड़ में रह गयी और दूसरे आत्माओं के भेद-भाववाले भाव, वह तो भंग-भेद पर्यायनय के विषय में रह गये। अकेला भगवान, ज्ञान के भगवान सब हैं। पूरा लोक परमात्मा से भरा है। आहा...हा...! दूसरे जल में विष्णु, थल में विष्णु, कहते हैं (– ऐसा नहीं) समझ में आया? पूरा चौदह ब्रह्माण्ड अकेले परमात्मा के पद से ही भरा हुआ पूरा लोक है, इस हिसाब से। सत्व पृथक् अनन्त के, परन्तु हैं सब भगवान, सब ज्ञानमय, पिण्डमय प्रभु हैं सब। दूसरों को तो पता नहीं (तो कहते हैं) जल में विष्णु, थल में विष्णु.... भगवान एक व्यापक है – ऐसा है नहीं तीन काल में। समझ में आया?

इसलिए आचार्य ने भाषा क्या प्रयोग की है? **सव्वे** शब्द प्रयोग किया है। भिन्न-भिन्न रखकर बात की है। सबको एक करके नहीं। तीन काल में एक नहीं हो सकते,

अनन्त की सत्ता, वह अनन्त की पृथक्‌रूप रहकर, सिद्ध भी पृथक् सत्ता रहकर सिद्ध होते हैं। सिद्ध में होकर एक सत्ता दूसरे में मिल (नहीं जाती)। ज्योत में ज्योत मिल जाती है – ऐसा कितने ही कहते हैं। वहाँ फिर मिल गये। क्या धूल मिले? सुन न!

मुमुक्षु – अलग चौका।

उत्तर – अलग चौका(क्या)? सबका त्रिकाल भिन्न है। त्रिकाल सत्ता का अस्तित्व भिन्न है तो जहाँ मोक्ष हुआ, वहाँ सत्ता का अभाव हुआ या मोक्ष हुआ वहाँ विकार का अभाव हुआ? विकार का अभाव हुआ तो स्व सत्ता की विकास शक्ति पूर्ण प्रगट हुई, (उस) सहित सत्ता रही है। समझ में आया? यह वस्तु ऐसी है। अन्यमति सब गप्प मारते हैं कि यह सब एक है (ऐसा नहीं)। दूसरे जैन में भी ऐसा कहते हैं। एक था वह भाई! नहीं? मणियार था न भाई! अपने अन्धा... (संवत्) १९९५ में व्याख्यान सुनने आता था। तब अपने यह समयसार चलता था (तब उसने कहा) हाँ महाराज! सत्य है, हाँ! ज्योत में ज्योत मिलायी, फिर सिद्ध हो और फिर ज्योत में ज्योत मिल जाती है। अरे...! ऐसा नहीं है। ऐसे कहाँ गप्प मारे? 'एक में अनेक और अनेक में एक' आता है न स्तुति में? वह तो जहाँ एक भगवान विराजते हैं, वहाँ क्षेत्र में अनन्त है, अनन्त विराजते हैं, वहाँ एक है; प्रत्येक की सत्ता भिन्न है। अस्तित्व हो वह कोई तत्त्व खो बैठे? उसका अस्तित्व गुण ही ऐसा है कि जिस अस्तित्व गुण के कारण प्रत्येक तत्त्व अनादि-अनन्त सत्ता को धार रखा है। यह तो अस्तित्वगुण का गुण है। छह गुण का सामान्यगुण का पहला गुण है अस्तित्व। अस्तित्व कहो या सत् कहो। समझ में आया?

यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि भाई! आहा...हा...! ऐसा भाव जहाँ तुझे जम गया कि भगवान तो अकेला ज्ञान, चैतन्य सूर्य है, बस! वह क्या करे? वह राग को करे? वह पर का करे? वह राग और पर को पर्याय से भेद को जाने। पर्यायनय से जानने का (करे)। निश्चयनय से वह अभेदज्ञानमय सब आत्मा हैं। वे सब ज्ञानमय आत्मा भी राग को नहीं करते और कर्म के वश हुई दशा उनके ज्ञानमय में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान की वास्तविकरूप से समता प्रगट हुई है, उसे सामायिक, भगवान परमात्मा **जिनवर एम भणेइ**। तीन लोक के नाथ परमेश्वर जिनदेव इसे सामायिक कहते हैं। आहा...हा...! उसे अब भव नहीं। समझ में आया? वस्तु में –

द्रव्य, गुण में तो भव नहीं था परन्तु ऐसी पर्याय प्रगट हुई तो अब पर्याय में भी भव नहीं है। आहा...हा... ! इसलिए **फुडु** शब्द प्रयोग किया है न ! प्रगट हो गयी सामायिक दशा (उसे) भव नहीं, भव नहीं। आहा...हा... !

(लोगों को) ऐसा लगता है, भगवान जाने भगवान ने कितने भव देखे होंगे ? अब सुन न ! तू तुझे देखता है तदनुसार भगवान देखते हैं। तू देख कि मैं अरागी हूँ, मुझे संसार नहीं है तो भगवान ऐसा देखेंगे और ऐसी दशा है। ज्ञानमय भगवान आत्मा, आनन्दमय आत्मा स्वभाव का अभेदवाला स्वभाव। स्वभाववान स्वभाव से अभेद है। भव के भाव से अभेद नहीं है। समझ में आया ?

देखो यह सामायिक और सामायिक कैसी ? किसे होती है ? और कैसे होती है ? पहले (यह) तीन बोल कहे थे, भाई ! शुरुआत में पहले तीन (बोल) कहे थे। कैसी होती है ? किसे होती है ? कैसे होती है ? समझ में आया ? पहले आया था या नहीं ? और यह तीन क्या ? आहा...हा... ! भाई ! कैसी होती है ? ऐसी समता होती है, सामायिक होती है। किसे होती है ? ज्ञानमय देखे उसे होती है। समझ में आया ? कैसे होती है ? स्वभाव का आश्रय करे, उसे होती है। आहा...हा... !

दूसरे सब आत्माओं को.... जब स्वयं भी अपने आत्मा को ज्ञानमय से जहाँ देखता है, जानता है, उस स्थिति में स्वयं ने जहाँ राग और भेद को गौण कर दिया है तो उस प्रकार समस्त आत्मा अपने स्वभाविक दृष्टि से देखने पर उनका भी भेद और राग गौण करके उन्हें ज्ञानमय देखे, बस ! समभाव (हो गया); किसी पर विषमपना करना नहीं रहता। यह परमात्मा है, इसलिए वन्दनीय है, ऐसा राग भी नहीं रहता – ऐसा कहते हैं और यह जैनदर्शन का विरोधी है, इसलिए द्वेष (होता है), यह वस्तु में है नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

श्री योगीन्दुदेव अमृताशीति में कहते हैं – हे मित्र! सच्चे साम्यभाव की गुफा के बीच में बैठकर.... भाषा देखो ! अपने समयसार की जयसेनाचार्यदेव की ४९ गाथा की टीका में आता है न ? अनुभूति की गुफा में बैठ। ४९ वीं गाथा में है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। अनुभूति की गुफा... समझ में आया ? **सच्चैवोपादेय आत्मा इति मत्वा**

निर्विकल्पनिर्मोह-निरंजननिजशुद्धात्म-समाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा – कैसी गिरिगुफा? गिरिगुफा का विशेषण प्रयोग किया कि भगवान आत्मा को – शुद्ध पूर्ण है, उसे जानकर.... समझ में आया? **इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोह-निरंजननिजशुद्धात्म-समाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यात्व्य इति।** यह गिरिगुफा है, बाहर की गिरिगुफा में वह गिरिगुफा ढूँढता है। निवृत्त ही है, तेरी गिरिगुफा यहाँ पड़ी है। समझ में आया? कहीं अकेले जाय... परन्तु यहाँ है या नहीं? तू तो सर्वत्र तू का तू है। समझ में आता है? जहाँ जाये, गिरिगुफा में जाये तो तू तेरे समभाव से देख, तो होता है ऐसा है। यह समुदाय में रहकर बैठा हो तो तू तुझे अकेला देखता हो – ऐसा है। उसमें कहीं कोई बाहर की चीज तुझे व्यवधान करती है या विषमता उपजाती है ऐसी कोई चीज है नहीं। आहा...हा...!

यह तो भाई! बनारसीदासजी ने यह नहीं लिखा? चाहे रहो घर में... पण्डितजी! ऐसा है। चाहे रहो घर में चाहे रहे मन्दिर में, वन में मन्दिर में – ऐसा है। चाहे रहो वन में चाहे रहो मन्दिर में – ऐसा। बनारसीदासजी का कुछ है। बहुत सब पाठ कहीं याद होते हैं? पीछे है, समझ में आया?

आचार्य महाराज क्या कहते हैं? देखो, **हे मित्र!** आहा...हा...! कहाँ से निकाला यह? '**सखे**' '**आत्मानमात्मनि सखे**' आहा...हा...! आचार्य (कहते हैं) हे सखा! मेरे साथ का मित्र तू है। आहा...हा...! हम भी स्वभाव को साधकपने ध्याते हैं न! और अब स्वभाव में जाते हैं, हाँ! तू भी सखा-मेरा मित्र है, भाई! आहा...हा...! कितनी करुणा दृष्टि से यह मित्र बनाया, लो! भाषा! सखा! **हे मित्र! सच्चे साम्यभाव की गुफा के बीच में बैठकर व निर्दोष पद्मासन आदि बाँधकर अपने ही एक आत्मा के भीतर अपने ही परमात्मा स्वरूपी आत्मा को तू ध्यावे, जिससे तू समाधि का सुख अनुभव कर सके।** अमृताशीति का श्लोक है। साम्यभाव की गुफा... भाई! समता की गुफा में जा! ज्ञानमय भगवान शुद्धरूप को देखने जाये, वहाँ गुफा के अन्दर बैठा – ऐसा कहते हैं। राग से निकल गया, संयोग से निकल गया – ऐसा भगवान आत्मा, अनुभूति लक्षण – ऐसी

जो गिरि गुफा में बैठा, उसमें जो समभाव प्रगट हुआ, उसे सुख का अनुभव होता है। ९९ (गाथा पूरी हुई)। १०० यह भी सामायिक की व्याख्या है।

☆ ★ ☆

राग-द्वेष का त्याग सामायिक है

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ॥ १००॥

राग-द्वेष दोऊ त्याग के, धारे समता भाव।
सो सामायिक जानिये, भाषे जिनवर राव॥

अन्वयार्थ - (**जो राय-रोस बे परिहरिवि समभाउ मुणेइ**) जो कोई राग-द्वेष का त्याग करके समभाव की भावना करता है (**सो फुडु सामाइउ जाणि**) उसको प्रगटपने से सामायिक जानों (**एम केवलि भणेइ**) ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

☆ ★ ☆

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ॥ १००॥

फुडु और **लहु** शब्द तो इसमें बहुत आता है। **लहु** अर्थात् शीघ्र और **फुडु** अर्थात् प्रगट। **जो कोई राग-द्वेष का त्याग करके....** अर्थात् विषमता को देखना छोड़कर, **समभाव की भावना करता है....** भगवान आत्मा अत्यन्त वीतराग बिम्ब है, वह तो जानने-देखनेवाला त्रिकाल स्वभाव धारण (करनेवाला) तत्त्व है। ऐसा जो अन्तर में समभाव की भावना करता है। **उसे प्रगटरूप से सामायिक जानो...** उसकी दशा में सामायिक हुई है। समझ में आया?

मुमुक्षु – भावना अर्थात् राग लेना?

उत्तर – राग की बात कहाँ है? किसने कहा? दूसरा कहता अवश्य है, वह कहता है, हाँ! रतनचन्दजी कहते हैं। अपने वह नहीं, आया था भावना। शुद्धोपयोग की भावना

श्रावक को सामायिक में होती है। जयसेनाचार्यदेव की टीका। भाई! फूलचन्दजी ने लिखा था कि भाई! सामायिक में किसी समय सामायिक आदि में भी श्रावक को भी शुद्ध उपयोग होता है और भावना... भावना का अर्थ ही होता है। भावना विकल्प उसमें ऐसा होता है, ऐसी भावना तो पूरे केवलज्ञान की है। उसकी कहाँ बात है यहाँ? यह तो शुद्धोपयोग का परिणमन सामायिक में किसी समय, सामायिक के अतिरिक्त भी किसी समय पाँचवें गुणस्थान में चौथे में भी ऐसा हो जाता है। किसी समय वह दशा होती है। अन्दर के पूर्ण को – स्वरूप को निर्विकल्परूप से स्पर्शने का भाव अमुक काल में न आवे तो वस्तु नहीं रहती है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है। यह है, जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। उस दिन एक बार निकाला था। समझ में आया?

इस भावना का अर्थ क्या है? समभाव। यहाँ तो ऐसा कहा है **राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।** जानना, ऐसा है। समभाव की भावना करे अर्थात् वीतरागी पर्याय प्रगट करे। अपने स्वभाव में... भाई! ऐसा अवसर, ऐसा काल मिला, प्रभु! तुझमें पूर्णता पड़ी है न प्रभु! तुझे कहाँ ढूँढ़ने जाना है? तेरी नजर पड़े, तुझे निहाल होने का रास्ता है। आहा...हा...! निहाल होने का रास्ता कहीं बाहर नहीं है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा....! कहते हैं कि जिसने राग-द्वेष के विषमता के भेद का लक्ष्य छोड़कर, समभाव को **मुणेइ**, समभाव को करता है, वहाँ ऐसा लेना। **मुणेइ** का अर्थ जानता है (होता है) परन्तु उसका अर्थ करते हैं (ऐसा लेना) जो समभाव प्रगट करता है। **उसे प्रगटरूप सामायिक जानो – ऐसा केवली भगवान ने कहा है।** देखो, इसमें यह लिखा। **केवली एम भणेइ** उसमें **जिनवर एम भणेइ** (था)। सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में स्व-पर की पूर्णता का ज्ञान प्रगट व्यक्त (हुआ), शक्ति में था, वह प्रगट हो गया है, ऐसे परमेश्वर ने सामायिक ऐसी कही है। कहो, समझ में आया? आहा...हा...!

इस वस्तु का माहात्म्य और वस्तु के स्वभाव (इसे पता नहीं है)। उसे ऐसे मानो बाहर के माहात्म्य की आड़ में यह आत्मा तो कुछ चीज ही नहीं... वह हो गयी अधिक हो गयी। अधिक शुभराग विकल्प किया और या विशेष ज्ञान हो गया नौ पूर्व का... लो न! (वहाँ तो) आहा...हा...! (हो गया इसलिए) वह अधिक हो गया। यह बड़ा भगवान रह जाता है न! पूरा चैतन्यपिण्ड के माहात्म्य में नहीं आता।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ इस माहात्म्य में आया, वहाँ राग-द्वेष छूट गये, उसे प्रगट सामायिक है – ऐसा केवली भगवान कहते हैं। समझ में आया? **राग-द्वेष का त्याग ही सामायिक है।** यह भाई बात करते हैं। मिथ्यादृष्टि को ऐसा नहीं है। **सम्यग्दृष्टि का भाव बदल जाता है।** वहाँ से शुरु करते हैं। मिथ्यादृष्टि में राग और अल्पज्ञता, और संयोग के अस्तित्व में ही मेरा अस्तित्व है – ऐसा स्वीकार करता है। मिथ्या अर्थात् असत् दृष्टिवाला संयोग में या विकार में या अल्पज्ञ आदि पर्याय में अपना अस्तित्व स्वीकार करता है। इसलिए उसे असत् दृष्टि में राग-द्वेष साथ ही बसे हुए हैं और यह अल्पज्ञ देखे वहाँ अरे... ऐसा? (ऐसा लगता है) विशेष देखे तो, आहा...हा...! पण्डित है, अधिक है (–ऐसा लगता है)। पर्याय से हीनाधिक देखे वहाँ उसे (राग-द्वेष हुए बिना) नहीं रहते। हीन देखो तो ऊं...हूँ... (होता है)। परन्तु यह सब दृष्टि उसे स्वयं की पर्याय की दृष्टि है तो दूसरे के पर्याय के भेद वैसे देखने से उसे छोटा-बड़ापन देखकर राग-द्वेष किये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि का भाव बदल जाता है, वह संसार के सुख का श्रद्धावान नहीं रहता। आहा...हा...! दृष्टि में इसकी विपरीतता है, उसका उल्लास पुण्य के परिणाम में, पाप के परिणाम में, उसके बन्ध में और उसके फल में वह उल्लसित वीर्य उसका वहाँ रुक गया है। आहा...हा...! अर्थात् पर में ही सुख मानता है। होंश करके मानता है न? ठीक करके मानता है न? पुण्य-पाप के परिणाम, अल्पज्ञता या निमित्तता में ठीक करके माना अर्थात् उसमें सुख माना परन्तु आत्मा आनन्दमूर्ति है, मुझमें आनन्द है – ऐसा उसने नहीं माना। समझ में आया? आहा...हा...!

छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा परन्तु वह आनन्द कहीं नहीं मानता, हाँ! आहा...हा...! अरे! यह तो दृष्टि की कितनी कीमत है! आहा...हा..! जिसके आनन्द के साक्षात्कार भगवान में देखता है, वह छियानवें हजार (रानियों के) भोग में दिखता हो (परन्तु उसकी) दृष्टि गुलाँट खा गयी है। **भाव बदल गया है। वह संसार के सुख का श्रद्धावान नहीं रहता।** आहा...हा...! यह इन्द्र आकर ऐसे सम्मान दे... किसे मान? आनन्द के उल्लिसित वीर्य की स्फुरणा को मुझमें पड़ी है, इसलिए यह इन्द्र यह हैं, वे मुझे ठीक मानते हैं – ऐसा विकल्प करना वहाँ नहीं रहता। उसके कारण नहीं रहता, किसी

कमजोरी के कारण असक्ति से अस्थिरता हो जाये, वह चारित्रदोष है। उसके कारण हो, वह मिथ्यादृष्टि का दोष है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – इष्ट मानता है।

उत्तर – इष्ट को मानकर जो कहते हैं कि विकार मुझे किसके कारण हुआ, (वह) दृष्टि मिथ्यात्व है। वस्तु इष्ट-अनिष्ट है नहीं। वस्तु ज्ञेय है। ज्ञेय के दो भाग करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि (भाग) करते हैं। यह मुझे ठीक है, इसलिए मुझे राग हुए बिना रहता ही नहीं; यह मुझे अठीक है तो द्वेष हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानी को ज्ञेय के दो भाग हैं ही नहीं। ज्ञानी ज्ञेय को ज्ञेयरूप से जानता है, इष्ट-अनिष्ट उसकी बुद्धि में नहीं है परन्तु कमजोरी के कारण इष्ट-अनिष्ट की वृत्तियाँ उठ जायें, वे पर के कारण नहीं है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थ के कारण नहीं और स्वभाव के कारण नहीं; कमजोरी के कारण जरा (राग) खड़ा हो जाये, (वह) असक्ति का चारित्रदोष है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि का भाव बदल जाता है। पलट जाता है, दृष्टि में पलटा खाता है। आहा...हा... ! **संसार के सुख का श्रद्धावान नहीं रहता**। कहीं उसे सुख कहीं श्रद्धा में भासित नहीं होता; भगवान आत्मा में आनन्द भासित होता है। आहा...हा... ! जिसके इन्द्र मित्र हों... चक्रवर्ती के मित्र इन्द्र होते हैं, सिंहासन में आकर साथ बैठते हैं। (उसमें) कहीं सुखबुद्धि नहीं दिखती। आहा...हा... ! हीरा का सिंहासन हो... वह तो चक्रवर्ती है न ! हीरा का सिंहासन (हो) इन्द्र आकर (बैठता है)। पधारो... पधारो... ऊपर से इन्द्र (आवे), साथ बैठे... मित्र। तो उसमें यह ठीक हुआ – ऐसा दृष्टि में है ही नहीं। आ...हा... ! यह सब पूर्व के पुण्य का खेल मेरे ज्ञान में ज्ञेय है, वह जानने योग्य है। समझ में आया ? यह मेरा निवास, मेरा वास है, वहाँ मेरा निवास है। मेरा वास तो स्वभाव में – आनन्द में है, वहाँ मेरा निवास है। यह राग और इन संयोग में मैं हूँ ही नहीं। समझ में आया ? ऐसी सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा पलट गयी होती है।

मिथ्यादृष्टि की अनादि से दूसरी (श्रद्धा है)। उसे जहाँ हो वहाँ सुख भासित होता है। भगवान में सुख भासित न होकर जहाँ-तहाँ सुख भासित होता है। पुण्य-परिणाम में और पाप-परिणाम में तथा संयोग-अच्छे मित्र मिले, स्त्री मिली, या लड़का मिला,

पद्मिनी जैसी मिली, पैसे मिले तो सुख भासित होता है। कैसा होगा, मूलचन्दभाई! इन पैसेवालों को पूछते हैं? धीरुभाई! पागल के अस्पताल में, पागल, पागल को चतुर कहता है। हैं? पागल का अस्पताल होता है.... आहा...हा...!

पागलपना अर्थात्? जहाँ आत्मा में आनन्द है, वहाँ न मानकर अन्यत्र आनन्द माने, वह मिथ्यादृष्टि पागल है। आहा...हा...! समाधिशतक में तो पूज्यपादस्वामी ने वहाँ तक लिया है कि दृष्टि का भान है, फिर भी विकल्प ऐसा होता है कि मैं इसे समझाऊँ, उससे समझेगा; मैं उससे समझूँ... कहते हैं कि पागल है विकल्प में। समाधिशतक में कहा है, वह पागल-उन्माद है। उन्माद है।

भाई! कहाँ ज्ञानमूर्ति प्रभु में पर की विस्मयता की होंश और प्रतिकूलता से खेद यह वस्तु में नहीं है और उस चीज में भी नहीं है। वे चीजें जो हैं, उनमें होश करने की वृत्ति का कारण वे नहीं है। शोक करने का कारण वे नहीं है और होश तथा शोक करने की चीज आत्मा में भी नहीं है; पर्याय में खड़ी करता है। पर्यायदृष्टिवाला यह सुख, यहाँ सुख है, यहाँ सुख (है ऐसी वृत्ति खड़ी करता है)। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि पलट गयी है। पर में ठीकपने की होश की श्रद्धा जल गयी है। आहा...हा...! समझ में आया?

उसे अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द की गाढ़ श्रद्धा होती है। वह एकमात्र सिद्धदशा का ही प्रेमी रहता है। मेरी दशा, जैसा दशावान हूँ, वैसी दशा हो, वही भावनावाला सम्यक्त्वी है। यह राग की भावना और अल्पज्ञ रहने की भावना नहीं होती। सर्वज्ञ कैसे वीतराग हुए और सर्वज्ञ हुए? वह अल्पज्ञ और राग में क्यों नहीं रहे? उन्होंने अल्पज्ञता और राग का अभाव करके सर्वज्ञ वीतराग हुए। उनके उपदेश में भी यह आया, अल्पज्ञता और राग की दृष्टि छोड़ और सर्वज्ञ स्वभाव की दृष्टि कर, सर्वज्ञ हो और विज्ञानघन हो! समझ में आया? ऐसा सम्यग्दृष्टि अतीन्द्रिय (आनन्द का) प्रेमी है। **वह संसार शरीर और भोगों के प्रति सम्पूर्ण विरक्त हो जाता है।** समझ में आया? इसलिए उसे समता (होती है)। अन्दर में सम्यग्दर्शन के प्रमाण में समता और आगे बढ़ने से चारित्रदोष मिटकर समभाव की स्थिरता होती है और वीतरागपने की समता (होती है), उसे सामायिक कहा जाता है। विशेष कहेंगे.....

(**मुमुक्षु :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल ७,	रविवार, दिनाङ्क २४-०७-१९६६
गाथा १०० से १०३	प्रवचन नं. ४३

सामायिक – समताभाव किसे कहना? बात आयी – **'केवली एम भणइ'** आया है न? राग-द्वेष का परिहार (करके) समभाव को प्रगट करे, उसे सामायिक प्रगटरूप से केवली महाराज कहते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है – ऐसा जिसे अन्तर निर्णय और भान हुआ, उसे दूसरे प्राणियों के प्रति समभाव है। समझ में आया? धर्मी जीव की दृष्टि, मिथ्यादृष्टि से उलटी हो गयी है।

अज्ञानी दूसरों के काम देखकर इसने यह किया, उसने यह किया, इसने इसका बिगाड़ा, इसने इसका सुधार – ऐसा मानकर अज्ञानी स्वयं राग-द्वेष करता है। ज्ञानी ऐसा जानता है कि कोई किसी का बिगाड़ता या सुधारता नहीं है। सब-सबकी दशा अपने कर्म-अनुसार संयोग-वियोग होता है। उसके कारण उसे दूसरों के प्रति इसने इसका ऐसा किया, इसलिए द्वेष होता है और इसने अच्छा किया, इसलिए राग होता है – ऐसा कारण सम्यग्दृष्टि को ज्ञान में, श्रद्धा में नहीं रहता। समझ में आया?

इस कारण यहाँ अन्त में यह कहा – **वह जानता है कि सर्व जीवों को सुख-दुःख और उनका जीवन-मरण उनके ही स्वयं के कर्मों के उदय अनुसार होता है, कर्मों के उदय को कोई मिटा नहीं सकता है।** यह बन्ध अधिकार की बात ली है। यहाँ धर्मी अपने आत्मस्वभाव को ज्ञाता-दृष्टारूप में स्वीकार करता, जानता, स्थिरता करता (है)। समझ में आया? दूसरे जीव का जीवन और मरण, सुखी-दुःखी के संयोग, कोई दूसरा किसी को कर सकता है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता है। जगत् में अनेक काम चलते हैं, उनके अपने-अपने अन्तरंग उपादान (के) कारण से (वे) कार्य होते हैं।

मुमुक्षु – निमित्त आवे तो होते हैं।

उत्तर – यह प्रश्न ही कहाँ है ? निमित्त कहाँ नहीं है ? उस समय पदार्थ में कार्य नहीं, उस समय नहीं। अनादि-अनन्त पदार्थ में प्रति समय कार्य होता है।

मुमुक्षु – अच्छा निमित्त मिले तो कार्य होवे न ?

उत्तर – उसमें अच्छे बुरे का प्रश्न ही कहाँ आया ?

वस्तु छह द्रव्य... इसमें थोड़ा लिखा है। फिर आगे आयेगा। जैसे यह सूर्य उगता है, उससे कोई ऐसा विचार करे कि यह सूर्य झट अस्त हो जाये तो ठीक और झट उगे तो ठीक। कम सूर्य हो तो ठीक और बड़े तो ठीक ? यह तो उसके कारण से उगता है और उसके कारण से अस्त होता है। उसमें कम-ज्यादा करनेपने का कार्य किसी को विकल्प नहीं आता। ऐसे ही धर्मी जीव को जगत के पदार्थ उसके क्रम में परिणमते हुए अपनी अवस्था के कार्य को करे, तब दूसरी चीज उस समय जो अनुकूल हो, वह होती ही है; इस कारण उसे दूसरे में विषमता उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार मैंने दूसरे के काम कर दिये – ऐसा उसे अहंकार नहीं होता तथा दूसरे मेरा काम कर दें – ऐसी उसे मान्यता नहीं होती है।

मुमुक्षु – काम कर दिया यही अहंकार ?

उत्तर – अहंकार नहीं होता, इसका अर्थ भी कर नहीं सकता; इसलिए अहंकार नहीं है। किसका कार्य करे ? कौन द्रव्य निकम्मा है ? निकम्मा अर्थात् ? उसके काम में – कार्य की पर्यायरहित द्रव्य.... **पर्याय विजुत्तम दव्वम्** पर्यायरहित द्रव्य कहो या कार्यरहित द्रव्य कहो, दोनों एक ही स्वरूप हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? शास्त्रकार की भाषा है कि **पर्याय विजुत्तम दव्वम्** और **द्रव्य विजुत्तम पर्याय** पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्यरहित पर्याय नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कार्यरहित द्रव्य नहीं होता और कारणरहित वह कार्य नहीं होता। कारण अर्थात् द्रव्य। समझ में आया ? आहा...हा... !

छह द्रव्यों का जो वास्तविक स्वभाव है, उसका कारणरूप द्रव्य तो स्वयं कारण है, उसकी पर्याय का। प्रति समय कारण वह और पर्याय उसका कार्य। कहाँ कार्यरहित, वह द्रव्य है ? और उस कार्य का जो कारण, द्रव्य कहाँ नहीं है ? संयोगी जीव हो तो हो भले, उसके साथ क्या सम्बन्ध ?

मुमुक्षु – कारण–कार्य की मीमांसा....

उत्तर – यही कार्य-कारण की मीमांसा है। समझ में आया ?

इसलिए यहाँ कहते हैं, कोई किसी को कौन मारे ? कौन जिलाये ? कौन दे ? किसे दे ? किसे ले ? ऐसे समस्त भ्रम अज्ञानी को होते हैं कि इसने यह दिया और इसने यह लिया – ऐसा ज्ञानी को नहीं होता; इसलिए सहजरूप से धर्मी को उस प्रकार का पर का कारण बनाकर विषमताभाव उत्पन्न नहीं होता (था), वह नहीं होता। रविवार है, रविवार है, इसलिए वकील फुरसत में होते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, आत्मा **ऐसे समभाव के धारक ज्ञानी गृहस्थ, सामायिक शिक्षाव्रत और मुनि, सामायिक चारित्र के पालक हैं**। गृहस्थाश्रम में भी अपने सम्यग्दर्शन और ज्ञान का भान है; इस कारण उसे पर के प्रति विषमता मिट गयी है अथवा अपने ज्ञान में रागादि कोई कमजोरी से होते हैं, उसे अपने स्वभाव में खतौनी नहीं करता है। समझ में आया ? यह दृष्टान्त दिया है, देखो !

समयसार कलश में कहा है : अन्तिम दृष्टान्त '**इति वस्तु स्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः**' 'बन्ध अधिकार' का १७६ वाँ कलश है। 'बन्ध अधिकार' का १७६ वाँ संलग्न... संलग्न... १७६ (श्लोक)। '**रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः**' सम्यग्ज्ञानी अपने ज्ञाता–दृष्टा के स्वभाव को जानता हुआ, **ज्ञानी इस तरह सर्व वस्तुओं के स्वभाव को....** समस्त वस्तुओं के स्वभाव को और **अपने आप को ठीक-ठीक जानता है**। सभी चैतन्य परमात्मस्वरूप ज्ञाता हैं – ऐसा जानता है। राग–द्वेष की विषमता हो तो उसे व्यवहार से वैसा जानता है। द्रव्यरूप से जगत् के परमाणु आदि सामान्यरूप से उन्हें जानता है, व्यवहाररूप से उनकी पर्याय उनका कार्य है; इस तरह उस पर्याय को कार्यरूप से व्यवहारनयरूप से जानता है। समझ में आया ? उसकी पर्याय – कार्य व्यवहारनय से जानता है – ऐसा कहा। वहाँ वह पर्याय का व्यवहार है; निश्चय उसका द्रव्य है। समझ में आया ?

परमाणु अनन्त हैं, उनका सामान्यपना, ध्रुवपना वह उनका द्रव्य है, निश्चय है। उसकी पर्याय वह प्रति समय (होती है), वह उसका व्यवहार। यह व्यवहार.... निश्चय

और व्यवहार। पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता। निश्चय, व्यवहार बिना का नहीं होता। द्रव्य कार्य बिना का नहीं होता। कार्य को अपना द्रव्य कारण नहीं है – ऐसा द्रव्य उसे नहीं होता, ऐसा नहीं होता। आहा...हा... ! अद्भुत बात भाई !

ऐसी समता होने पर **अपने में राग-द्वेष भाव नहीं करता....** अर्थात् ? राग-द्वेष के विकल्प जरा हों, परन्तु मैं आत्मा ज्ञाता-ज्ञानस्वरूपी शुद्धस्वभाव हूँ – ऐसा जानता हुआ उस राग को अपने ज्ञानस्वभाव में मिलाता, शामिल करता, खतौनी करता नहीं है। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा समभाव है। कोई लकड़ी मारे तो समभाव (रखना) – ऐसा समभाव नहीं। लो ! किसी ने लकड़ी मारी और क्षमा रखी, वह क्षमा नहीं।

मुमुक्षु – एक थप्पड़ मारे तो दूसरी मारने दे न !

उत्तर – मारे कहाँ ? यह तो सब ख्रिस्ती की बातें हैं। ईशु ख्रिस्ती कहते हैं न ! एक ऐसा मारे तो ऐसा मार, वह समभाव... यह समभाव की व्याख्या ही नहीं है।

समभाव की व्याख्या – आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव और पुण्य-पाप के विकल्प एक प्रकार के उत्पन्न हों, वह सब एक ही प्रकार का बन्धभाव है, दोनों विषमभाव है; स्वभाव समभाव है – ऐसा जहाँ विवेक होता है, वहाँ समभाव होता है। उसे समभाव कहते हैं। ऐसा दूसरे कहें एक ओर तू यहाँ मारो, दूसरी ओर यहाँ मारो... ईशु ख्रिस्ती... उसे पता ही नहीं है। मारे किसे और सहन करना किसने ? समझ में आया ? ज्ञान भगवान आत्मा अपने समस्वभावी चैतन्यरस को ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जानता है। उसमें पुण्य-पाप की कमजोरी के कारण होनेवाले राग को स्वभाव में नहीं मिलाता। बस, इस अपेक्षा से वह राग-द्वेष को नहीं करता। समझ में आया ? यह सामायिक की बात हुई।

अब, छेदोपस्थापना की (गाथा है)।

☆ ★ ☆

छेदोपस्थापना चारित्र

हिंसादिउ-परिहारू करि जो अप्पा हु ठवेइ।
सो वियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ॥ १०१॥

हिंसादिक परिहार से, आत्म स्थिति को पाय।
यह दूजा चारित्र लख, पंचम गति ले जाय॥

अन्वयार्थ – **(जो हिंसादिउ-परिहारू करि अप्पा हु ठवेइ)** जो कोई हिंसा आदि पापों को त्याग करके आत्मा को स्थिर करता है **(सो वियऊ चारित्तु मुणि)** सो दूसरे चारित्र का धारी है, ऐसा जानो **(जो पंचम-गइ णेइ)** यह चारित्र पञ्चम गति को ले जाता है।

☆ ★ ☆

हिंसादिउ-परिहारू करि जो अप्पा हु ठवेइ।
सो वियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ॥ १०१॥

जो कोई आत्मा, हिंसा आदि पाप के परिणाम के अभाव-स्वभावस्वरूप आत्मा को **स्थिर करता है.... अप्पा हु ठवेइ** नास्ति की। हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव का अभाव करके, यह तो नास्ति से बात कही, भगवान ज्ञायकस्वरूप में **ठवेइ... ठवेइ...** 'छेदोपस्थापना' शब्द है न? भाई! इससे उसमें से यह शब्द निकाला। ऊपर 'स्थाप' शब्द है सही न? अहा... ! इसलिए अध्यात्म की बात की। छेद + उपस्थित। छेद – विकार का छेद करके आत्मा में स्थापित होना, उसे छेदोपस्थापना – ऐसा अर्थ यहाँ किया है। अध्यात्म है। परिहार में ऐसा लेंगे... यथाख्यात में ऐसा लेंगे। सूक्ष्म सम्पराय वह खोटा है, वह चारित्र यथाख्यात सूक्ष्म सम्पराय लिखा है, यह सूक्ष्म सम्पराय नहीं, यह यथाख्यात है। सूक्ष्म शब्द पड़ा है न! इसलिए भ्रम हो गया है। समझ में आया? आयेगा गाथा में।

यहाँ कहते हैं, **हिंसादिउ-परिहारू** भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप के भान में, काल में, स्वरूप की स्थिरता आत्मा में स्थापता है, तब उसे हिंसा आदि परिणामों का वहाँ अभाव होता है। अभाव होकर आत्मा में आत्मा को स्थापित करता है, वह **वियऊ चारित्तु...** योगीन्द्रदेव उसे छेदोपस्थापना कहना चाहते हैं। समझ में आया? वरना तो सामायिक में स्थिर होता है, उसमें कोई विकल्प दोष लगा हो, उसे छेदकर फिर स्थिर हो तो उसे छेदोपस्थापनीय कहते हैं।

यहाँ तो उसी प्रकार अध्यात्म से लिया है। भगवान आत्मा... छेद – उपस्थ, उपस्थ। भगवान आत्मा समस्वभावी वीतरागी बिम्ब आत्मा है। उसे वीतरागी स्वभाव से विरुद्ध हिंसा झूठ आदि का परिणाम जो विषम है, उन्हें छोड़कर स्वभाव में आत्मा को **थवेइ** स्थापित करता है, उसे दूसरा चारित्र छेदोपस्थापनीय कहा जाता है। कहो समझ में आया ? अन्तिम गाथाएँ हैं न ! चारित्र, मोक्ष का मूल है न ! दर्शन-ज्ञान भले हो परन्तु मूल चारित्र, वह मोक्ष का कारण है। **चारित्त खलु धम्मो** और पंचास्तिकाय में अन्त में चारित्र लिया है न ! चारित्र में थोड़ा बाकी रहे, उतना पर समय बाकी है... चारित्र पूरा हो जाये, चारित्र की रमणता वही मोक्ष का कारण है। हाँ, वह चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता, यह अलग बात है परन्तु मोक्ष का साक्षात् कारण तो स्वरूप की रमणता है। आहा...हा... ! वह रमणता स्वरूप के दर्शन और ज्ञान के बिना नहीं होती है। भगवान आत्मा समस्वभावी चैतन्यसूर्य के दर्शन, अवलोकन, उसकी श्रद्धा और उसके ज्ञान बिना स्वरूप में स्थिरता – ऐसा चारित्र, रमणता – ऐसा चारित्र नहीं होता परन्तु वह चारित्र तो साक्षात् मोक्ष का कारण है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

वह दूसरे चारित्र का धारक है – ऐसा जानना। यह चारित्र पंचम गति को ले जाता है। पाठ है न देखो ! **पंचम-गइ णेइ** पहुँचाता है, पंचम गति पहुँचाता है, ले जाता है। भगवान आत्मा स्वरूप की रमणता करते, ध्रुवस्वरूप भगवान में रमणता करते हुए ध्रुव पर्याय – ऐसी प्रगट होती है, ध्रुव पर्याय अर्थात् है तो पर्याय परन्तु उसे कूटस्थरूप ऐसी की ऐसी ही स्थिरता कायम रहती है; इसलिए उसे एक न्याय से ध्रुव और कूटस्थ भी कहा जाता है।

ध्रुवस्वरूप में स्थिरतारूपी पर्याय प्रगट होने से केवलज्ञान को भी एक न्याय से कूटस्थ कहा है। पंचास्तिकाय... है न ? अपेक्षा से। ऐसा का ऐसा और ऐसा का ऐसा है। स्थिरता ऐसी की ऐसी, ऐसी की ऐसी स्थिरता रहती है। जैसे, स्वयं स्थिरबिम्ब भगवान है, उसमें स्थिरता का अन्तर अभ्यास होने पर वह स्थिरता ऐसी की ऐसी कायम रह जाती है। भले पलटे भले, परन्तु स्थिरता ऐसी की ऐसी वीतरागता कायम रहती है; इसलिए उसे ध्रुव भी एक न्याय से कहा जाता है। समझ में आया ? आहा...हा... !

यह अध्यात्म की बात की है न, उसकी – साधु की कितनी ही बात की है, ठीक है। उसका अन्तिम श्लोक तत्त्वार्थसार का है। **जहाँ हिंसादि के भेद से पापकर्मों का त्याग करना या व्रत भंग होने पर प्रायश्चित लेकर फिर व्रती होना, सो छेदोपस्थापना चारित्र है।** दो प्रकार का लिया है न? दो प्रकार हैं। प्रवचनसार में चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में दो प्रकार हैं। सामायिक में से भेद पड़कर स्थिर रहना या छेद करके स्थिर रहना – यह दो प्रकार के हैं। कहो, समझ में आया? अब तीसरा श्लोक १०२, यह बहुत साधारण बात है। इसलिए नहीं लेते। देखो! परिहारविशुद्धिचारित्र की व्याख्या अध्यात्म की।

☆ ★ ☆

परिहारिविशुद्धि चारित्र

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि॥ १०२॥

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि।
सो परिहार विशुद्धि है, करे शीघ्र शिव सिद्धि॥

अन्वयार्थ - **(जो मिच्छादिउ परिहरणु)** जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके **(सम्मद्दंसणसुद्धि)** सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना। **(सो परिहारविसुद्धि मुणि)** वह परिहारविशुद्धि संयम जानो **(लहु सिवसिद्धि पावहि)** जिससे शीघ्र मोक्ष की सिद्धि मिलती है।

☆ ★ ☆

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि॥ १०२॥

ऐसी शैली ली है। परिहारविशुद्धि अर्थात् प्रचलित रूढ़ि अनुसार तो ऐसा है कि स्वरूप जो है, परिहारविशुद्धि का वह विशेष साधु को प्राप्त होता है। तीस वर्ष के बाद, अमुक प्रकार का संसार में रहा हो और फिर भगवान के पास आठ वर्ष रहकर संगति

प्रत्याख्यान पूर्व का अभ्यास आदि किया हो तो उसे होता है। यह तो किसकी दशा, इस प्रकार (कहा है) परन्तु यहाँ तो उसे वास्तविक परिहार, वास्तविक परिहार को मिथ्याश्रद्धा का त्याग **सम्मद्दंसण-सुद्धि** उसका वास्तविक परिहार कहते हैं, यहाँ तो... आहा...हा...!

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि॥ १०२॥

जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके.... आदि शब्द है न? मिथ्यात्व – भ्रम, अस्थिरता, अव्रत, कषाय आदि के मलिन परिणाम, वहाँ से परिहार उठाया। समझ में आया? जिसने परमात्मा निजस्वरूप का अन्तर श्रद्धा और ज्ञान द्वारा सत्कार किया है, आदर किया है। जिसने परमात्मा स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप है – ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में उपादेय रूप से किया है, उसका अर्थ कि उसका सत्कार, आदर किया है। अनादि से उसका अनादर करता था और पुण्य तथा पाप के विकल्पों का अनादि से अकेला एकान्त आदर करता था। समझ में आया? उसे छोड़कर जो **सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना...** वहाँ 'एक' शब्द लिया है। यह तो अष्टपाहुड़ में आता है न? **सम्मद्दंसण...** एक सम्यक्त्व में परिणत हुआ आठ कर्मों का नाश करता है – ऐसा अष्टपाहुड़ में श्लोक है। कुन्दकुन्दाचार्य... वहाँ जोर देना है – सम्यग्दर्शन। स्वरूप की जो श्रद्धा पूर्ण-पूर्ण हुई है। उसकी ओर के झुकाव में वही का वही परिणमन ऐसा जहाँ चला (तो) आठों ही कर्म का नाश हो जाता है। **'समस्त परिणमणुं अठ कम्मं'** नाश होता है – ऐसा पाठ है। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान परमानन्द अनन्त गुण का धाम की जहाँ अन्तरस्वभाव में एकाकार होकर थाप मारी, आदर किया कि यही आत्मा है (वहाँ) सब परिहार हो गया। समझ में आया? मिथ्यात्व का परिहार और राग-द्वेष का भी जहाँ परिहार अर्थात् त्याग अर्थात् अभाव हुआ और भगवान आत्मा के स्वरूप की पूर्ण प्रतीति का आदर और स्वरूप में स्थिरता हुई, उसे यहाँ परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! दर्शन पर अधिक जोर दिया है न!

वस्तु सम्यग्दर्शन बिना एक कदम भी धर्म में आगे नहीं चल सकता। भगवान पूर्णानन्द प्रभु जिसकी दृष्टि में परमात्मा निजस्वरूप का साक्षात्कार हुआ, उसे

वास्तव में परमात्मा का श्रद्धा-ज्ञान में साक्षात्कार हुआ है। समझ में आया? लोग नहीं कहते? कि ए... तुम्हें भगवान का साक्षात्कार हुआ? भगवान मिले तुझे? वे भगवान परमेश्वर स्वयं जिसकी श्रद्धा और ज्ञान में अन्तर्मुख होने से साक्षात्कार हुआ, उसका सम्यग्दर्शन और शान्ति का परिणमन (हुआ), उसे यहाँ परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। अध्यात्म की बात ली है न! वह क्रिया व्यवहार की है, उस बात को ज्ञान में लिया। समझ में आया?

यहाँ अध्यात्मदृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है... इन्होंने खुलासा किया है शीतलप्रसादजी ने! **यहाँ अध्यात्मदृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विषयों का त्याग करके सम्यग्दर्शन की विशेष शुद्धि प्राप्त करना वह परिहार विशुद्धि है।** दूसरे प्रकार से कहें तो मिथ्यात्व-श्रद्धा का विषय पर है। विपरीत श्रद्धा का विषय पर है। राग-द्वेष, यह... यह... यह... पूरी चीज सम्यग्दर्शन का विषय है। समझ में आया? मिथ्यात्वश्रद्धा में तो यह राग, द्वेष, पुण्य, पाप यह... यह... यह... फिर यह अल्पज्ञ यह अस्ति पूरा आता है। ऐसा विषय जिसे छूट गया है, उसे सम्यग्दर्शन में स्वविषय जिसे प्राप्त हुआ है और रागादि में परविषय पर है। राग-द्वेष की पर्याय में झुकाव पर के प्रति जाता है, उस श्रद्धा का विषय पर था, इस राग-द्वेष की अस्थिरता में भी, प्रशस्त देव-गुरु आदि या अप्रशस्त स्त्री, परिवार – उसका विषय पर ऊपर जाता है। इसका विषय ऐसा अन्दर में बदल गया है। समभाव से जिसने आत्मा को विषय बनाया है – ऐसे चारित्र को परिहारविशुद्धिचारित्र अध्यात्म शब्दार्थ से कहा है। आहा...हा...! समझ में आया?

दिगम्बर आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न विधि से आत्मा को गाया है। समझ में आया? क्योंकि आचार्य का क्षयोपशम भी, भिन्न-भिन्न व्यक्ति है इसलिए (भिन्न -भिन्न) होता है और उनकी स्थिरता के प्रकार में भी बहुत अन्तर पड़ता है। षट्गुण हानि -वृद्धि होती है, भले छठवाँ गुणस्थान हो परन्तु पर्याय के भेद हैं। इसलिए उनकी कथन पद्धति में भी अलग-अलग प्रकार की शैली से अध्यात्म को प्रसिद्ध किया है। समझ में आया?

शुद्ध आत्मा का (निर्मल) अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। उन्हें छोड़कर जहाँ ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं... ज्ञान और चारित्र। स्वरूप का ज्ञान। ज्ञान और चारित्र अर्थात्? यह ज्ञानमूर्ति वह झलकती है, पर्याय में प्रगट होता है और स्वरूप की स्थिरता आत्मा में प्रगट होती है। **उसकी पूर्ण प्रगटता के लिए अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का नाश करके जैसे-जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है, वैसे -वैसे कषाय की मलिनता कम होती जाती है। श्रावकपद में देशचारित्र होता और साधुपद में सकलचारित्र होता है।** समझ में आया? इन्होंने भेद पाड़ा है। वस्तुत: तो वह परिहारविशुद्धि है। वह तो मुनि को होता है परन्तु इन्होंने जरा भेद (किया है), वास्तव में यह तो मुनि को है।

बात जरा ऐसी ली है कि सम्यग्ज्ञान के कारण से धर्मी को राग-द्वेष का परिहार कैसे वर्तता है? कि उसे किसी पदार्थ की विस्मयता नहीं लगती है। जो पदार्थ जिस स्वरूप में परिणमता है, उस प्रकार उसका स्वभाव वर्तमान पर्याय का है। इस कारण उसे विस्मयता से, विस्मयता से, जिसे होश से जो राग होता है और अविस्मय कि ऐसा कैसे हो? ऐसी ग्लानि से जो द्वेष होता है – ऐसा राग-द्वेष, ज्ञान में पदार्थ की यथार्थ स्थिति के भासन के कारण विस्मयता या छेदता न होने से **छह द्रव्यों के मूल गुण और पर्यायों के स्वरूप को केवलज्ञानी की तरह यथार्थ और शंकारहित जानता है।** श्रुतज्ञान में भी परोक्षता है – इतनी बात है परन्तु श्रुतज्ञान, केवलज्ञानी जाने उतना ही, वैसा ही जानता है। समझ में आया? वह अपने ज्ञान में छहों द्रव्य (यथार्थ जानता है)।

कल रात्रि में थोड़ा कहा था और अपने कलश-टीका में आ गया है। कलश-टीका है न? उसमें (आ गया) कि आत्मा का एक त्रिकाली ज्ञानगुण है, उसकी एक समय की दशा है, वही छह द्रव्यों को जानने की ताकतवाली दशा है। समझ में आया? आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली ज्ञानगुण है, उसकी एक समय की अवस्था है; वह एक समय की अवस्था, छह द्रव्यों को जानने की, मानने की... भले अभी परलक्ष्यी है परन्तु एक समय की पर्याय में इतनी ताकत है। समझ में आया? कलश-टीका में अधिक लिया है। इनने उतारा है, राजमलजी ने इस प्रकार उतारा है और बात यथार्थ है। पर्याय को मानता नहीं,

छह द्रव्य को मानता नहीं – ऐसा उतारा है। छह द्रव्य को मानता नहीं, वह आत्मा की पर्याय को मानता नहीं; इस प्रकार यह बात यथार्थ है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... शशिभाई! देखो! यह अन्यमती छह द्रव्य नहीं मानते, इसका अर्थ कि वे द्रव्य के एक गुण की पर्याय को ही नहीं मानते और अपने द्रव्य की एक पर्याय की सामर्थ्य कितनी है, उसे वह नहीं मानता। समझ में आया? भाई ने कहा है – धर्मदास क्षुल्लक ने, सम्यग्ज्ञानदीपिका में कहा है, जो कोई छह द्रव्य और छह के गुण, पर्याय हैं, इन छह को नहीं मानता, वह आत्मा को बिल्कुल मान ही नहीं सकता। समझ में आया? सम्यग्ज्ञानदीपिका.... भाषा क्षयोपशम बहुत थोड़ा है परन्तु उनकी रुचि का परिणमन और अन्दर धमाकेदार उपदेश है। सम्यग्ज्ञानदीपिका, स्वात्मानुभवमनन – ऐसे दो ग्रन्थ हैं। समझ में आया? जोरदार है। क्षयोपशम कम है, इसलिए बारम्बार पुनरावृत्ति बहुत आती है, वह तो आवे। इन तारणस्वामी में पुनरक्ति बहुत आयी है, बहुत। यह तारणपन्थ है न? पुनरक्ति बहुत, परन्तु अन्दर अध्यात्म का जोर इतना है उनका, इतना जोर है... मेरे प्रमाण नहीं मानो तो निगोदं गच्छई, वहाँ बारबार यह कहते हैं, निगोद जाएगा।

भगवान आत्मा अभेदस्वरूप चिदानन्द पूर्ण परमात्मा तेरा विराजमान है। उसे एक समय की अवस्था तो नहीं परन्तु ऐसा अनन्त अवस्था का पिण्ड एक गुण और ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य... जिसके एक गुण की एक पर्याय की ताकत छह द्रव्यों को झेल सके, इतनी ताकत! छह द्रव्य को जाने, श्रद्धे और स्वीकार करे, इतनी एक पर्याय की ताकत। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा यह भगवान आत्मा, ऐसी अनन्त पर्यायरूप आत्मा को जिसने अन्तर में जाना, उसने छहों द्रव्य के गुण-पर्याय, केवली जानते हैं, वैसा वह मानता है और जानता है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई!

यह सब आत्मा... आत्मा... आत्मा करते हैं परन्तु आत्मा... आत्मा... कितना और कैसा है? समझ में आया? आत्मा तो अब अभी बहुत गाते हैं। यहाँ की बात ३०-३१ वर्ष से बाहर आयी न! बहुत आत्मा गाने लगे। अभी कोई कहता था? रजनीश का कल कोई कहता था। रजनीश का ऐसा है, अमुक है, अमुक है। मुम्बई! अरे...! भगवान! भाई!

मुमुक्षु – मुम्बई में उसके अनुयायी बहुत हैं।

उत्तर – मिलते हैं, भाई ! पूरी दुनिया पड़ी है। चींटियों को नगर बहुत होते हैं। यह चींटियाँ नहीं निकलतीं ? इनके क्या कहलाते हैं यह ? शाम को आटा डालते हैं न ? उसकी भाषा क्या है ? बिल... बिल... है न ? कुछ नाम होगा। शाम को चींटियाँ बहुत निकले, फिर यह आटा डाले। आटा ! हमारे नगरा कहते हैं, नगरा अर्थात् उनका नगर, उनका घर। शाम को बहुत होती हैं। शाम को बहुत निकलती हैं, लाखों निकलती हैं; इसलिए कोई मनुष्य हो गया चींटीं ? यहाँ पहले बहुत निकलती थी।

यह तो भगवान आत्मा इतना है कि जिसके एक गुण की, एक समय की एक पर्याय, जो छह द्रव्य को जाने – ऐसा तो एक पर्याय का स्वरूप सामर्थ्य है, ऐसा आत्मा। ऐसे आत्मा... आत्मा... करे यह नहीं चलता। समझ में आया ? ऐसी अनन्त पर्यायें जिसके गुण में – ज्ञानगुण में पड़ी हैं। एक समय की पर्याय छह द्रव्य को जाने – ऐसी अनन्त पर्यायें गुण में पड़ी हैं – ऐसी अनन्त पर्यायों का एक गुण, उसे श्रद्धा करने का श्रद्धागुण, उसकी एक समय की पर्याय इतने को श्रद्धती है, अभी भले पर तरफ में हो परन्तु उस श्रद्धा की पर्याय की इतनी ताकत है कि समस्त गुणों की पर्याय की ऐसी ताकत है – ऐसी पर्याय श्रद्धा करती है, ऐसी अनन्त पर्याय उसके श्रद्धा-गुण में पड़ी है। समझ में आया ? ऐसा एक चारित्रगुण इतना, ऐसा एक आनन्दगुण, ऐसा एक स्वच्छतागुण, ऐसा एक प्रभुतागुण, ऐसा एक कर्तागुण, ऐसा एक कर्मगुण, ऐसा एक कर्णगुण, इसमें है। समझ में आया ? भाई ! आत्मा तो बड़ा भगवान है, भाई !

यह कहते हैं कि ऐसा आत्मा जिसे भासित हुआ, यह उसे छह द्रव्य के मूलगुण, मूल अर्थात् सामान्य और पर्याय का स्वरूप केवलज्ञानी के समान यथार्थ शंकारहित जानता है। शंका कैसी ? शंका का तो नाश हो गया। वहाँ निःशंकदशा आत्मा की हो गयी। भगवान ही ऐसा बड़ा है। ओ...हो... ! यह सब काम देखो न, जगत में अनेक हो रहे हैं, होते हैं, बिगड़ते हैं – ऐसी लोगों की भाषा में, व्यय होता है, उत्पाद होता है, यह सब पर्याय धर्म है। उसमें ज्ञानी को कोई किसी का कर्ता भासित नहीं होता और उसमें उसकी अद्भुतता और विस्मयता नहीं लगती। समझ में आया ? आहा...हा... ! साधारण प्राणी को तो ऐसा लगता है कि यह क्या ? समझ में आया ?

एक परमाणु एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चीरे, गति करे, पहले समय में गति नहीं थी, और दूसरे समय में हुई – उसका कारण कौन ? एक परमाणु पॉइन्ट है, वह वस्तु ऐसी कुछ है, एक पॉइन्ट परमाणु है, वह एक समय में ऐसी है, दूसरे समय में एक प्रदेश में जाये, तीसरे समय चौदह ब्रह्माण्ड जाये – कारण कौन ? पर्याय की विस्मयता ज्ञानी को भी नहीं आती, यह उसका स्वभाव है। दूसरे समय में भले ही फिर स्थिर हो जाये, वह एक समय में ऐसा कैसे ? ऐसा कैसे ? उस समय का उसका ऐसा स्वभाव है। समझ में आया ? ऐसा ज्ञानी ने छह द्रव्य के मूलगुण, पर्याय के स्वभाव को जाना है। समझ में आया ?

ऐसा दृढ़ ज्ञान और वैराग्य के धारक सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मों के उदय से यद्यपि गृहस्थपद में गृहस्थ के योग्य अनेक कार्य करते.... करते अर्थात् दिखते हैं। **करते दिखाई देते हैं तो भी वे-वे कार्य आसक्तिभाव से नहीं करते हैं।** यहाँ परिहार है न! परिहार, परिहार करना है। नहीं... नहीं... नहीं। भाव में जुड़ते हैं – ऐसा दिखता है, मानो करते हैं, यह हिलना और चलना और पकाना, खाना और समस्त क्रियाओं का ज्ञानी कर्ता नहीं होता। ज्ञाता रहकर ज्ञान उन्हें अलग रखता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

कषाय के उदय को रोग जानता है। देखो, धर्मी तो कषाय के राग को रोग जानता है। वह रोग भी पुरुषार्थ से मिटता है – ऐसा जानता है। मेरे पुरुषार्थ की गति इतनी विपरीत है, इसलिए होता है। मेरे स्वभाव में उसका मैल नहीं है, फिर भी ज्ञानी जानता है कि यह राग (मेरी कमजोरी के कारण हुआ है) । कर्म (मुझे) राग करावे तो कर्म के ऊपर द्वेष आता है। समझ में आया। आहा...हा... ! मार डाला ! कर्म के ऊपर द्वेष आया परद्रव्य... यह कर्म कुछ कमजोर पड़े न तो ठीक; फिर उसके ऊपर राग आया। सूक्ष्म व्याख्या है, राग-द्वेष की, हाँ ! सूक्ष्म व्याख्या है। सत्य की स्थापना करना है न ? सत् ऐसा है, रागी को, हाँ ! केवली की बात नहीं है – ऐसा सत् है, वहाँ भी जरा राग का अंश है और ऐसा नहीं होता (– ऐसा कहे) वहाँ भी जरा कषाय के द्वेष का अंश है। भगवान तो वीतराग रस स्वरूप है। समझ में आया ?

एक नय को मुख्य करके, दूसरे को गौण करके स्थापन करना। छद्मस्थ है न ? राग साथ में है इसलिए... हाँ ! वस्तु के लिए नहीं। केवली सब कहते हैं और सब स्थापित करते

हैं। रागी प्राणी (को) राग है न! ऐसा नहीं होता, भाई! ऐसा मार्ग नहीं होता (– ऐसा कहे उसमें) इतना भी अन्दर प्रशस्त कषाय का अंश है। वीतरागमार्ग में इतना वह पोषाता नहीं, भाई! वीतरागरस ऐसा प्रभु! आँख में कदाचित् छोटा कण जरा समाये, यह समाये नहीं इसे – ऐसा ज्ञायकस्वरूप... दूसरा तो राग-द्वेष कहाँ रहा परन्तु एक नय को मुख्य करके निश्चय ऐसा है (– ऐसा स्थापित करे) 'निश्चय नयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की' यह – विकल्पवाले नय नहीं, हाँ! दूसरे अबद्ध, बद्ध... यह तो अबद्ध भी इसमें वस्तु यह बराबर है परन्तु यहाँ जहाँ स्थापना में जरा वीर्य, वीर्य जरा वहाँ रुकता है और इतना जरा राग का अंश, वीतरागरस में वह भी नहीं पोषाता है। चल नहीं सकता है – ऐसा स्वरूप है। भाई! समझ में आया?

कहते हैं, भगवान आत्मा गृहस्थदशा में रहा होने पर भी, वह स्वयं कार्यों में उसकी लीनता / एकाकार नहीं। समझ में आया? और राग के उदय के इतने भाग को भी समपने के साथ मिलाने से उस विसमता का अंश, रोग जानता है। समझ में आया? **मोक्ष का उपाय मूल में एक सम्यग्दर्शन की शुद्धि है। वीतराग यथाख्यात चारित्र और केवलज्ञान की प्राप्ति का यही उपाय है।** भगवान आत्मा उस राग के अंश के मैल आदि द्वेष आदि उन्हें स्वभाव से जहाँ भिन्न जाना है – ऐसे सम्यग्दर्शन में जहाँ आत्मा का आश्रय है – ऐसा समभावी भगवान सम्यक्... सम्यक्... सम्यक्... प्रतीति में आया है, उसके जोर से उसे वीतरागचारित्र और केवलज्ञान के लाभ का यह सम्यग्दर्शन ही उपाय है – ऐसा यहाँ कहा है। समझ में आया? आहा...हा...!

यह अभी अपने भाई ने गाया है, नहीं? आनन्दघनजी का गाया है न? सेठिया ने कुछ गाया है, एक शब्द लिखा है। 'गगन मण्डल में' हाँ! आया है या नहीं? उसमें कहीं आया है। आनन्दघनजी ने यह गाया है, आनन्दघनजी... 'गगन मण्डल में गौवा विहाणी, वसुधा दूध जमाया, माखन था सो विरला रे पाया – सन्तों, छाछ जगत भरमाया.... गगन मण्डल में अधबिच कुआ, वहाँ है अमी का वासा, सुगुरा होवे सो भर-भर पीवै सन्तों, नूगुरा जावे प्यासा अबधु, सो जोगी गुरु मेरा, इस पद का करे रे निवेणा'। 'गगन मण्डल में गौवा विहाणी, वसुधा दूध जमाया, माखन था सो विरला रे पाया, पण छाछ जगत

भरमाया'। दुनिया को छाछ मिली है। यह पुण्य-पाप की क्रिया और यह... मक्खन तो ज्ञानी खा गये अन्दर से। आहा...हा...!

इसमें कहीं है, हाँ! लो, यही आया। एक ही लाईन है। सेठिया ने बनाया है 'आत्म गगन में ज्ञान ही गंगा, जामे अमृत वासा, आत्म गगन में ज्ञान ही गंगा, ज्ञान ही गंगा, जामे अमृतवासा; सम्यग्दृष्टि भर-भर पीवै सन्तों, मिथ्यादृष्टि जाय प्यासा, अबधु, सो जोगी रे गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवैरा'। आनन्दघनजी का बड़ा लम्बा है। सब एक-एक देखा है। पहले (संवत) १९७८ की साल पहले, हाँ! एक-एक आनन्दघनजी के पद-वद सब खूब देखे हैं।

यह अन्तर आत्मा की बात, यह अलौकिक बात है। भगवान समरसी प्रभु! आहा...हा...! ऐसे समरस में, ज्ञान में ऐसा विषय बदल जाये कि यह ठीक, अठीक, कहते हैं कि यह राग-द्वेष है। वह स्वरूप में पोषाते नहीं हो सकते हैं। उनका जिसे त्याग है, वह वास्तव में परिहारविशुद्धिचारित्र है। अध्यात्म से लिया है न?

तत्त्वार्थसार में लिया है, अन्तिम उद्धरण दिया है। **जहाँ प्राणियों के घात का विशेष रूप से त्याग हो और चारित्र की शुद्धि हो, वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।** यह तत्त्वार्थसार में (आता है)। अमृतचन्द्राचार्य का तत्त्वार्थसार है न? अपने व्याख्यान में तत्त्वार्थसार पढ़ा गया है। कहो, समझ में आया इसमें? यह अत्यन्त संक्षिप्त करके (कहा) अब सब पूरा होने आया है। अब, यथाख्यात, १०३ (गाथा)।

☆ ★ ☆

यथाख्यात चारित्र

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ सो सुहुमु वि परिणामु।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह-धामु॥ १०३॥

सूक्ष्म लोभ के नाश से, सूक्ष्म जो परिणाम।
जानों सूक्ष्म चारित्र वह, जो शाश्वत सुख धाम॥

अन्वयार्थ - (**सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ**) सूक्ष्म लोभ का भी क्षय होकर (**जो सुहुम वि परिणामु**) जो कोई सूक्ष्म वीतरागभाव होता है (**सो सुहुमु वि चारित्त मुणि**) उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्रजनों (**सो सासय सुह धामु**) वही अविनाशी सुख का स्थान है।

☆ ★ ☆

उसमें सूक्ष्मसाम्पराय लिखा है, ऐसा नहीं। इसमें ऐसा है न ? हाँ, परन्तु सूक्ष्म ऐसा नहीं। यह सूक्ष्म चारित्र अर्थात् यथाख्यातचारित्र। पहले अपने आया था, उसमें भूल की। पहले शब्द ऐसा था, देखो! 'सूक्ष्म लोभ के नाश से, होय शुद्ध परिणाम, वह सूक्ष्म सम्पराय है, चारित्रसुख का धाम' – ऐसा नहीं। अपने है इसमें ? सूक्ष्म चारित्र अर्थात् यथाख्यातचारित्र, ऐसा। इन्होंने इसमें सूक्ष्म सम्पराय जोड़ दिया है। सूक्ष्म शब्द पड़ा है न, जहाँ सूक्ष्म लोभ का नाश होता है, वहाँ सूक्ष्म सम्पराय होता है, किसका ? सम्पराय तो राग का नाम है, यह सब खोटा। मूल तो ऐसा है।

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ सो सुहुमु वि परिणामु।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह-धामु॥ १०३॥

यथाख्यातचारित्र की बात करते हैं। भगवान आत्मा में... यह अन्तिम कड़ियाँ हैं न (इसलिए) ठेठ तक लेकर, यथाख्यात तक ले (जाकर), स्वयं भगवान ब्रह्मा और विष्णु स्वयं ऐसा करके पूरा करेंगे। **सूक्ष्म लोभ का भी क्षय होकर....** यह चारित्र की उत्कृष्ट व्याख्या – यथाख्यात्चारित्र। यथाख्यात जैसा स्वरूप अन्दर प्रसिद्ध है – अकषाय, अविकारी, वीतराग, समभाव (स्वरूप) – ऐसी पर्याय में यथा-प्रसिद्धि वीतरागरूप होना, उसे यथाख्यातचारित्र कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

दसवें गुणस्थान में जो सूक्ष्म लोभ रहता है, उसका भी विलय होकर **सुहुमु वि परिणामु – जो कोई सूक्ष्म वीतरागभाव होता है...** ऐसा लेना। सूक्ष्म लोभ का अंश जो दसवीं भूमिका में – गुणस्थान में होता है, उसका नाश होकर जो सूक्ष्म परिणाम प्रगट होता है, एकदम वीतराग परिणाम (प्रगट होता है), **उसे सूक्ष्म अथवा यथाख्यातचारित्र जानो**। उसे सूक्ष्म-बारीक वीतरागी चारित्र पर्याय जानो। सूक्ष्म सम्पराय नहीं, समझ में

आया ? वह तो राग है, सम्पराय तो राग है। **वही अविनाशी सुख का स्थान है**। लो ! आहा...हा... ! एकदम यथाख्यात है न ! ऐसी यथाख्यातरूपी निर्मल वीतरागी पर्याय का तो बिम्ब आत्मा है, अकेला अकषायरस, समझ में आया ?

ऐसे भगवान आत्मा के अन्तर अवलम्बन में से पूर्ण वीतरागता प्रगटी और जहाँ अंश लोभ का भी था, उसका व्यय हुआ, वीतरागता का उत्पाद हुआ, वीतरागस्वरूप ध्रुव तो कायम पड़ा है। यहाँ विलय आया न ! और परिणाम है, इसलिए उत्पाद-व्यय कहा। समझ में आया ? भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप है, वह तो अकेला समरसी स्वभाव है। समरसी ज्ञातादृष्टा, वह समरसी स्वभाव है। उसमें जो लोभ का अंश बाकी था, उसका विलय करके – व्यय करके और वीतरागी पर्याय का उत्पाद होना, उसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं। वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह चारित्र का भेद है और यह प्रकार है – ऐसी बात दूसरे में नहीं हो सकती, क्योंकि गुण की शुद्धि की वृद्धि के प्रकारों के यह सब नाम हैं। पर्यायशुद्धि होती है, वह बात अन्यत्र नहीं हो सकती। समझ में आया ? समय-समय की शुद्धि का यहाँ तो मिलान करना है।

जिसे आत्मस्वभाव शुद्ध ध्रुव चैतन्य, जिसे अवलम्बन दृष्टि-ज्ञान में आया और उसका आश्रय लेकर जिसने वीतराग समभाव... समभाव... ओ...हो... ! समझ में आया ? दसवें गुणस्थान की भूमिका में अबुद्धिपूर्वक जरा राग रहा और उसका नाश होकर वीतरागपर्याय की प्रगट प्रसिद्धि; जैसा स्वभाव है, वैसी पर्याय की प्रसिद्धि अकषाय की हुई वह सूक्ष्म यथाख्यातचारित्र (जानो)।

वही अविनाशी सुख का स्थान है। लो ! अविनाशी सुख का स्थान वह चारित्र है। उस चारित्र का प्रकार है। अन्य कहते हैं, अपने राम... राम... राम... राम... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान करो। मोक्ष हो जायेगा समझ में आया ? (अन्य कहते हैं) राम से साक्षात्कार... वह राम यह। 'निजपद रमै सो राम कहिये' समझ में आया ? आनन्दघनजी ने कहा है, भाई ! 'निजपद रमैं सो राम कहिये, कर्म कसे सो कृष्ण कहिये'। यह तो 'निजपद रमैं सो राम कहिये'। अपने में आता है न ? कलश में (आता है) आत्माराम। जैसे बाग में रमते हैं न ? ऐसे भगवान अपने आनन्द बाग में अन्तर रमे – शुद्धता के पर्याय

की विशेष प्रगटता हो, उसे आत्मबाग में रमणता, उसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं। वह चारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है वह अविनाशी सुख का कारण है। समझ में आया?

सुख आत्मा का गुण है, उसे चारों घातिकर्मों ने रोक रखा है.... घाति (कर्म) तो निमित्त है, हाँ! रोक रखा है अर्थात् कोई द्रव्य रोकता नहीं, अपनी पर्याय में स्वयं भावघाति किया, तब द्रव्यघाति को निमित्त कहा जाता है। यह सोलहवीं गाथा में है, प्रवचनसार की सोलहवीं गाथा – स्वयंभू की गाथा में यह है – द्रव्य, भाव, घातिकर्म। भाई! आता है न? सोलहवीं। कहो समझ में आया?

परन्तु मुख्यरूप से उसे रोकनेवाला मोहकर्म है। ऐसा लिया। असावधानी... उसकी चर्चा अभी पण्डितों में चलती है। दूसरे एक कहते हैं कि चार कर्म है, एक कहते हैं मोहकर्म है। भाई! पूरा अनन्त आनन्द, अनन्त आनन्द, तो केवलज्ञान होने पर प्रगट होता है। बारहवें में अनन्त सुख प्रगट होता है, सुख प्रगट होता है, अनन्त नहीं प्रगट होता – ऐसी बड़ी चर्चा दो व्यक्तियों में चलती है। कैलाशचन्द्रजी और अजितकुमार!

यहाँ तो आत्मा का अनुभव, सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अंश चौथे (गुणस्थान में) प्रगट होता है। उस पाँचवें में आनन्द का अंश बढ़ता है, छठवें में बढ़ता है, सातवें में बढ़ता है, आठवें, नौवें, दशवें में बढ़ते हुए बारहवें (गुणस्थान में) आनन्द पूर्ण हो जाता है। अनन्त नहीं होता। समझ में आया? जहाँ अन्दर केवलज्ञान और केवलदर्शन वह अनन्त वीर्य जहाँ प्रगट हुए, उस आनन्द को अनन्त उपमा दी जाती है। अनन्त आनन्द प्रगट हुआ। समझ में आया? ऐसे अनन्त आनन्द का कारण, यह आत्मा का मोक्ष का मार्ग-उपाय है। स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव। समझ में आया?

यह बात ली है। हाँ! **क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का जब क्षय कर डालता है, तब क्षायिक सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है।** ऐसा लिखा है, भाई! यह बात सत्य है। इसका विवाद, अभी विवाद है। दूसरे (कहते हैं) स्वरूपाचरणचारित्र चौथे में नहीं होता, पाँचवें में नहीं होता, छठें में नहीं होता। अरे...! भगवान! पर के आचरण में गुणस्थान बढ़ गया? आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान आत्मा अनादि काल से राग-द्वेष की, अनन्तानुबन्धी की तीव्रता के परिणाम में.... आचरण था, तब श्रद्धा, मिथ्या, ज्ञान मिथ्या, और आचरण मिथ्या था। ऐसा भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का आचरण, दृष्टि हुई, तब प्रतीति हुई, तब ज्ञान हुआ कि यह आत्मा है, तब स्वरूप के आचरण का अंश जगा, कणिका जगी। समझ में आया? आत्मस्वरूप के आचरण की कणिका जगी। पूर्ण आचरण की दशा यथाख्यातचारित्र (है)। समझ में आया? उसका अंश चारित्र यदि चौथे में प्रगट न हो तो आगे वह बढ़ नहीं सकता। समझ में आया?

अरे...! तत्त्व के निर्णय का विषय होना चाहिए और वह भी समभाव से, शान्ति से वीतरागी चर्चा होना चाहिए। उसके बदले एक दूसरे को झूठा ठहरने की बात – ऐसा नहीं होता, भाई! समझ में आया? यह तो वीतरागी चर्चा है, समभाव से चाहिए। किसी की भूल हो तो भी उसे दूसरे प्रकार से और द्वेषी मानकर या विरोधी मानकर उसे कहना यह कोई सज्जनता की रीत है? होता है, यह वीतरागमार्ग है भाई! इसमें तो शान्ति से, न्याय से जैसे हो वैसे निर्णय करना चाहिए। जो सत्य निकले, उसे स्वीकार करना चाहिए, उसमें कहाँ यह किसी के पक्ष की बात है।

यह बात देखो... भाई ने लिखी है – टोडरमलजी ने और भाई ने लिखी है। गोपालदासजी वरैया ने। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका और राजमलजी ने टीका में लिखी है और भाई ने लिखी है – समयसार नाटक में लिखा है परन्तु होता है न? जहाँ आत्मा स्वरूप से पूर्णानन्द प्रभु भासित हुआ, वहाँ उसमें स्थिरता का अंश न आवे तो स्थिरता के बिना यह क्या चीज है (– उसकी) एकदम श्रद्धा हो गयी? परन्तु श्रद्धा के साथ में ज्ञान में कुछ हुआ है या नहीं? स्थिरता के बिना... तीनों के अंश आये हैं या नहीं साथ में? समझ में आया?

वास्तव में सम्यग्दर्शन तो 'सर्व गुणांश वह समकित' है। भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है, उसकी प्रतीति नहीं थी, ज्ञान-ज्ञायकपने की उसे (प्रतीति नहीं थी); उसे प्रतीति थी राग-द्वेष-विकार और परसत्ता के स्वीकार में। है स्वयं इसलिए कहीं उसका अस्तित्व तो स्वीकारना चाहिए, इसलिए उसका अस्तित्व यह (स्वरूप) भासित नहीं

हुआ तो यहाँ राग-द्वेष में उसने अस्तित्व स्वीकार किया। वहाँ सब ही स्वीकार। श्रद्धा वहाँ, ज्ञान वहाँ, आचरण वहाँ। अब गुलाँट खायी श्रद्धा ने ओ...हो... ! मेरा परमात्मा पूर्ण प्रभु तो मैं ही हूँ – ऐसे निज कारणपरमात्मा की दृष्टि, अवलोकन की श्रद्धा की हुई, वहाँ भगवान! कुछ स्थिर हुए बिना किस प्रकार हुई ? आहा...हा... ! यह स्थिरता है, उसका नाम स्वरूपाचरणरूप में कहते हैं। कहीं शास्त्र की भाषा में सीधा नहीं निकले परन्तु न्याय से तो समझना चाहिए न ?

चारित्रमोह की कषाय की पच्चीस प्रकृति है। अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की जब गयी, तब कुछ हुआ, चारित्र में कुछ हुआ या नहीं ? भले उसे देशसंयम न कहो, सकल संयम नहीं। संयम के स्थानों के जो प्रकार गोम्मटसार में वर्णन किये हैं, उन अमुक स्थान तक में संयम नहीं कहलाता तो वह भले हो परन्तु किंचित स्थिरता प्रगटी ऐसा तो कहना पड़ेगा या नहीं। इसमें विवाद किसका ? इसमें तकरार किसकी ? भाई ! किसकी होवे भूल, ख्याल में न होवे तो उसे इस प्रकार समझना चाहिए।

'सर्व जीव है ज्ञानमय' आया न अपने ? सामायिक में... 'सर्व जीव ज्ञानमय' प्रभु ज्ञानमय है न प्रभु ! यह तो एक समय की, एक समय की भूल, हाँ ! एक समयमात्र भूल उसमें टिकती है, दो समय कभी भूल टिकती ही नहीं। भूल, पर्याय है। समझ में आया ? आहा...हा... !

त्रिकाल भगवान अनन्त गुण से शाश्वत् तत्त्व अन्दर है। उसकी जहाँ दृष्टि हुई तो स्वरूपाचरणचारित्र साथ ही प्रगट होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी साथ में आता है और प्रभुता का, एक प्रभुता नाम का गुण जो है, उसकी प्रभुता पर्याय में भी प्रभुता का अंश प्रगट होता है। ईश्वरता का अंश प्रगट होता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को स्वरूपाचरण होता है।

यह शक्तियाँ प्रगट होने पर जब ज्ञानी अपने उपयोग को अपने आत्मा में स्थिर करता है, तब ही स्वरूप का अनुभव आता है और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में इस सुख का प्रगटपना हो जाता है। यह वस्तु है, उसे अतीन्द्रिय स्वभाव, स्वभाव है, उसका स्वाद न आवे तो उसकी

श्रद्धा कहाँ हुई ? खरगोश के सींग की श्रद्धा करनी है ? कुछ वस्तु हो उसकी करनी है न ? तो यह चीज आनन्द और ज्ञानमूर्ति पूर्ण है – ऐसा उसके ज्ञान-श्रद्धान में आये बिना, उसे आनन्द का स्वाद आये बिना, उसे सच्ची प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए सम्यग्ज्ञान में स्वरूपाचरण और आनन्द का अंश स्वाद में होता है, अनन्त गुण का अंश होता है। समझ में आया ? उसे यहाँ विशेष पूर्ण हो, उसे यथाख्यात कहते हैं। पूर्ण स्थिरता और पूर्ण आनन्द उसे यथाख्यात कहते हैं। परम यथाख्यात तेरहवें (गुणस्थान में) । वह अनन्त आनन्द हो गया, अनन्त आनन्द हो गया। उसे परम यथाख्यात कहा है। वह यथाख्यातचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है।

विशेष कहेंगे.... (**मुमुक्षु :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

अहा! अद्भुत मुनिदशा

मुनिराज बारम्बार वीतरागतारूप से, जिसमें अनन्तगुणों का वास है ऐसे निज चैतन्यनगर में / अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में प्रविष्ट होकर अद्भुत ऋद्धि को अनुभवते हैं। अहा! अद्भुत मुनिदशा!

मुनिराज ने शुभोपयोग से भिन्न होकर अन्तर में आनन्द के नाथ का अनुभव किया है; जो आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे रखते हैं और जो प्रगट नहीं हुई, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मुनिराज निर्विकल्पदशा से परिणमित होकर, बाह्य से शून्य होकर अन्तर में प्रवेश करते हैं; वहाँ शून्यता नहीं है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द की अद्भुतदशा को अनुभवते हैं।

अहा! उन भावलिङ्गी/आनन्द की मस्ती में झूलनेवाले मुनिराज की क्या-क्या बात कहें! वर्तमान में तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।

(- वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७४)

आत्मा ही पञ्च परमेष्ठी है

अरहंतु वि सो सिद्धु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि॥ १०४॥

आत्मा ही अरहन्त है, निश्चय से सिद्ध जान।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधु समान॥

अन्वयार्थ – (**णिच्छइँ**) निश्चय से (**अरहंतु वि अप्पा जाणि**) आत्मा ही अरहन्त है ऐसा जानो (**सो फुडु सिद्धु**) वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है (**सो आयरिउ वियाणि**) उसी को आचार्य जानो (**सो उवझायउ**) वही उपाध्याय है (**सो जि मुणि**) वही आत्मा ही साधु है।

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल ९, मंगलवार, दिनाङ्क २६-०७-१९६६
गाथा १०४ से १०६ प्रवचन नं. ४४

यह योगसार शास्त्र है, इसकी १०४ वीं गाथा। **आत्मा ही पञ्च परमेष्ठी है**। लो! यह आत्मा ही पंच परमेष्ठी के स्वरूप ही है, यह बात कहते हैं। यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव की मोक्षपाहुड़ की १०४ गाथा में भी यही है।

अरहंतु वि सो सिद्धु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि॥ १०४॥

निश्चयनय से.... अर्थात् यथार्थ दृष्टि से देखो तो **आत्मा ही अरहन्त है – ऐसा जानो**। आत्मा स्वयं अरहन्त है। अरहन्त की पर्याय – केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि जो प्रगट है, वे सभी पर्यायें आत्मा के अन्तर में ध्रुवपद में पड़ी है। वे सभी शक्तिरूप से पड़ी

है। 'ध्रुवपद रामि रे...' समझ में आया? आत्मा का ध्रुवस्वरूप है। एक समय की दशा है, वह अल्प है, विपरीत है रागादि। अल्प अर्थात् ज्ञान, दर्शन और वीर्य की अल्प अवस्था है और राग-द्वेष की, वह विपरीत अवस्था है। यह चार घाति; अघाति का कुछ नहीं।

आत्मा में वर्तमान अवस्था में – दशा में अल्प ज्ञान, अल्प दर्शन, अल्प वीर्य (और) राग-द्वेष के परिणाम हैं। वह तो एक क्षणिक दशा है। उसके स्थायी मूल स्वभाव में तो जो अरहन्त – अनन्त चतुष्टय प्रगट होनेवाले हैं, वे सब अनन्त चतुष्टय आत्मा में अन्दर पड़े हैं। समझ में आया? इसलिए कहते हैं कि **आत्मा ही अरहन्त है – ऐसा जानो**। भगवान मैं अरहन्त आत्मा ही हूँ।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं कहा था न? (प्रवचनसार की) ८० गाथा। भगवान अरहन्त का द्रव्य अर्थात् शक्तिवान्; गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् वर्तमान प्रगट हालत – दशा – ऐसे जो अरहन्त के द्रव्य-वस्तुस्वभाव और दशा को जो जानता है, वह आत्मा के अन्दर में (उसके साथ) मिलाता है। समझ में आया? मेरे आत्मा में भी यह अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि वस्तु के स्वभाव में अरहन्त पद अन्दर पड़ा है। पड़ा है, वह प्रगट होता है। होवे वह आवे, न होवे वह नहीं आवे। ऐसा भगवान आत्मा को अरहन्त के स्वरूप से जानना चाहिए... ओ...हो...! यह प्रतीति, यह श्रद्धा, रागरहित निर्विकल्प श्रद्धा द्वारा यह भगवान आत्मा अरहन्त हूँ – ऐसी प्रतीति हो सकती है। समझ में आया?

कहते हैं कि अरहन्त का ध्यान करना। कल कहा था न? कल आया था न? वह नहीं था? – तत्त्वानुशासन में १९२ गाथा। यह ध्यान करना। अभी अरहन्त नहीं हैं न? (तो) उनका ध्यान करना, यह तो झूठ-मूठ ध्यान है। भाई! यह झूठ नहीं है, भाई! तुझे पता नहीं है। अरहन्त जो प्रगटरूप अनन्त अवस्था – दशारूप, कार्यरूप जो प्रगट हुए, वे सब कारण अन्दर में तेरे स्वभाव में सब पड़े हैं, भाई! आहा...हा...! उस कारण का उसके बाद कार्य है। समझ में आया?

भगवान आत्मा कारणपरमात्मा अर्थात् कारणजीव ध्रुव वस्तु में अरहन्त पद अन्दर पड़ा है। वहाँ तो ऐसा जबाव दिया है कि यदि वह न हो तो उसकी एकाग्रता से शान्ति और आनन्द का अनुभव, सफलपना जो होता है, वह अरहन्त पद का अन्दर स्वरूप

है; इसलिए ध्यान में सफलपना आता है। प्यास लगी हो और पानी न हो और तृप्ति हो – ऐसा होता है ? प्यास में सच्चा पानी हो तो प्यास टूटती है; झूठ-मूठ के पानी से प्यास मिटेगी ? इसी प्रकार आत्मा अरहन्तपद में अन्दर सच्चीरूप से है। यदि झूठ-मूठी प्रकार से हो तो उसकी एकाग्रता के श्रद्धा, शान्ति, आनन्दादि की दशा जो प्रगट होती है, वह झूठ -मूठ अरहन्त यदि स्वभाव में हो तो वह प्रगटेगी नहीं। समझ में आया ? बजुभाई !

मोक्षपाहुड में भी १०४ गाथा में यही कहा है, समझे न ? मोक्षपाहुड़। (यहाँ) १०४ ऐसी है। वहाँ भी १०४ ऐसी है। देखो ! आगे आचार्य कहते हैं कि जो अरहंतादिक पंच परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मा में ही हैं; इसलिए आत्मा ही शरण है – मोक्षपाहुड़ १०४।

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥ १०४॥

पण्डित जी ! इतनी स्पष्टता है, देखो न ! आहा...हा... ! सर्वथा मौजूद है। वस्तु में मौजूद ही न हो तो इनलार्ज कहाँ से होगा ? इनलार्ज अर्थात् पर्याय में कार्यरूप कहाँ से आयेगा ? समझ में आया ? अरे... ! यह भरोसा भी कौन लावे ?

जिसकी सत्ता में... भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। **अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी हैं, ये भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, शक्तिरूप से आत्मा की अवस्था हैं....** प्रगट होने पर वह आत्मा की ही अवस्था है। **इसलिए मेरे आत्मा ही का शरण है, इस प्रकार आचार्य ने अभेदनय प्रधान करके कहा है।** समझ में आया ? १०४, हाँ ! यहाँ भी १०४ गाथा ऐसी है, लो ! कुदरत ही देखो न मेल ! यहाँ १०४ है, वहाँ भी मोक्षपाहुड़ की १०४ गाथा है। समझ में आया ? भगवान आत्मा... भाई ! तू बड़ा है, भाई ! तू छोटा नहीं। तेरी दशा में अल्पज्ञपना हो परन्तु स्वभाव सर्वज्ञ है। अल्पदर्शीपना दशा में हो परन्तु स्वभाव सर्वदर्शी है। अल्प वीर्य वर्तमान प्रगट में हो परन्तु आत्मा अनन्त वीर्य का धाम है। राग-द्वेष की विपरीतता हो परन्तु वीतराग आनन्द का यह आत्मा कन्द है।

मुमुक्षु – इसे पण्डिताई रुचती है ?

उत्तर – रुचती है, इसे अनादि से उस वस्तु की रुचि नहीं होती... भरोसा नहीं

आता कि मैं ऐसा भगवान ? बीड़ी के बिना चले नहीं, उसके बिना चले नहीं, धूल के बिना चले नहीं, कीर्ति के बिना चले नहीं, उसे ऐसा मैं ? यह किसी प्रकार अन्दर जमता नहीं है। प्रेमचन्दभाई ! आहा...हा... !

भाई ! तू स्वयं ही अरहन्त स्वरूप शक्तिरूप विराजमान है। उसका ध्यान कर ! तू सिद्धस्वरूप अन्दर विराजमान है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। वस्तुपने है। कहीं पर्याय में सिद्ध समान है ? पर्याय में सिद्ध समान हो तो फिर पुरुषार्थ करना क्या रहा ? अन्तरस्वरूप ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द ऐसे ही अनन्त स्वच्छता, अनन्त परमेश्वरता, कर्ता-कर्म षट्कारक की शक्तियाँ भी एक समय में अनन्त-अनन्तरूप विराजमान आत्मद्रव्य में है – ऐसा आत्म-दरबार जिसमें अनन्त गुण शाश्वत् हो, शक्तिरूप सामर्थ्यरूप (विराजमान है)। अनन्त पर्यायें एक गुण की हो वे तो भले परन्तु उसके अतिरिक्त इसकी अनन्त शक्ति एक-एक गुण की है। समझ में आया ?

अस्तित्व रखता है, प्रमेयत्व रखता है, ध्रुवता रखता है, नित्यता अन्दर इसे प्रत्येक गुण को निमित्त होने की ताकत रखता है, अपनी अस्ति है, अनन्त गुण की उसमें नास्ति है, एक-एक गुण अस्ति है और अनन्त गुण की (नास्ति है)। ऐसी एक-एक गुण अनन्त पर्याय होने पर भी उसकी शक्ति उसके अतिरिक्त वापिस अनन्त है। आहा...हा... ! समझ में आया। भाई ! यह वस्तु ऐसी है। यह कोई कल्पना से बड़ी कर दी है – ऐसा नहीं। वस्तु ही ऐसी है। वस्तु ही ऐसी है।

भगवान आत्मा... ! कहते हैं कि भाई ! सिद्ध का ध्यान अर्थात् तेरे स्वरूप का ध्यान कर। त्रिकाली भगवान आत्मा सिद्धस्वरूपी है, भाई ! उसकी एकाग्रता कर। उस एकाग्रता का अर्थ श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र, ये तीनों स्वभाव की एकाग्रता के तीनरूप हैं। समझ में आया ? आहा...हा... !

आचार्य का ध्यान। आचार्य जो कुछ शिक्षा-दीक्षा देने में जो विकल्प है – राग, वह प्रमादभाव है, वह नहीं रखना। वह आचार्यपना नहीं; आचार्यपना तो अन्दर में ज्ञान-दर्शन, आनन्दादि पाँच आचारों का निर्मल परिणमन परिणमित होना, वह आचार्यपना है। शिक्षा-दीक्षा आदि देने का विकल्प होता है – रंजन-राग, वह आचार्यपना नहीं है। वह तो राग

है, इन परमेष्ठी की पर्याय में वह राग नहीं मिलता। समझ में आया? आचार्य – णमो लोए सव्व आयरियाणं – सबमें 'लोए' लेना, हाँ! इसलिए अन्त में लिखा है – णमो लोए सव्व साहूणं – अन्त दीपक है; इसलिए अन्त में बताया है, वरना णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आयरियाणं, इन आचार्यों को नमस्कार हो परन्तु इन आचार्य का पद, वीतरागी पर्याय में परिणमित पद है – ऐसी समस्त पर्यायें तेरे अन्तर में है। समझ में आया?

ऐसे आचार्यों को इस प्रकार वीतरागी पर्याय द्वारा आचार्य को पहचानकर और उसका अन्तर में तल्लीन हो जाना, वह स्वयं ही आचार्य हो जाता है। उपाध्याय भी दूसरे को पढ़ाते हैं। पढ़ाते हैं – ऐसा विकल्प है, वह प्रमाद है। समझ में आया? उपाध्यायपना है, वह तो वीतरागी पर्याय है। भगवान द्रव्य वीतरागी, गुण वीतरागी, और प्रगट पर्याय जितनी वीतरागी प्रगट हुई है, तीन (कषाय के अभावपूर्वक) गुणस्थान प्रमाण में, उस वीतरागी पर्यायवाला द्रव्य, वह उपाध्याय है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसे उपाध्याय का ध्यान करना।

साधु – उन्हें अट्ठाईस मूलगुण होते हैं परन्तु वह तो प्रमाद में जाते हैं। (क्योंकि) विकल्प है। उनकी जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी परिणति जो है, उसे साधु कहते हैं। वे साधु, स्वभाव को साधते हैं। पूर्ण स्वभाव को वे साधते हैं, अन्य राग कुछ नहीं साधता। समझ में आया? ऐसे परमात्मस्वरूप में पाँचों परमेष्ठी पद अन्दर पड़े हैं। आहा...हा...! पड़े हैं, वे प्रगट होते हैं। ऐसा अन्तर में भरोसा करके उसका ध्यान कर – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ध्यान फिर चारित्र की पर्याय है। रुचि प्रगट होने के बाद स्थिरता प्रगटे न? भगवान आत्मा ऐसा है, है ऐसी शक्ति... रात्रि में तो बहुत आया था। अब वह कोई फिर से आयेगा? रात्रि में तो बहुत आया था। तुम कल थे? नहीं थे? ओ...हो...! कल तो आया, भाई! आवे तब आ जाये न यह तो! कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – वह किसका ध्यान करते हैं?

उत्तर – आनन्द का ध्यान करते हैं। केवली किसका ध्यान करते हैं? पण्डितजी! प्रवचनसार में आया न? मोह नहीं, पदार्थ का ज्ञान पूरा है, तो किसका ध्यान करते हैं?

तो उनको क्या ध्यान है? ऐसा प्रश्न हुआ है। भाई! यह तो अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं न! यह उनका ध्यान कहो, उनका आनन्द का अनुभव (कहो)। आहा...हा...! समझ में आया? प्रवचनसार। अन्तिम गाथाएँ आती हैं न? ज्ञेय अधिकार। आहा...हा...!

यह सब अस्ति है, हाँ! यह सब बात नहीं। इसलिए शास्त्र में वह बात आती है न? षटखण्डागम में, 'षट पद प्ररूपणा'। पण्डितजी! यह पहला शब्द आता है न? षट् पद प्ररूपणा। षट् खण्डागम की पहली शुरुआत आवे जब (वहाँ ऐसा आता है) षट् पद प्ररूपणा। तथापि पदार्थों की कथन शैली आती है। षट् खण्डागम का पहला शब्द है, हाँ! उसमें भी ऐसा आता है। श्वेताम्बर में आता है, मुझे तो श्वेताम्बर में से पता है। अनुयोग द्वार में, पहले आया शब्द, उसमें यही आया, षट् पद प्ररूपणा। जो पदार्थ जिस प्रकार है, उसे उस पदार्थ को वाणी के पद द्वारा उसका कथन करना। सत् हो, उसका कथन है। न हो, उसका कथन नहीं – ऐसी पहली शुरुआत ही षट्खण्डागम में वहाँ से की है। समझ आया?

आत्मा वह है, ऐसा है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु – ऐसी वीतरागी दशाएँ साधक को भले ही असंख्य हैं और सिद्ध की, केवली की अनन्त पर्याय है और उन सब पर्यायों को पिण्ड भगवान आत्मा है – ऐसा सत् है। वह सत् पदार्थ ऐसा है, अस्तित्ववाला भगवान इस प्रकार है। उसकी अन्तर में श्रद्धा (करे), राग का आश्रय छोड़कर उसकी श्रद्धा (करे)। जब स्वभाव वीतराग है तो उसकी वीतरागदशा द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। **स्वानुभूत्या चकासते**। समझ में आया? उस वस्तु में राग नहीं है कि जिससे राग द्वारा उसकी प्राप्ति होवे।

भगवान आत्मा अकषाय वीतराग रस से भरपूर पड़ा है। क्या कहना उसकी बात, कहते हैं। समझ में आया? ऐसे आत्मा का पंच परमेष्ठी के रूप में ध्यान करना। समझ में आया? वह आत्मा ही स्वयं ध्यानगर्भित है। **आत्मा के ध्यान में ही पाँचों परमेष्ठी का ज्ञान गर्भित है। शरीरादि की क्रिया ध्यान में न लेकर....** अरहन्त का समवसरण और वाणी और शरीर को लक्ष्य में न लेकर उनका आत्मा इस प्रकार केवलज्ञानादि

परिणमित अस्तित्वतत्त्व है – ऐसे अरहन्त को लक्ष्य में लेना। समवसरण नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं। सिद्ध को तो कोई दूसरा है नहीं, वह तो है एकदम निर्मल पर्याय से परम पारिणामिकदशा से पूरे हैं। आचार्य का ध्यान भी उनके विकल्प, वाणी और रंजन – राग के परिणाम को लक्ष्य में न लेना। उनका आत्मा जिस प्रकार वीतरागीदशा से परिणमित हुआ, उसे लक्ष्य में लेना। ऐसे उपाध्याय को भी इस प्रकार और साधु को भी इस प्रकार (लक्ष्य में लेना)।

क्रिया ध्यान में न लेकर केवल उनके आत्मा का आराधन ही निश्चय आराधन है। देखो! जिसे आत्मा कहते हैं... अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वह आत्मा नहीं; वह तो पुण्य-परिणाम है। आचार्य, उपाध्याय... आचार्य को शिक्षा-दीक्षा देने का विकल्प उठता है, वह आस्रव तत्त्व अथवा शुभतत्त्व है, शुभ आस्रव है। वह आत्मा नहीं है। उसकी – आत्मा की स्थिति जो है, उसे श्रद्धा-ज्ञान में लेकर आत्मा में यह सब है – ऐसा उसे ध्यान करना चाहिए। आहा...हा...! समझ में आया?

समयसार कलश में कहा है। आधार दिया है। आत्मा का स्वरूप....

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वामात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा॥ २३९॥

आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमय एकरूप है, यही एक मोक्ष का मार्ग है। देखो, **एक एव सदा सेव्यो**। मोक्षमार्ग एक ही है, भाई! यह स्वभाव महान परमात्मा, महा परमात्मा, स्वयं परमात्मा महा है। ऐसे परमात्मा की अन्तर -श्रद्धा ज्ञान और रमणता (हो), वह मोक्षमार्ग निर्विकल्प एक ही है। समझ में आया? दूसरा मोक्षमार्ग तो निमित्त देखकर कथन-निरूपण दो प्रकार का है। वस्तु दो प्रकार से नहीं। समझ में आया?

भाई ने 'टोडरमलजी' ने यही कहा है। अपने भी आता है न? निरूपण, नहीं आया था? (समयसार) ४१४ गाथा है। अन्तिम गाथा, उस दिन कहा था। श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है – ऐसा जो निरूपण प्रकार... टोडरमलजी ने घर का शब्द नहीं रखा है। जो शैली आचार्य की है, वह शब्द ही रखा है। पण्डितजी!

उन्होंने भी उसमें कहा है न कि मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है – यह शब्द प्रयोग किया है। मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं, उसका निरूपण दो प्रकार से है। वह शब्द यहाँ है। टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि॥ ४१४॥

एक-एक शब्द उन्होंने शास्त्र में से लिया है। भले ही सामान्य का विशेष स्पष्ट किया है परन्तु इस शास्त्र के जो शब्द हों, उस शैली से ही बात की है, घर की (बात) कुछ नहीं की है परन्तु लोगों को उसका विश्वास नहीं आता। सीधे शास्त्र के अर्थ समझते नहीं और सच्चे पण्डितों द्वारा किये हुए अर्थ का बहुमान नहीं आता। यहाँ भी कहा, देखो! **दो भेद से (दो प्रकार के) द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है। ऐसा जो प्ररूपण – प्रकार (अर्थात् ऐसे प्रकार की जा प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है ।....** परमार्थ नहीं। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि **मोक्ष के अर्थी को उचित है कि इसी एक स्वानुभवरूप मोक्षमार्ग का सेवन करे।** भगवान आत्मा में पूरा धाम परमात्मा स्वयं पूरा पड़ा है। अरे...! उसमें तो अनन्त परमात्मा की अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। समझ में आया ? सिद्ध भगवान, जो अनन्त पर्यायें प्रगट हुई, वह तो एक समय की दशा है। ऐसी सादि-अनन्त दशाएँ – परमात्मा की एक समय की दशा, ऐसी सादि-अनन्त दशा जो भूतकाल के संसार के काल की अपेक्षा अनन्त गुणी पर्याय है। समझ में आया ?

संसार की पर्यायों का काल अशुद्ध या साधक, उनका काल बहुत थोड़ा है। अशुद्ध का अनन्त, साधक का असंख्य और साध्य-पूर्ण दशा का अनन्त... अनन्त... अनन्त... द्रव्य का अन्त कब आयेगा ? द्रव्य का अन्त नहीं तो पर्याय का अन्त कब (आयेगा) ? ऐसे की ऐसी पर्याय... पर्याय... द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य ऐसे अनन्त सिद्ध एक समय की दशावाला सिद्धपद, ऐसी अनन्त सिद्धपद (की पर्याय) एक समय में आत्मा में पड़ी है। आहा...हा...! समझ में आया ?

स्थूलदृष्टि से महाभगवान हाथ में नहीं आता, तब तक उसकी रमणता कहाँ

करनी ? इसका पता नहीं पड़ता। समझ में आया ? महा दृष्टि से अर्थात् ? सम्यग्दृष्टि महान दृष्टि है, महान दृष्टि है। उस दृष्टि के द्वारा परमात्मा ऐसा है – ऐसी उसके अन्तर में प्रतीति, श्रद्धा, अनुभूति में भान होकर आने के बाद उसमें लीनता करना है। तब मेरी मुक्ति होगी। समझ में आया ?

८० वीं गाथा में कहा न ? **जो जाणदि अरहंतं,** फिर अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि सम्यग्दर्शन (हुआ) परन्तु यह प्रमाद चोर है, हाँ! यह मेरा माल न लूट ले (जाए) इसमें ऐसा लिखा है। वह प्रमाद चोर है, हाँ! यह कहते हैं कि मुझे भान हुआ भले परन्तु यह प्रमाद मेरा लूट न ले जाये, इसलिए मैं सावधान होकर स्वरूप की सावधानी करता हूँ। प्रमाद मिटाकर पुरुषार्थ की कमर बाँधकर बैठा हूँ। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं, धर्मात्मा जीव ने धर्मी आत्मा ऐसा भगवान, उसका उसे ध्यान –धर्मध्यान करना, लो ! उसका नाम धर्मध्यान है। छोटाभाई ! यह सब सूक्ष्म है, हाँ! वहाँ सब कहीं (नहीं है)। महा कठिनता से सुनने को मिला। आहा...हा... ! परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ वीतराग की वाणी आयी, उसमें यह तत्त्व आया है। भाई ! 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' केवली पण्णत्तो धम्मो उत्तमं' मांगलिक तीन बोल आते हैं – चत्तारि मंगल, चत्तारि उत्तम, चत्तारि शरणं। यह सब भगवान ! यह शरण तेरी आत्मा में पड़ा है – ऐसा कहते हैं। भाई ! आत्मा तेरा शरण है। उस समय कहाँ ऐसे झपट्टे मारता है ? रोग आवे और वहाँ कहाँ नजर डाली ? भगवान को सम्हाल (स्मरणकर) ! यह तो विकल्प है। समझ में आया ? वहाँ कहीं शरण नहीं होती। भगवान भगवान भगवान भगवान भगवान भगवान भगवान किया होगा तो वह अन्तर्जल्प का राग है। तेरा भगवान अन्दर रागरहित है, उसकी शरण ले तब इसमें वास्तविक अरहन्त और सिद्ध की शरण ली – ऐसा कहा जाता है। १०४ (गाथा पूरी) हुई। १०५ !

☆ ★ ☆

आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश है

सो सिउ संकरू-विण्हु सो सो रूद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरू बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु॥ १०५॥

वह शिव शंकर विष्णु अरु रुद्र वही है बुद्ध।
ब्रह्मा ईश्वर जिन यही, सिद्ध अनन्त अरु शुद्ध॥

अन्वयार्थ - (सो सिउ संकरू विण्हु सो) वही शिव है, शंकर है, वही विष्णु है **(सो रुद्द वि सो बुद्धु)** वही रुद्र है, वही बुद्ध है **(सो जिणु ईसरू बंभु सो)** वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है **(सो अणंतु सो सिद्धु)** वही अनन्त है, वही सिद्ध है।

☆ ★ ☆

आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश है। अन्यमती कहते हैं, वे नहीं, हाँ! अर्थ अलग। यह तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश... ऐसा आत्मा उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहते हैं। यह लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहते हैं, वह आत्मा ऐसा नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! बहुत अन्तर है, वस्तु में तो पूरा (अन्तर है)। कल देखा था, नहीं? समयसार में प्रस्तावना में मनोहरलालजी वर्णी ने बहुत लिखा कि सबमें विरोध नहीं है। परमात्मा मानते हों, अमुक मानते हों, हैं न? उनकी प्रस्तावना है। सब विवेकी है, प्रज्ञापूर्ण है और एक-दूसरे से कोई विरुद्ध नहीं है, उसमें कोई असत्य नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान ने देखा आत्मा ऐसा कभी तीन काल में दूसरी जगह नहीं है। आत्मा की बातें भले कोई भी करे। समझ में आया? कहाँ गयी पुस्तक? उसमें आया है। सबका ध्येय समयसार है, उसका अर्थ क्या? समयसार अर्थात् आत्मा है ही कहाँ ऐसा? शशीभाई! कैसे होगा? यह वैष्णव थे, लो न!

आत्मा एक, उसमें आकाश के प्रदेशों की संख्या से अनन्त-अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायें, उनके असंख्य प्रदेश... कहाँ है? लाओ, किसी जगह ऐसा आत्मा हो तो। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय.... भले आत्मा ध्येय... ध्येय करे, बातें करे परन्तु आत्मा कैसा है? – यह जाने बिना ध्येय कहाँ से आया उसे? समझ में आया?

लिखा है देखो? 'कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिता परमात्मा की ही उपासना से दुःखो की मुक्ति हो सकती है। कुछ विवेकी महानुभाव की धारणा है...' यहाँ ब्रह्मा विष्णु नाम पड़े

हैं, इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दूसरे लोग कहते हैं, वे ब्रह्मा-विष्णु। 'कोई विवेकी कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष में एकत्व का अभ्यास होने से क्लेश एवं जन्म परम्परा हुई है तो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से क्लेश मिट जाय। कुछ विवेकी महानुभाव के धारणा एक क्षणिक चित्तवृत्ति है।' उसका भी आत्मा ध्यान करता है। 'कुछ विवेकी महानुभाव की धारणा है कि आत्मा तो शाश्वत् निर्विकार है। विकार का जब तक भ्रम है, तब तक जीव दु:खी है। ....विकार का भ्रम समाप्त शांत...। कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि दुष्कर्मों से जीव संसारीक यातनाएँ सहते हैं। यातनाओं का मुक्ति पाना सत् कर्म(है)। और कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि विकल्पात्मक वेद उपायों को ही जीव का संसार परिभ्रमण कर रहा है। इस भवभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से होती है। इत्यादि प्रज्ञापूर्वक अनेक धारणा हैं। इनमें से किसी भी धारणा को असत्य नहीं कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनमें कोई भी धारणा किसी दूसरे से विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है, वह सब एक ही है –' यह समयसार। बिल्कुल खोटी बात है। यह अन्तिम भूमिका में लिखा है। यह दिल्ली से छपा है न?

भाई! यह आत्मा जो कहलाता है, वह आत्मा तो कहीं वेदान्त कहो या दूसरा कहो, या लाख बात करे... यह आत्मा है, असंख्यप्रदेश जिसका क्षेत्र, वस्तु एक असंख्य प्रदेश क्षेत्र, अनन्त अनन्तानन्त क्षेत्र के प्रदेशों का माप नहीं, कहीं हद नहीं, इससे अनन्त... अनन्त गुण और इतनी ही उनकी पर्यायें। कहाँ है ऐसा आत्मा है? लाओ! समझ में आया? अज्ञानियों ने तो असर्वांश को सर्वांश माना है। यह तो सर्वांश पूरी चीज ऐसी अखण्ड है। नेमचन्दभाई!

इसलिए यहाँ कहते हैं कि यह जो ब्रह्मा आदि शब्द पड़े हैं, यह वे नहीं। ऐसा जो आत्मा है, वह जो पंच परमेष्ठीरूप परिणमता है, उसे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा जाता है। आहा...हा...! कितने ही इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि उनने तो ऐसा कहा है। भक्तामर स्तोत्र में कहा है। क्या आता है? विबुध बुध – ऐसा आता है। तुम बुद्ध कहते हो परन्तु यह बुद्ध अर्थात् इस स्वरूप है, उसे बुद्ध कहते हैं। अन्य बुद्ध को यहाँ बुद्ध कहते हैं – ऐसा नहीं है। समझ में आया?

इसलिए आचार्य लेते हैं, देखो! **'सो सिउ संकरू-विण्हु'** **'सो'** शब्द प्रयोग किया है पहला। वही आत्मा, वह जो आत्मा पहले कहा, पंच परमेष्ठी के स्वरूप से ध्यान करने योग्य, ऐसा कहा। **'सो सिउ, सो संकरु, सो विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु, सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धुं'** देखो! आचार्य ने एक-एक शब्द में **'सो'** शब्द लिखा है। फिर ब्रह्मा, विष्णु वह आत्मा – ऐसा नहीं। ऐसा जो आत्मा कहा... समझ में आया?

अरे भाई! यह तो वस्तु की स्थिति है। भगवान ने देखा इसलिए कुछ कहा दूसरा और देखा दूसरा – ऐसा नहीं है। ऐसी चीज ही है। अनादि स्वभाव के – छह प्रकार के स्वभाव का पिण्ड वह छह द्रव्य है। छह प्रकार के स्वभाव के पिण्ड छह द्रव्य, ऐसी अनादि वस्तु है। उसका एक-एक आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड है। अनन्त... अनन्त किसे कहते हैं? आहा...हा...! आकाश आकाश आकाश आकाश आकाश कहीं 'है' मैं से 'नहीं' आवे ऐसा नहीं है। उससे अनन्त गुने गुण... क्षेत्र इतना ऐसा न लो, क्षेत्र भले ही इतना हो – क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी, उसके गुणों की-जैसे यहाँ प्रदेश का कहीं अन्त नहीं है, यह उससे अनन्तगुने (गुण हैं)। उसके अन्त को क्या कहना? ऐसे अनन्त-अनन्त गुण का स्वरूप – पिण्ड भगवान का निर्मल परिणमन होना, उसे यहाँ वास्तव में आत्मा कहते हैं। समझ में आया?

वही शिव है... ऐसा शब्द पड़ा है न? देखो! **वही शिव है...** यह शिव है, ऐसा नहीं। जो दुनिया में शिव कहलाते हैं, वे आत्मा – ऐसा नहीं। ऐसा आत्मा, उसे शिव (कहते हैं)। भगवान ऐसी बात है। समझ में आया? क्योंकि शिव अर्थात् निरूपद्रव कल्याणस्वरूप है। **वह कल्याण का कर्ता है, उसका ध्यान करने से अपना हित होता है।** समझ में आया? इसलिए आत्मा भी स्वयं शिव है परन्तु ऐसा आत्मा, हाँ! आहा...हा...!

एक समय में द्रव्य जो शक्तिवान्। द्रव्य अर्थात् शक्तिवान्; शक्तियाँ अनन्तानन्त और उनका परिणमन भी जितने गुण उतना अनन्तानन्त, जिसकी एक समय में पर्याय। एक समय में, हाँ! वैसे त्रिकाल वह अलग बात है। एक समय में अनन्तगुण की पर्यायें कितनी? कि लोक के आकाश के, अलोक के आकाश के प्रदेश से भी एक समय की

एक जीव की अनन्त गुनी पर्यायें.... समझ में आया? जितने गुण हैं, उनकी प्रत्येक समय की पर्याय है या नहीं? '**पर्याय विजुत्तम् दव्वम्**' अथवा '**पर्याय विज्जुत्तम् गुण**' नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया?

आत्मा को शिव कहते हैं क्योंकि (आत्मा) कल्याण का कर्ता है। इसलिए इस आत्मा का पूर्ण स्वरूप, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और ध्यान करने से कल्याण होता है, इसलिए इस आत्मा को शिव कहा जाता है। दूसरा जगत् का शिव कहते हैं, वह नहीं।

वह शंकर कहने में आता है। आनन्द का लाभ देनेवाला आत्मा है। भगवान आत्मा ऐसे अनन्त गुणवाला परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वैसा आत्मा। उस आत्मा को यहाँ शंकर कहा जाता है। शंकर कहते हैं वह यह आत्मा – ऐसा नहीं। ऐसे आत्मा में अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु का ध्यान करने से आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द-सुख पड़ा है, वह उस दशा में आनन्द की प्राप्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर होती है; इसलिए उस आत्मा को शंकर कहा जाता है। समझ में आया?

वह विष्णु है। समझ में आया? **वह केवलज्ञान की अपेक्षा से सर्व लोकालोक का ज्ञाता होने से सर्व व्यापक है।** इस अपेक्षा से व्यापक, हाँ! ऐसे क्षेत्र से नहीं। भगवान ज्ञान.... प्रवचनसार में लिया है न? ज्ञेय प्रमाण ज्ञान, ज्ञेय लोकालोक (गाथा २३) **आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाण** और ज्ञेय लोकालोक। समझ में आया? प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने बहुत लिखा है, बहुत रखा है। समयसार (आदि में) तत्त्वों से भरे हुए ढेर पड़े हैं, कहीं ढूँढ़ने बाहर के किसी का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है, इतना भरा है अन्दर। समझ में आया?

विष्णु उसे कहते हैं, उसके एक ज्ञान की दशा के प्रगट विकास में उसकी – गुण की शक्ति ही ऐसी है कि लोकालोक को जानने की ताकत रखती है। वह प्रगट दशा लोकालोक को पहुँचती है.... जानने के लिए, हाँ! क्षेत्र से पहुँचती है या उसकी पर्याय में पड़ जाती है – ऐसा नहीं है। उस सम्बन्धी का ज्ञान पूरा स्वयं के ज्ञान में आ जाता है, इसलिए ऐसा भी आचार्य ने कहा कि लोकालोक व्यापक, वह ज्ञान ज्ञेयगत है और ज्ञेय ज्ञानगत है। दोनों बातें ली हैं न? प्रवचनसार में दोनों लिया है। यह समझाने के लिए।

जितना ज्ञेय लोकालोक, वह ज्ञान ज्ञेयगत है। इस अपेक्षा से; आ नहीं गया, जानने की अपेक्षा से (कहा है) और ज्ञान में ज्ञेय आये हैं। ज्ञान, ज्ञेयगत है और ज्ञेय, ज्ञानगत है। लोकालोक ज्ञेय ज्ञान में – जानने की पर्याय में आ गये हैं। वह नहीं परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान – इस अपेक्षा से ज्ञेय ज्ञानगत है – ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा केवल ऐसा उसका.... उसे संक्षिप्त कर डालना कि ऐसा केवल नहीं होता, ऐसा नहीं होता। अमुक नहीं होता! अमुक नहीं होता, केवलज्ञान में शंका करने लगे, हाँ! भूत, भविष्य में ऐसा नहीं होता, अमुक ऐसा नहीं होता। भगवान! यह वस्तु का स्वभाव है। भाई! उसमें ऐसे उलटे तर्क को स्थान नहीं होता। सुलटे तर्क को स्थान होता है। श्रुतज्ञानरूपी तर्क को (स्थान होता है)। कहो, समझ में आया?

इसे रुद्र कहा जाता है क्योंकि जैसे रुद्र दूसरे को भस्म करता है, वैसे भगवान आत्मा आठ कर्म को भस्म कर डालता है। भगवान आत्मा ही रुद्र है। दूसरा रुद्र वह यह नहीं परन्तु यह आत्मा, वह रुद्र। समझ में आया? आठों ही कर्मों का भुक्का! उसका अर्थ – अवस्था की कमजोरी का नाश। इस कारण रजकण की पर्याय आठ कर्म की है, उसका रूपान्तर उसकी पर्याय में जो कर्मरूप अवस्था है, वह अवस्था रूपान्तर होकर साधारण जड़ की अवस्था-पुद्गल की अवस्था हो जाती है। यह आठ कर्म का नाश (किया) – ऐसा कहा जाता है। यह भगवान आत्मा रुद्र है। समझ में आया? शंकर ने तीसरी आँख से काम को भस्म किया – ऐसा आता है या नहीं? तीसरी आँख से ऐसा (चलाया)। काम तो यहाँ है, वहाँ बाहर में कहाँ काम था? समझ में आया?

'बुद्ध' यह बुद्ध भी भगवान सच्चा बुद्ध। यह सर्व तत्त्वों का यथार्थ ज्ञाता बुद्ध है। **कोई बौद्धों को मान्य बुद्ध देव यथार्थ सर्वज्ञ परमात्मा नहीं हैं।** बुद्ध है, वह सर्वज्ञ है ही नहीं। वह तो साधारण प्राणी था। मिथ्यात्व था, अज्ञान था, एकान्त मिथ्यादृष्टि था। वह लोगों को रुचता नहीं कितने ही कहते हैं, अर...र...र...! बुद्ध भगवान हैं न! भाई! परन्तु भगवान किसके? सुन न! समझ में आया?

परमात्मा एक समय में पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, वह बुद्धं अर्थात् ज्ञानस्वरूप पूर्ण परिणमता है – ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा रखता है; इसलिए इस आत्मा को बुद्ध

कहते हैं – ऐसा आत्मा जहाँ जिसे प्रतीति में नहीं और क्षणिक को भी आत्मा मानता है, वह मान्यता झूठी, अत्यन्त अज्ञानभाव है, संसारभाव है। समझ में आया?

गाँधीजी ने श्रीमद् से प्रश्न किया है कि यह बुद्ध हैं, वे मोक्ष प्राप्त हुए हैं या नहीं? सत्ताईस प्रश्न, सत्ताईस प्रश्न किये हैं। गाँधीजी के समय में सत्ताईस प्रश्न, सत्ताईसवें वर्ष में हैं। सत्ताईसवें वर्ष में सत्ताईस प्रश्न हैं। समझ में आया? तो उन्होंने कहा कि बौद्ध के कथन और शास्त्र देखने से उनकी मुक्ति नहीं हो सकती और इसके अतिरिक्त दूसरे उनके अभिप्राय हो तो अपने को जानने मिले नहीं, तब तक हम कैसे कहें? परन्तु उन्होंने जो अभिप्राय कहें हैं, उससे तो वे मुक्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं। सत्ताईस वर्ष में है। समझ में आया?

बौद्ध लोगों को ऐसा है कि आहा...हा...! बहुत परोपकारी थे और ऐसा था... ऐसा कहते हैं न लोग? हैं? सत्ताईसवाँ वर्ष है और सत्ताईस प्रश्न हैं। बौद्ध का यहाँ होगा? आर्य धर्म क्या सबसे उत्पन्न हुआ है? आर्य धर्म क्या है? सब पता है। है इसमें? देखो, देखो, बौद्ध हैं, वे मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए। उनके शास्त्र देखने से उस कथन में ऐसा अभिप्राय है कि उन्हें मुक्ति नहीं हो सकती और उनके दूसरा कोई अभिप्राय हो तो अपने को जानने मिला नहीं। जानने मिलने के बाद उसका हम प्रमाण और निर्णय कर सकते हैं, इसमें कहीं है। अलग है, सत्ताईसवाँ है। बहुत करके... लाओ, यह ठीक, अब आया?

प्रश्न २०, पत्रांक ५३० – **बुद्धदेव भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए, यह आप किस आधार से कहते हैं?** सत्ताईस प्रश्नों में बीसवाँ प्रश्न है। **उनके शास्त्रसिद्धान्तों के आधार से। जिस प्रकार से उनके शास्त्रसिद्धान्त हैं, उसी के अनुसार यदि उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर विरुद्ध भी दिखायी देता है और वह सम्पूर्ण ज्ञान का लक्षण नहीं है।**

यदि सम्पूर्ण ज्ञान न हो तो सम्पूर्ण राग-द्वेष का नाश होना सम्भव नहीं है। जहाँ वैसा हो वहाँ संसार का सम्भव है। इसलिए, उन्हें सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता और उनके कहे हुए शास्त्रों में जो अभिप्राय है, उसके सिवाय उनका अभिप्राय दूसरा था, उसे दूसरी तरह जानना आपके लिए और

हमारे लिए कठिन है और वैसा होने पर भी यदि कहें कि बुद्धदेव का अभिप्राय दूसरा था तो उसे कारणपूर्वक कहने से प्रमाणभूत न हो, ऐसा कुछ नहीं है।

लाओ दूसरा अभिप्राय क्या था? वह लाओ। मोक्ष उन्हें है नहीं। मोक्ष कहाँ से लावे? इस जगत में बहुत बढ़ जाये, यह मान्यता करोड़ों अरबों में (होवे), इसलिए उत्कृष्ट है, बड़ा है – ऐसा किसने कहा? समझ में आया? इनकी बहुत मान्यता है न! चीन, और सर्वत्र बहुत है परन्तु क्या है? साधारण बात की है।

यह सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ जिसे बोध-ज्ञान जहाँ हो, उसे बौद्ध कहा जाता है। आहा...हा...! देखो! कहा है या नहीं इनने? **बुद्धु सो जिणु** उसे जिन कहते हैं, ऐसे आत्मा को जिन कहते हैं। वैसे तो जिन नाम धरानेवाले बहुत निकले, उसे **ईसरु** कहते हैं, उसे ईश्वर कहते हैं। पूर्ण शक्तिवाला ऐसा नाम उसे ईश्वर कहते हैं। समझ में आया?

ब्रह्मा कहा है न? फिर है **बंभु** लो! सत्य ब्रह्मा, **क्योंकि अविनाशी परम ऐश्वर्य का धारी वही परमात्मा है, जो परमकृतकृत्य व सन्तोषी है। सर्व प्रकार की इच्छा से रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है....** है न? **'बंभु' क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप में लीन है।** भगवान आत्मा आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में लीन है, उसे ब्रह्म कहते हैं। समझ में आया? यथार्थ धर्म का स्वरूप, उपाय बतलाता है, अथवा धर्म का कर्ता है, इसलिए ब्रह्मा है। दूसरे कहते हैं न ईश्वर को कर्ता.... परन्तु अपने स्वरूप का कर्ता इसलिए ब्रह्मा। उसे **'बंभु'** (कहते हैं।) लो, ऐसे अनन्त नाम लेना, अनन्त नाम लेना।

हजारों नाम लेकर भावना करनेवाला भावना कर सकता है। नाम लेना वह तो निमित्त है। परन्तु उसका स्वरूप जो आत्मा का है, उस प्रकार लक्ष्य में लेकर ध्यान करने का नाम वास्तव में ध्यान और संवर-निर्जरा है। नाम तो विकल्प है, कोई भी नाम लें, नाम लक्ष्य में लें तो विकल्प है। समझ में आया? फिर दृष्टान्त दिया है। **जैसे निर्मल क्षीर समुद्र में निर्मल तरंगें ही उत्पन्न होती हैं, वैसे शुद्धात्मा में सर्व परिणमन अथवा वर्तन शुद्ध ही होता है।** भगवान, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्मा आदि कहा आत्मा; उसका पूर्ण स्वरूप प्रगट होने पर स्वयं जब द्रव्य, गुण जब अपने शुद्ध और पूर्ण हैं, क्षीरसागर से भरा हुआ क्षीर सागर जब दूध से भरा हुआ है तो उसकी तरंगें भी दूध से भरी हुई हो सकती हैं। तरंगें –

लहरें इसी प्रकार भगवान आत्मा द्रव्य-गुण जब शुद्धस्वभाव में अनन्त गुण का रसकन्दरूप है तो उसकी दशा होने पर पर्याय भी अनन्त शुद्ध गुण के परिणमन के उसकी तरंगें हैं। समझ में आया ? उन अनन्त गुणों की पर्याय इतनी अनन्त उत्पन्न होती है, जैसे गुण-द्रव्य हैं, वैसी ही पर्याय निर्मल शुद्ध हो, तब उसे बुद्ध ईश्वर, ब्रह्मा, जिन कहा जाता है, कहो समझ में आया ? **शुद्ध ही होता है**। लो, फिर दृष्टान्त दिया है। ठीक।

समाधि शतक में कहा है – परमात्मा कर्ममल रहित निर्मल है, एक अकेले हैं इससे केवल हैं, वही सिद्ध हैं, वही सर्व अन्य द्रव्यों की व अन्य आत्माओं की सत्ता से निराला विविक्त हैं। वही अनन्त वीर्यवान होने से प्रभु हैं, वही सदा अविनाशी हैं, परम परमपद में रहने से परमेष्ठी हैं। यह सब नाम दिये हैं। समाधिशतक में, हाँ!

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

भक्तामर में कितने ही नाम दिये हैं। कहो, समझ में आया ? **वही उत्कृष्ट होने से परमात्मा हैं, वही परमात्मा हैं, वही सर्व इन्द्रादि से पूज्य ईश्वर हैं, वही रागादि विजयी जिन भगवान है**। लो ! यह आत्मा एक समय में प्रभु द्रव्य से देखो तो निश्चय है, पर्याय से देखो तो व्यवहार है। तो जहाँ परिपूर्ण पर्याय हो गयी, उसे देखो तो प्रमाण ज्ञान में पूर्ण द्रव्य गुण और पूर्ण पर्याय प्रमाण है पूरा। समझ में आया ? निश्चय में द्रव्य-गुण पूर्ण है और पर्याय पूर्ण नहीं, उसका ज्ञान करने से उस प्रकार का प्रमाण होता है, परन्तु पूर्ण प्रमाण तो पूर्ण पर्याय प्रगट हो, तब प्रमाण होता है। अब, १०६।

☆ ★ ☆

परमात्मदेव अपने देह में भी है

एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु विज्जइ भेउ॥ १०६॥

इन लक्षण से युक्त जो, परम विदेही देव।
देहवासी इस जीव में, अरु उसमें नहिं भेद॥

अन्वयार्थ – (**एव ही लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ**) इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजनदेव है (**देहहँ मज्झहिं सो वसइ**) तथा जो अपने शरीर के भीतर बसनेवाला आत्मा है (**तासु भेउ ण विज्जइ**) उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

☆ ★ ☆

परमात्मदेव अपने देह में भी है। आहा...हा...! इस गाथा में जरा फर्क है। शीतलप्रसादजी की गाथा में **एक हि लक्खण-लक्खियउ** ऐसा नहीं चाहिए। **एव हि लक्खण-लक्खियउ** चाहिए। 'एक' शब्द पड़ा है न? यह 'एक' नहीं चाहिए। **एव हि लक्खण** यह सब कहे न? आत्मा के लक्षण सब कहे न? ऐसा चाहिए। उसमें ऐसा होगा, देखो! 'एव' है न? वह ठीक है क्योंकि जो इस प्रकार पंच परमेष्ठी रूप हैं, ब्रह्मा विष्णु आदि जिसके नाम हैं, उस रूप से आत्मा का जो स्वरूप है, उस प्रकार **एव हि लक्खण लक्खियउ** ऐसा। इस लक्षण से लक्षित (होवे), उसे आत्मा कहा जाता है। समझ में आया? अद्‌भुत बात, भाई! तब दूसरे कहते हैं। महाराज! आप तो बहुत समेट-समेट कर तुम्हारे आत्मा की बात लाते हो। सबके देव भी तुम्हारे में समाहित कर देते हो। दूसरे के देव भी तुम आत्मा में समाहित कर देते हो... परन्तु यह आत्मा ऐसा है, उसमें समाहित कहाँ करना? ऐसा ही है। समझ में आया? **परमात्मदेव अपने देह में भी है। एव हि लक्खण-लक्खियउ** – ऐसा चाहिए।

एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु विज्जइ भेउ॥ १०६॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये लक्षणों से लक्षित... लो! यह पाँच आचार्य न सब कहा न? परमेष्ठी और... इस प्रकार... फिर अर्थ में ठीक किया है। **लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है...** ऊपर जो सब नाम दिये पंच परमेष्ठी के (वे और) शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बौद्ध, जिन, ईश्वर, और ब्रह्मा – ये सब लक्षण जो कहे, वे भगवान

पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का पिण्ड, उसका भान करके परिणति निर्मल आदि हुई; इसलिए वह **परमात्मा निरंजन देव है**। उसे परमात्मा निरंजनदेव कहा जाता है।

यह अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है.... यह सब परमात्मा का जो स्वरूप कहा, वह तेरे देह के भीतर-तेरे गर्भ में पड़ा है। समझ में आया ? माता के गर्भ में लड़का हो तो उसे मनुष्य जन्मे। अन्दर में बन्दर हो और मनुष्य जन्मे ? समझ में आया ? बन्दरी के पेट बन्दर है तो बन्दर हो तो बन्दर जन्में। ऐसे ही भगवान के गर्भ में अनन्त परमात्मा ऐसे पड़े हैं, रहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं कि **जो अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है**। इस देह-देवालय में प्रभु विराजमान हैं। उसे यहाँ परमात्मा (आदि) सभी विशेषण उसे कहे गये हैं। वह अन्दर वस्तुरूप से विराजमान है। पर्यायदृष्टि में भले फर्क हो (परन्तु) वस्तुरूप से तो ऐसा का ऐसा परमात्मा विराजमान है। समझ में आया ? आहा...हा... ! यह भगवान तो ऐसा कहते हैं कि मेरे प्रति भी लक्ष्य छोड़ और तेरा लक्ष्य कर तो तू भगवान होगा। मुँह के सामने ग्रास भगवान को नहीं रुचता, (बाकी) सबको रुचता है। मुँह में पहला ग्रास लेकर फिर खिलाते हैं या नहीं। पिता और पुत्र साथ जीमते हों तो पहला खाये और फिर लड़के को ग्रास दे, एक थाली में खाते हों तो, फिर वह स्वयं चबाता जाये और थोड़ा उसे दे। वीतराग कहते हैं कि परन्तु यह नहीं, यहाँ तो मुँह में ग्रास की ही न है। (हमारी) भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान इनकार करते हैं। आहा...हा... ! (क्योंकि) हम तुझसे परद्रव्य हैं न प्रभु ! मेरे प्रति लक्ष्य जाने से तुझे राग होगा। इसलिए हम ऐसा कहते हैं – परमात्मा की वाणी में ऐसा आता है कि तू तेरे स्वभाव के आश्रय में जा तो परमात्मा होगा। समझ में आया ? वह देह में बसा हुआ है, 'देह के मध्य में' भाषा प्रयोग की है, हाँ ! फिर, अपने शरीर के अन्दर **वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ** उन दोनों में कोई भेद न जान। ऐसे जो परमात्मा कहे, जितने गुण उतने नाम (कहे) वे सब तुझमें हैं, तू भेद न जान। आहा...हा... ! समझ में आया ? विशेष कहेंगे......

(**मुमुक्षु :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, श्रावण शुक्ल १०, बुधवार, दिनाङ्क २७-०७-१९६६
गाथा १०६ से १०८ प्रवचन नं. ४५

यह योगसार शास्त्र है। १०६ गाथा चलती है। परमात्मा का स्वरूप बहुत वर्णन किया न? जिन, शंकर, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, इत्यादि बहुत; और पाँच परमेष्ठी का स्वरूप वर्णन किया। उसमें यह कहा कि **इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजनदेव है.... एव हि लक्खण-लक्खियउ** परमात्मा, जिसका यहाँ वर्णन किया, पाँच परमेष्ठी अथवा ब्रह्मा आदि – ये सब परमात्मा के स्वरूप के लक्षणवाले हैं। **तथा जो अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है, इन दोनों में कोई भेद नहीं है। 'देहहँ मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ'** व्यवहार से पर्याय में, राग में, निमित्त के संयोग में भेद होने पर भी, आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में विचित्रता-विविधता अवस्था में होने पर भी, उस दृष्टि को बन्द रखकर, उस लक्ष्य को बन्ध रखकर, वह है अवश्य, उसका ज्ञान रखना। समझ में आया?

भगवान आत्मा की वर्तमान दशा में कर्म के निमित्त के वश अनेक प्रकार की विविधता और विचित्रता दशाएँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के बहुत प्रकार (पड़ने पर भी) उस लक्ष्य को उस दृष्टि को लक्ष्य में रखने पर भी, उसे भूलकर एक आत्मा परमात्मस्वरूप हूँ, वस्तुदृष्टि द्रव्यस्वभाव असली चैतन्यबिम्ब आत्मा, वह परमात्मा है – ऐसा साधकजीव को धर्मात्मा को आत्मा की निश्चयदृष्टि करना। समझ में आया?

भगवान परमात्मा में और मुझ में कुछ भेद नहीं है; भेद है, वह व्यवहारनय के विषय में जाता है। समझ में आया? वस्तुस्वरूप से चिद्घन आनन्दकन्द आत्मा को एकरूप दृष्टि से देखने से वह भेद परमात्मा और इसमें दिखता है, वह व्यवहार से है; वस्तु की दृष्टि से भेद है नहीं। इस प्रकार आत्मा को देखना। फिर अन्त में है, देखो!

समभाव ही मोक्ष का उपाय है। यह भाव (समभाव) लाने के लिए साधक को व्यवहारदृष्टि से भेद है... उसने स्वयं ऐसा डाला है। **ऐसा जानने पर भी, ऐसा धारणा में रखने पर भी इस दृष्टि का विचार बन्द करके, निश्चयदृष्टि से अपने आत्मा को और सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिए।** अपने आत्मा को जिस प्रकार व्यवहार के भेद गौण करके... अभाव करके नहीं, वस्तु के स्वभाव को अभेदरूप देखना – ऐसे ही दूसरे आत्माओं को भी इस प्रकार देखना। यह आत्मा है, यह तो शुद्ध आनन्दघन ही सब है – ऐसी दृष्टि करके **अपने आत्मा को और सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिए। एक समान शुद्ध निरंजन निर्विकार पूर्ण ज्ञान-दर्शन, वीर्य और आनन्दमय अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशी....** यह असंख्यात प्रदेश तो समझाया है। असंख्य प्रदेश... असंख्य प्रदेश... यह भी एक भेद है परन्तु वस्तु ऐसी है – ऐसा ज्ञान व्यवहार से होने पर भी, अन्तर में एक ज्ञानाकार देखना। वस्तु एक ज्ञानस्वरूप ही चैतन्यबिम्ब है – ऐसा अन्तरदृष्टि से देखना, जानना, अनुभव करना। समझ में आया? **उसे ही परमदेव मानना....** ऐसा विशेष, फिर अपनी बात थोड़ी की है।

समाधिशतक की थोड़ी बात की है। **जो कोई अपने शुद्धस्वरूप के अनुभव से छूटकर परभावों में आत्मपने की बुद्धि करता है....** भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध ब्रह्म आनन्दकन्द है – ऐसी दृष्टि छोड़कर, वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय में और पुण्य-पाप के परिणाम में आत्मबुद्धि करता है, वह स्वरूप से भ्रष्ट होता है। समझ में आया? **अपने में कषाय जागृत करता है....** ऐसी बुद्धि करने में कषाय की उत्पत्ति करता है। मिथ्यात्व, मोह कषाय अर्थात् मिथ्यात्व कषाय है। अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्यधाम है, उसे भूलकर अकेले व्यवहार के पक्ष में अपने आत्मा को स्थापित करता है, उसे मिथ्यात्वरूपी कषाय का भाग लग जाता है, उसे मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। समझ में आया? **मूर्ख बहिरात्मा इस दृश्यवान जगत के प्राणियों को तीन लिंगरूप – स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता है....**

मुमुक्षु – असंख्य प्रदेश तो स्वभाव है।

उत्तर – वह भी एक कहा, स्वभाव है परन्तु असंख्य प्रदेश – ऐसा लक्ष्य न करना, ज्ञान करना।

मुमुक्षु – स्वभाव से तो असंख्य प्रदेशी है।

उत्तर – है तो सही। द्रव्यदृष्टि से देखना, ऐसा। असंख्य प्रदेशी तो है परन्तु उसे ज्ञान में रखना; अभेद में यह असंख्य प्रदेशी है – ऐसा नहीं। विकल्प नहीं, भेद है न! अन्तर अभेद में नहीं, यह पहले कहा था। असंख्य प्रदेश भले इन्होंने लिखा है परन्तु वास्तव में तो एक प्रदेशी ही गिनने में आया है, लो! आता है न? पंचास्तिकाय! पंचास्तिकाय में ऐसा लिया है। एक प्रदेशी अर्थात् एकरूप, ऐसा। ऐसा लिया है। असंख्यप्रदेश हैं अवश्य, हाँ! यह वस्तु है। निश्चय से ऐसी है परन्तु असंख्य प्रदेश का ख्याल छोड़कर, एक प्रदेशी – एक स्वरूप – ऐसा पंचास्तिकाय में लिया है। एक प्रदेशी... एक प्रदेशी अर्थात् एकरूप, बस! ऐसा लिया है। असंख्य प्रदेश ख्याल में आवे तो विकल्प उठते हैं, भेद रहता है। समझे? है न कहीं असंख्य प्रदेश का? कहाँ है?

पंचास्तिकाय देखो, है। पहली लाईन है न? ३१ (गाथा) **जीव वास्तव में अविभागी एक द्रव्यपने के कारण लोकप्रमाण एक प्रदेशवाले हैं।** हैं न? '**जीवा अविभागैकद्रव्यत्वाल्लोक-प्रमाणैकप्रदेशाः**' एक ओर लोकप्रमाण परन्तु एक प्रदेश.... वस्तु अभेद, ऐसा। पंचास्तिकाय ३१ वीं (गाथा) है।

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा॥ ३१॥

'अमृतचन्द्राचार्य' ने टीका लिखी है। असंख्य यह तो भेद हो गया, व्यवहार (हुआ) वापिस भेद हो गया। इसलिए असंख्य नहीं – ऐसा नहीं और कोई यह कहे कि यह असंख्य है, यह तो व्यवहार ही है – ऐसा प्रश्न उठता है। बहुत वर्ष पहले एक भाई ने प्रश्न किया था, हंसराजभाई। अभ्यासी थे न, अमरेली। बहुत वर्ष हुए (संवत्) १९७९ के साल की बात है, १९७९ वे कहें, आत्मा को असंख्यप्रदेश है नहीं, वह तो व्यवहार है। कहा, वह व्यवहार नहीं, वह असंख्य प्रदेश यथार्थ है परन्तु असंख्य प्रदेश का भेद – विचार करना, वह व्यवहार है। वस्तु असंख्य (प्रदेशी) नहीं है – ऐसा नहीं है। फिर तो जैसे वेदान्त कहते हैं – ऐसा हो जाता है। ऐसा नहीं है। है असंख्यप्रदेशी; एक-एक अंश उसके असंख्य प्रदेश हैं। लोक के आकाश के प्रदेश जितने इसके प्रदेश हैं परन्तु इन

असंख्य पर लक्ष्य जाने से भेद रहता है; इस कारण उसे एक प्रदेशी समूहरूप से गिनकर एक प्रदेशी कहा है। इससे असंख्य प्रदेश चले गये हैं – ऐसा नहीं है।

(ऐसा कोई कहता है कि) यह असंख्य कहा, वह तो व्यवहार से... व्यवहार से अर्थात् मिथ्या। ऐसा नहीं है। समझ में आया? हमारे तो यह चर्चा बहुत होती थी न। सम्प्रदाय में बहुत (चर्चा हुई है)। उन हंसराजभाई को वाचन बहुत था, अमरेली। संस्कृत पढ़े हुए, वाचन (अवश्य) परन्तु कुछ नहीं। यह असंख्य प्रदेशी कहा है, वह तो कल्पना है, वह व्यवहार है – ऐसा नहीं है। असंख्य प्रदेश, निश्चय से असंख्य प्रदेश हैं परन्तु असंख्य के भेद का विचार करना, वह विकल्प और व्यवहार है, इस अपेक्षा से एक प्रदेशी कहा गया है। यह पंचास्तिकाय उन ने पढ़ा अवश्य न! वे पढ़ते थे। यहाँ है न, लोकप्रमाण एक प्रदेशी क्या कहा? लोकप्रमाण, लोकप्रमाण तो कह दिया। संस्कृत पाठ है देखा न! – **अविभागैकद्रव्यत्वाल्लोकप्रमाणैकप्रदेशाः** वस्तु निश्चय से है।

जैसे आकाश, अनन्त प्रदेशी निश्चय से है; धर्मास्ति, असंख्य प्रदेशी निश्चय से है। यह शक्ति में भी आता है न? भाई! सैंतालीस शक्ति में आता है। नियतप्रदेशत्व, नियतप्रदेशत्व एक शक्ति है। सैंतालीस शक्तियों में नियतप्रदेशत्व शक्ति है। यह असंख्य प्रदेश नियतप्रदेशत्व है परन्तु असंख्य का जहाँ लक्ष्य लेने जाये वहाँ भेद उठता है, इसलिए उसे असंख्य का भेद लक्ष्य करने से व्यवहार (कहा है) वस्तु व्यवहार नहीं, वस्तु तो असंख्य प्रदेशी वस्तु है। आहा...हा...!

जैनदर्शन की वस्तु ऐसी है कि उसे जिस प्रकार कही है और उस प्रकार है। आत्मा में अनन्त गुण नहीं? परन्तु अनन्त गुण हैं ऐसा, भेद करने जाये वहाँ विकल्प उठता है। एक रूप वस्तु है, इस कारण अनन्त गुण उसमें से चले गये हैं? द्रव्य एक है, इसलिए अनन्त गुण चले गये हैं? परन्तु अभेद में अभेद दृष्टि से देखने पर भेद दिखाई नहीं देता। अभेद में भेद नहीं – ऐसा नहीं परन्तु अभेद में देखने से भेद दिखाई नहीं देता क्योंकि भेद देखने जाये, वहाँ विकल्प उठते हैं और अभेद में नहीं रहता। बात यह है। समझ में आया?

नियतप्रदेशत्व, है न? शक्ति है, हाँ! एक की एक बात आचार्यों ने तो ओ...हो...! सत् को बहुत प्रसिद्ध किया है, स्पष्ट किया है। देखो, **जो अनादि संसार से लेकर**

संकोच-विस्तार से लक्षित है और जो चरमशरीर के परिमाण से किंचित् न्यून परिणाम से अवस्थित होता है – ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म अवयवपना.... अवयवपना, संस्कृत टीका में है, हाँ! **अवयवपना जिसका लक्षण है – ऐसी नियतप्रदेशत्व शक्ति (आत्मा के लोकपरिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही है। वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोच-विस्तार पाते हैं और मोक्ष अवस्था में चरम शरीर से किंचित न्यून परिमाण से स्थित रहते हैं)।** (२४)। 'नियत' शब्द प्रयोग किया है, हाँ! नियतप्रदेशत्व शक्ति एक है।

आत्मा में नियतप्रदेशत्व नाम का एक गुण है कि जो नियत असंख्य प्रदेशी निश्चय से है परन्तु असंख्य प्रदेश ऐसे हैं – ऐसा भेद करने जाये वहाँ विकल्प उठते हैं, इसलिए उसे गौण कर देना। वस्तु चली नहीं गयी, वस्तु तो असंख्य प्रदेशी ही है। यहाँ 'नियतप्रदेश' (शब्द) प्रयोग किया है। नियतप्रदेशत्व शक्ति – ऐसा शब्द प्रयोग किया है। सैंतालीस शक्ति में है। कहो, इसमें समझ में आया? जैन को दूसरे अन्य के साथ मिलाने को कितने ही गड़बड़ करते हैं। यह तो असंख्य प्रदेश कहे हैं, वह व्यवहार से कहे हैं। समझे न? ऐसा नहीं है। असंख्य प्रदेश निश्चय से है परन्तु उनका – असंख्य प्रदेशों का लक्ष्य करने जाये, वहाँ व्यवहार-विकल्प उठता है, इस अपेक्षा से असंख्य का लक्ष्य नहीं करना, एक का करना। इससे एक का लक्ष्य करने से असंख्य नहीं हैं, व्यवहार से कहे थे इसलिए, अभूतार्थ नय से कहे थे – ऐसा नहीं है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया? सूक्ष्म बहुत इसमें, छोटूभाई! बहुत सूक्ष्म, भाई! यह दया पालना, ईर्या.... वीया मिच्छामिदुक्कडम करना, वह यह बात नहीं है। आहा...हा...!

असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण व्यापक हैं – ऐसे एक-एक प्रदेश में अनन्त... अनन्त... अनन्त... ऐसे बिछे हुए हैं। तिरछे... तिरछे... तिर्यक प्रचय ऐसे असंख्य प्रदेश। और ९९ वें में लिया है न? भाई! ९९ वें गाथा, प्रवचनसार... बताना है तो उस पर्याय को, परन्तु वहाँ दृष्टान्त दिया है – एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का अभाव है। एक दूसरे प्रदेश में तीसरे प्रदेश का अभाव है। व्यतिरेक। इस प्रकार असंख्य प्रदेश हैं। ९९ वीं गाथा, ज्ञेय अधिकार। आत्मा का ज्ञेयपना कितना है – ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? परन्तु

ऐसे असंख्य यह संख्या जहाँ लक्ष्य में लेने जाये, उसमें विकल्प उठते हैं। आहा...हा...! भीखूभाई! यह सूक्ष्म बात है। इस दुकान में पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा उसमें कठिनता से किसी दिन सुने उसमें – ऐसा आवे, उसमें ऐसा सूक्ष्म आवे। कहते हैं, हम मुश्किल से आये वहाँ से दुकान छोड़कर.... परन्तु समझने का यह है। कुछ समझ में आया?

(यहाँ पर) समाधिशतक में (कहते हैं) भगवान! **ज्ञानी इस जगत का निश्चय से एक समान शब्दरहित वह निश्चय ज्ञाता है।** लिंग-विंग नहीं। यह स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग और नपुंसक, भावभेद और भावभेद में अन्तर यह भी नहीं। वह तो पर्याय है, वस्तुरूप से एकाकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा परमस्वभावस्वरूप एक है – ऐसी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है। समझ में आया? भेद को लक्ष्य में रखना, भूल न जाना। भूल अर्थात् वह नहीं है – ऐसा नहीं है परन्तु व्यवहार का अभाव करके निश्चय करना – ऐसा नहीं। व्यवहार को गौण करके निश्चय करना – ऐसी वस्तु है। अभाव करे तो वह वस्तु नहीं – ऐसा हुआ। आहा...हा...! वीतराग शासन ऐसा है। भाई! १०६ (गाथा पूरी) हुई। लो!

☆ ★ ☆

आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु॥ १०७॥

सिद्ध हुये अरु होंयगे, हैं अब भी भगवन्त।
आतम दर्शन से हि यह, जानो होय निःशङ्क॥

अन्वयार्थ – **(जिण उत्तु)** श्री जिनेन्द्र ने कहा है **(जे सिद्धा)** जो सिद्ध हो चुके हैं **(जे सिज्झिहिहिं)** जो सिद्ध होंगे **(जे सिज्झहि)** जो सिद्ध हो रहे हैं **(ते वि फुडु अप्पा दंसणि)** वे सब प्रगटपने आत्मा के दर्शन से हैं **(एहउ णिभंतु जाणि)** इस बात को सन्देह रहित जानो।

☆ ★ ☆

१०७। **आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है।** लो, इसमें से थोड़ा अर्थ चाहिए हो तो, इसमें थोड़ा अर्थ है, थोड़ा शब्दार्थ है। यह परमात्मप्रकाश का है, दूसरा अलग किया है।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु॥ १०७॥

ओ...हो...हो...! **श्री जिनेन्द्र ने कहा है....** देखो! भगवान योगीन्द्रदेव आचार्य भी भगवान को बीच में लाते हैं। भाई! परमात्मा तो ऐसा कहते हैं। जिनेन्द्रदेव वीतराग परमेश्वर, जिन्हें पूर्ण ईश्वरता पर्याय में प्रगट हो गयी है – ऐसे जिनेन्द्र प्रभु ऐसा **उत्तु** ऐसा **उत्तु** – ऐसा कहते हैं। **जो सिद्ध हो गये हैं....** अभी जितने सिद्ध अनन्त हुए और **जो सिद्ध होंगे....** भविष्य में सिद्ध होंगे। देखो! तीन काल ले लिये और **जो सिद्ध हो रहे हैं...** महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सिद्ध हो रहे हैं। समझ में आया? महाविदेहक्षेत्र में छह महीने और आठ समय मुक्ति कहीं बन्द नहीं हो गयी है। भरत और ऐरावत में नहीं है तो वहाँ छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

जो कोई अनन्त सिद्ध हुए, जो अनन्त सिद्ध होंगे, इससे अनन्तगुने हुए, ऐसा होने पर भी वस्तु तो इतनी की इतनी एक शरीर के अनन्तवें भाग में... समझ में आया? **वे सर्व प्रगट रूप से...** यह। **ते वि फुडु फुडु – प्रगटरूप से आत्मा के दर्शन से है।** आत्मा के दर्शन से मुक्ति प्राप्त हुए हैं। अनन्त सिद्ध हुए, वे भगवान आत्मा का अनुभव करके प्राप्त हुए हैं। आत्मदर्शन। भेददर्शन, व्यवहार दर्शन – ऐसा नहीं। आत्मदर्शन, एक समय में पूर्ण प्रभु, वह अनन्त गुण का धाम एक रूप, उसका दर्शन करके अर्थात् अनुभव करके; जो अनन्त सिद्ध हुए, वे अनुभव से हुए; अनन्त सिद्ध होंगे, वे अनुभव से होंगे; अभी सिद्ध होते हैं, वे अनुभव से सिद्ध होते हैं। समझ में आया? तीन काल लक्ष्य में ले लिये। ओहो...हो...! तीनों काल में एक ही मार्ग है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – ज्ञान, चारित्र कहाँ गये?

उत्तर – वे इसमें – दर्शन में आ गये। आत्मा पूर्णानन्द प्रभु का दर्शन हुआ, वहाँ ज्ञान भी सम्यक् हुआ, प्रतीति सम्यक् हुई और स्वरूपाचरण की स्थिरता शुरु हो गयी।

चौथे गुणस्थान से अनुभव शुरु हो जाता है। आहा...हा... ! यह सब बातें पण्डितजी को सब पता है। वहाँ से अलग पड़कर निकले हैं न! बहिन भी एक बार नहीं कहती थीं? ऐसा कुछ कहती थीं। मैंने कहा, उनसे अलग क्यों पड़े? एक बार तुम ऐसा बोलते थे, एक ओर वे निकल गये। रतनचन्दजी साथ में रहते थे न? तुम यहाँ बोले थे, रास्ता अलग हो गया। साथ रहते थे... मार्ग तो बापू! यह है वही है। आहा...हा... ! समझ में आया? चौथे गुणस्थान से,.... स्वयं आगे कहेंगे, हाँ! देखो! यहाँ है। स्वयं कहेंगे।

मुमुक्षु – ....

उत्तर – द्रव्यदृष्टि से ऐसा भेद भी नहीं, यह आनन्द है – ऐसा भेद भी नहीं। दृष्टि का विषय ऐसा द्रव्य में नहीं। ज्ञान के अखण्ड में भी नहीं, ज्ञान के ज्ञेय के अखण्ड में भी भेद नहीं और दर्शन की द्रव्यदृष्टि में भेद नहीं। यह आनन्द, यह तो समझाना है, वरना आनन्दमय है; एक भिन्न गुण से देखना वह व्यवहार है। यह तो समझाने की विधि है कि एक ज्ञायक है। अनन्त गुण आ जाते हैं। प्रवचनसार में आया है, नहीं? एक असाधारण ज्ञानगुण को कारणरूप से ग्रहण करके... ऐसा आया है। प्रवचनसार। कैसे सिद्ध होता है? अन्तिम अधिकार। एक असाधारण ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहण करके जो कार्यरूप दशा को प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रवचनसार है। शास्त्र में तो सब बात (आयी है)। लिखा है ज्ञान! समझ में आया? कितने में है? ए...ई... ! थोड़ा लिख रखना चाहिए, मुँह के आगे। अपने यह बात हो गयी है।

एक असाधारण ज्ञान को ग्रहण करके.... इक्कीस गाथा – **इन्द्रियों के अवलम्बन से अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रम से केवली भगवान नहीं जानते, (किन्तु) स्वयमेव समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से...** यह संस्कृत टीका है, हाँ! अनादि अनन्त (अर्थात्) भेद नहीं। अहेतुक – कोई हेतु नहीं, असाधारण (अर्थात्) दूसरा गुण नहीं। इस **ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं;...** ज्ञान से हुआ परन्तु इससे यह ज्ञान ऐसा भी नहीं। यह भेद हो गया। समझाने के (लिए ऐसा कहा)। ज्ञान परमभाव

है न! यह ज्ञायक है, ऐसा होने से असाधारण, जो दूसरा नहीं – ऐसा गुण... ऐसे असाधारण गुण को अहेतुक को, अनादि-अनन्त को कारणरूप ग्रहण करके अर्थात् विकल्प आदि के व्यवहार को कारण (रूप) ग्रहण करके केवलज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। यह अन्दर असाधारण ज्ञान आनन्दस्वरूप एकरूप को कारणरूप ग्रहण करके ऊपर... अर्थात् पर्याय में केवलज्ञानरूप होकर परिणमित हो जाता है। देखो! है न? **प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिए उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से समक्ष संवेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञान की) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं**। भगवान को प्रत्यक्ष है – ऐसा तेरा स्वभाव है, भाई! शक्ति का ऐसा स्वभाव है और व्यक्त होने में वह उसे कारणरूप ग्रहण करके ऊपर पर्याय में, जो ऊपर अल्पज्ञ आदि है, उसे (ज्ञानस्वभाव को) कारणरूप ग्रहण करके एकाकार होने से पर्याय में केवलज्ञान के उपयोगरूप परिणमित हो जाता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत इसमें... भाई! वह तो अरूपी है न! अरूपी के लक्षण अरूपी, उसका स्वभाव अरूपी, उसका कार्य अरूपी, कारण अरूपी, उसके गुण अरूपी। समझ में आया?

कहते हैं, **इस बात को सन्देहरहित जानो। णिभतुं** भगवान आत्मा के दर्शन से ही मुक्ति को प्राप्त हुए। आत्मा के दर्शन से ही मुक्ति को प्राप्त होंगे, आत्मा के दर्शन से मुक्ति को वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में (पाते हैं)। यह मुनि लिखते हैं, तब पंचम काल के हैं न यहाँ? यहाँ कहाँ केवल (ज्ञान) है? समझ में आया? समझे?

मोक्ष का उपाय केवलमात्र अपने ही आत्मा का अनुभव है। लो, दर्शन का अर्थ अनुभव है। मूल अनुभव ही कहना है। **मोक्ष आत्मा का पूर्ण स्वभाव है**। मोक्ष आत्मा का पूर्ण स्वभाव है। **मोक्षमार्ग उसी स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान द्वारा अनुभव है**। क्या (कहा)? मोक्ष आत्मा का पूर्ण स्वभाव और मोक्षमार्ग **उसी स्वभाव की....** स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान द्वारा अनुभव, वह मार्ग है। उस स्वभाव का, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति अर्थात् चारित्र द्वारा अनुभव (होना), वह अनुभव मोक्ष का मार्ग है। अनुभव मोक्षमार्ग....

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप;
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।

पर्याय मोक्षस्वरूप कहो। वस्तु मोक्षस्वरूप, त्रिकाल मोक्षस्वरूपी है, मुक्त ही है। परम स्वभावभाव परिणामी मुक्तस्वरूप है। उसे बन्ध कैसा और उसे आवरण कैसा? ऐसे मुक्तस्वभाव की शरण लेकर जो अन्तर अनुभवदशा प्रगट होती है, वह अनुभव – मार्ग पर्याय है। वह पर्याय, मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया?

अपना ही आत्मा साध्य है, अपना ही आत्मा साधक है। उपादानकारण ही कार्यरूप हो जाता है। शुद्ध उपादानस्वभाव स्वयं ही परिणमित होकर पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी कार्य को पा जाता है। भले बीच में संहनन या कुछ भी हो। समझ में आया? वज्रनाराचसंहनन और मनुष्यपना, वह कहीं केवलज्ञान प्राप्त करने के काम में नहीं आता। स्वयं ही शुद्ध भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धस्वभाव, वह अन्तर में एकाकार होकर परिणमता-परिणमता पूर्ण कार्यरूप परिणमित हो जाता है। उपादानकारण, कार्यरूप परिणम जाता है। समझ में आया?

सोने का दृष्टान्त दिया है। **स्वर्ण स्वयं ही धीरे-धीरे शुद्ध होता है।** स्वयं ही... पंचास्तिकाय में दृष्टान्त है न! भाई! अग्नि का निमित्त कहा है, बाद में कहा। स्वर्ण स्वयं ही अपने कारण से, उपादान से शुद्ध होता, होता सोलहवान हो जाता है; दूसरा तो निमित्त से कहा। पदार्थ स्वर्ण-सोना स्वयं भी अपनी शुद्धता से परिणमता... परिणमता... परिणमता... परिणमता.... परिणमता सोलहवान हो जाता है। सोलहवान कहते हैं? सोलहवान। अग्नि तो निमित्त है। समझ में आया? **सोना स्वयं से ही कुन्दन (शुद्ध स्वर्ण) हो जाता है।**

इस दशा को आत्मा का दर्शन अथवा आत्मा का साक्षात्कार कहते हैं। लो! भगवान आत्मा ज्ञान में ज्ञेयरूप भी अभेद आया, श्रद्धा में भी द्रव्य अर्थात् अभेद आया। उसमें स्थिर होना वह अनुभव हुआ, पर्याय। अनुभव, द्रव्य-गुण का नहीं हो सकता, अनुभव, पर्याय का होता है क्योंकि ज्ञान सबका होता है। तीन काल-तीन लोक का (होता है) परन्तु अनुभव तो एक समय की पर्याय का (उसका) ही वेदन होता

है। यह वेदन जो आत्मा का अनुभव, वही मोक्ष का मार्ग है। ओ...हो... हो... ! व्यवहारवालों को बहुत कठिन पड़ता है। व्यवहार है, भाई! ऐसा कहा न? है, परन्तु उसका लक्ष्य छोड़कर, उसका आश्रय छोड़कर, यहाँ भगवान पूर्णानन्द प्रभु का आश्रय कर, तभी अनुभव की शुरुआत होती है, तभी मोक्षमार्ग की शुरुआत होती है। समझ में आया?

आत्मा का दर्शन अथवा आत्मानुभव भी एक सीधी सड़क है, जो मोक्ष के सिद्धमहल तक गयी है। भई! यह सड़क कहाँ जायेगी? यह सड़क है न कहाँ जायेगी? जाओ, तलहटी तक। पालीताणा की तलहटी तक जायेगी। यह सड़क जाती है न! यह सीमेण्ट कंकरीट की कहाँ जायेगी? जाओ सीधी तलहटी तक। जहाँ शत्रुंजय है, उसकी तलहटी तक जाती है। ऐसे **आत्मा का दर्शन अथवा आत्मानुभव ही एक सीधी सड़क है, जो मोक्ष के सिद्धमहल तक गयी है।** मोक्षरूपी प्रासाद – महल तक यह सड़क गयी है। समझ में आया? भगवान वहाँ महाविदेह में विराजमान हैं। ऐसे विराजते हैं ऐसा कहा न? ऐसे विराजते हैं। इस प्रकार सिद्धपने की पर्याय की सीधी सड़क, वह आत्मानुभव का जो अन्तर अनुभव, श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति से करना, वह सीधी सड़क मोक्ष के महल तक जाती है। पूर्ण कार्य तक चली जाती है। पूर्ण कार्य तक वह कारण चला जाता है। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं इसमें? नटूभाई! बहुत सूक्ष्म परन्तु इसमें।

मुमुक्षु – सड़क की बात समझ में आती है?

उत्तर – यह सड़क की बात है? यह तो दृष्टान्त दिया, यह तो दृष्टान्त। सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त है, या दृष्टान्त सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त है?

भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव परमानन्द की मूर्ति का अनुसरण करके होना – अनुभव – उसे अनुसरण करके होना; राग और निमित्त का अनुसरण छोड़कर पूर्णानन्द स्वभाव का अनुसरण करके होना – ऐसा जो पर्याय में आनन्द और शान्ति का अनुभव, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही आ गये। यह सीधी सड़क सिद्ध पद की पर्याय के महल तक पहुँच जाती है। **दूसरी कोई गली नहीं है।** ऐसा लिखा है। ऐ... ई... ! कोई कहे, यह कहाँ जाये? यह सीधी गली है, दूसरा कोई बीच में (आता है) ? तो कहते हैं

बीच में कोई नहीं। उलटा-सीधा रास्ता नहीं, सीधी सड़क है। कुछ नहीं, सीधी सड़क है। हमें तो बहुत रास्ता पूछना पड़ता न? जब बाहर निकलते तब। अठारह हजार मील घूमे थे न जब? तब बहुत पूछना पड़ता था (संवत्) २०२० की साल में मोहनभाई पूछे – यह सड़क कहाँ गयी? सीधी (जाती है)। बीच में (कुछ) आयेगा? नहीं, सीधी (जाती है)। आगे जाने पर दो मील दूर एक मार्ग इस ओर से निकलेगा, उसे छोड़ देना – ऐसा कहे। बाकी सीधी चली जाएगी। तुम थे या नहीं, कितनी ही बार? ये भी उसमें थे। कहो, समझ में आया?

जिस पर चलकर वहाँ पहुँचा जा सकता है, सिद्धपद न तो किसी की भक्ति से मिल सकता है.... यह परमात्मा साक्षात् विराजमान है, उनकी भक्ति से कहीं मुक्ति नहीं है। बीच में यह शुभभाव आये बिना रहता नहीं। वीतराग नहीं हुआ, तब तक पूर्णानन्द के आश्रय की परिणति होने पर भी... ऐसा भक्ति का शुभभाव आता है परन्तु वह सड़क नहीं है। वह बीच में ऐसा भाव अशुभ से बचने के लिए... ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो उस काल में वह शुभ (भाव) आये बिना नहीं रहता। वस्तुस्थिति ऐसी है। समझ में आया? लो!

सिद्धपद न तो किसी की भक्ति से मिल सकता है या न बाह्य तप, जप, और चारित्र से मिल सकता है। बाहर का तप – उपवास आदि या जप – भगवान... भगवान... भगवान... (करना) या व्यवहार पंच महाव्रत के परिणाम आदि, उनसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। **वह तो केवल अपने ही आत्मा के यथार्थ अनुभव से प्राप्त हो सकती है।** ठीक लिखा है। समझ में आया? फिर वह द्रव्य गुणों का समुदाय है – ऐसा लिखा है। द्रव्य है वह गुण का समुदाय है। **गुणों में जो परिणमन होता है,** गुणों में जो परिणमन होता है, **उसे ही पर्याय कहते हैं।** समझ में आया?

१५ वीं गाथा में नहीं आया? अपने पण्डितजी थे तब। ज्येष्ठ महीना... पंचास्तिकाय!

भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति॥ १५॥

यह चर्चा अपने ज्येष्ठ महीने में बहुत चली थी। २०१३ की साल, ज्येष्ठ महीना।

पण्डितजी दस दिन आये थे न? **गुणपज्जयेसु भावा** प्रत्येक द्रव्य अपने गुण के पर्याय में '**उप्पादवए भावा पकुव्वंति**' '**उप्पादवए भावा पकुव्वंति**' द्रव्य उसके उत्पाद-व्यय को करता है। १५वीं गाथा है। समझ में आया? लो! (फिर) अनन्त गुण का सागर है – ऐसा लेंगे।

मुमुक्षु – उत्पाद-व्यय-ध्रुव तो ध्रुव परिणमनशील है।

उत्तर – नहीं, नहीं। ध्रुव परिणमनशील नहीं। परम पारिणामिकभाव तो एकरूप सदृश है।

मुमुक्षु – परमपारिणामिकभाव है, उसका परिणमन तो केवलज्ञानरूप भी होता है और मतिश्रुतज्ञानरूप भी होता है।

उत्तर – वह भी होता है। मति श्रुत भी होता है, पहले मति श्रुत आदि होता है, फिर केवलज्ञान होता है। उसका ही परिणमन पर्यायदृष्टि से। द्रव्यदृष्टि से वह ऐसा का ऐसा ही है। द्रव्य से तो परम पारिणामिक ऐसा का ऐसा है। पर्यायदृष्टि से देखो, पर्यायदृष्टि से देखो तो उस ध्रुव का यह उत्पाद-व्यय का परिणमन, वह उसका है। वह पर्यायदृष्टि से देखो तो.... द्रव्यदृष्टि से देखो तो ऐसा का ऐसा है। वह परिणमता नहीं है – द्रव्य परिणमता नहीं है, द्रव्य कूटस्थ है। पर्याय परिणमती है द्रव्य तो कूटस्थ है, अपरिणमन है। द्रव्यस्वभाव (इसलिए तो) सदृश शब्द लिया है न? उसका अर्थ भी सदृश लिया है। ऐसा का ऐसा।

मुमुक्षु – ......

उत्तर – वह कूटस्थ दृष्टि में आया... परिणमनशील पर्याय में लक्ष्य में आता है। लक्ष्य में पर्याय में आता है परन्तु लक्ष्य में जो चीज आती है, वह अपरिणमनशील है, वस्तु – द्रव्य अपरिणमनशील है परन्तु लक्ष्य में आता है अनित्यपर्याय से... अनित्य परिणमन पर्याय से लक्ष्य में आता है। वह ध्रुव से लक्ष्य में नहीं आता, पर्याय में लक्ष्य से आता है परन्तु लक्ष्य में क्या (आया)? ध्रुव, कूटस्थ है।

मुमुक्षु – पारिणामिकभाव में भी पर्याय है?

उत्तर – गुण है, पर्याय नहीं। गुणरूप त्रिकाल एकरूप। पर्याय तो जो उत्पन्न हुई

वह, वह तो पर्यायदृष्टि। गुणस्वरूप ही है, वह तो गुणवान, वाला (ऐसा) भेद भी नहीं है, गुणस्वरूप ही है।

यहाँ तो यह चीज है, यह एकरूप ध्रुव, एकरूप ध्रुव। वास्तव में तो निश्चय का स्वरूप ही ध्रुव है। यह तो पर्याय है, उत्पाद-व्यय यह सब व्यवहार का विषय है, परन्तु है। दूसरे प्रकार यदि कहें तो यह पारिणामिक है, उसकी ही यह पर्याय है परन्तु यह व्यवहारनय की अपेक्षा से। पारिणामिकस्वभाव है, वह तो निश्चय से एकरूप त्रिकाल, एकरूप त्रिकाल, कम नहीं, विशेष नहीं, परिणमन नहीं, भेद नहीं, परन्तु जो लक्ष्य करनेवाला है, वह पर्याय है। पर्याय से लक्ष्य होता है। करना किसका? उस द्रव्य का। करे कौन? पर्याय। ध्रुव तो लक्ष्य करता नहीं, ध्रुव तो एकरूप है। पर्याय का जो अनुभव है, वह 'यह द्रव्य सामान्य है' – ऐसा निर्णय करता है। समझ में आया?

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि शुद्ध गुणों का सागर है। लो! विशेष लिया है। **चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आत्मा का अनुभव शुरु हो जाता है।** इस ओर है, भाई! **वह दूज के चन्द्रमा समान....** यह परमात्मप्रकाश में डाला है भाई ने – दौलतरामजी ने। परमात्मप्रकाश में है। जैसे दूज का चन्द्रमा होता है, उतना अनुभव चौथे से थोड़ा (शुरु) हो जाता है, वह बढ़ते-बढ़ते पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। यह सब पर्यायें हैं, ध्रुव तो ऐसा का ऐसा है, वह है। उसमें कहीं कम ज्यादा होता है – ऐसा है नहीं। केवलज्ञान हो तो वहाँ पर्याय शक्ति कम है और मतिज्ञान हुआ अनन्तवें भाग में तो वहाँ शक्ति अधिक है – ऐसा कुछ है नहीं। वह तो एकरूप त्रिकाल एकरूप है।

उस दिन भाई ने कहा, नहीं? उसमें अपने नहीं, लब्धित्रय में। अकलंकदेव! गुण का लक्षण सदृशता। वह वस्तु कायम एकरूप सदृश... सदृश... सदृश... सदृश... सदृश... उत्पाद-व्यय हैं, वह विसदृश है। सदृश से उल्टा दूसरा विसदृश अर्थात् भाव-अभाव, भाव-अभाव, उत्पाद वह भाव, व्यय वह अभाव। भाव-अभाव। वह भाव-भाव एकरूप सदृशभाव, एकरूप सदृशभाव, यह विसदृशभाव। विसदृश, वह व्यवहारनय का विषय, सदृश वह निश्चयनय का विषय। दोनों एक साथ कहो तो प्रमाण का विषय हो गया। समझ

में आया ? वस्तु ही ऐसी है, वहाँ उसमें की किसने है ? वस्तु ही ऐसी अनादि की चीज है। समझ में आया ?

चन्द्रमा के समान है। लो ! यह **उसी आत्मानुभव के सतत अभ्यास से पाँचवें गुणस्थान के योग्य....** आगे बढ़ जाता है – ऐसा कहते हैं। **आत्मानुभव को ही धर्मध्यान कहते हैं।** धर्मध्यान कोई दूसरी चीज नहीं है। आत्मानुभव, वह धर्मध्यान है। धर्म अर्थात् त्रिकाली स्वभाव, उसका ध्यान – एकाग्रता (होना), वह तो आत्मा का अनुभव, धर्म, वह धर्मध्यान है। दूसरे कहते हैं, शुभयोग, धर्मध्यान है। अरे... ! भगवान ! अद्‌भुत बात।

एक बार नहीं कहा था ? भद्र, पण्डितजी ! पण्डितजी को पता है। (एक व्यक्ति कहता था) सम्यक्त्वी को धर्मध्यान नहीं है, भद्र ध्यान है। वह कहा था न ? परन्तु भद्र भले आवे परन्तु उसका अर्थ क्या ? ऐसा नहीं। वह तो भद्र अर्थात् सरल – सीधा ध्यान। धर्मध्यान उग्ररूप से वह शुक्लध्यान है। यह अभी एकदम उग्र नहीं है। आहा...हा... ! शुक्लध्यान, ऐसा लिखा है और **कषाय मल अधिक दूर....** होने से शुक्लध्यान होता है। **यह मोक्षमार्ग वर्तमान में भी....** अपने सार-सार लेते हैं, (बाकी दूसरा) बहुत अधिक लिखा है। **भविष्य में अनन्त सुख का कारण है।**

मोक्षमार्ग तो वर्तमान आनन्द है। आनन्द है, दु:ख कैसा ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्वभाव पूर्ण है, उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान, और रमणता, यह तीनों आनन्दमूर्ति हैं। सम्यग्दर्शन, आनन्दरूप है; ज्ञान, आनन्दरूप है और चारित्र, आनन्दरूप है। मोक्षमार्ग वर्तमान आनन्ददाता है (और) भविष्य में पूर्ण आनन्द का दाता है। समझ में आया ? अनन्त सुख का कारण है।

मुमुक्षु को व्यवहार धर्म का बाह्य... यह कुछ नहीं, इसमें गड़बड़ है। थोड़ी गड़बड़ कहीं डाल देते हैं। निमित्त की तो गड़बड़ डाल देते हैं। निमित्त है न ! लो ! अब अन्तिम श्लोक, अन्तिम श्लोक, लो ! आज पूरा होता है। ज्येष्ठ कृष्ण ३ से शुरु किया था। चिमनभाई के वास्तु में, शान्तिभाई तुम्हारे (वहाँ) वास्तु था न, उस दिन ज्येष्ठ कृष्ण ३, वार सोमवार था न ? सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३ सोमवार को वहाँ शुरु किया था। वास्तु (था), नया मकान (बनाया)। आज अब पूरा होता है।

☆ ★ ☆

ग्रन्थकर्ता की अन्तिम भावना

संसारह भय-भीयएण जोगिचन्द्र मुणिएण।
अप्पा-संवोहण कया दोहा इकक-मणेण॥ १०८॥

भव भीति जिनके हृदय, 'योगीन्दु' मुनिराज।
एक चित्त हो पद रचे, निज सम्बोधन काज॥

अन्वयार्थ – (**संसारह भय-भीयएण**) संसार के भ्रमण से भयभीत (**जोगिचंद-मुणिएण**) योगिचन्द्राचार्य मुनि ने (**अप्पासंवोहण**) आत्मा को समझाने के लिए (**इक्क-मणेण**) एकाग्रचित्त से (**दोहा कया**) इन दोहों की रचना की है।

☆ ★ ☆

ग्रन्थकर्ता की अन्तिम भावना।

संसारह भय-भीयएण जोगिचन्द्र मुणिएण।
अप्पा-संवोहण कया दोहा इकक-मणेण॥ १०८॥

पहले शुरुआत में ऐसा कहा था कि जो भवभीरु जीव है, उनके लिए मैं बनाता हूँ। यहाँ स्वयं (कहते हैं) मैं अपने आत्मा के लिए, सम्बोधन के लिए, मैंने मेरी भावना की एकाग्रता के लिए (रचना की है)। जैसे नियमसार में कहा न प्रभु ने? कुन्दकुन्दाचार्य ने **णियभावणाणिमित्तं मए कदं** मेरी भावना के लिए मैंने यह कहा है, भाई! ऐसे ही यहाँ आचार्य स्वयं कहते हैं कि **अप्पा-संवोहण कया** – मेरी आत्मा को मैंने सम्बोधन किया है, भाई! हे आत्मा! तू परमानन्द की मूर्ति है, उसमें स्थिर हो, उसमें स्थिर हो, उसमें स्थिर हो। दृष्टि और ज्ञान हुआ है परन्तु उसमें अब स्थिर हो। ऐसे सम्बोधन के कारण मैंने यह रचा है। समझ में आया?

संसार के भ्रमण से भयभीत.... अरे! चार गति का भव (उसका) भय, जिसे भय लगा हो... समझ में आया? उसके लिए कहते हैं। चार गति का डर लगा है। आहा...हा...! पराधीनता, दुःखरूप दशा। स्वर्ग का भव भी दुःखरूप पराधीन है। चार गति

ली है, हाँ! (मात्र) दु:ख ऐसा नहीं, दु:ख से डरे ऐसा नहीं। **संसारह भय-भीयएण** 'संसार' शब्द से चार गति। अकेला दु:ख और उकताहट, वह तो द्वेष है। उसमें तो इसे सुख की, स्वर्ग की इच्छा है।

भगवान आत्मा के आनन्द से बाहर निकलने पर जो शुभाशुभपरिणाम होते हैं, उसका फल संसार है। वह समस्त संसार दु:खरूप है। समझ में आया? सर्वार्थसिद्धि का भव करना, वह भव भी दु:खरूप है। समझ में आया? तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होना, वह भाव भी दु:खरूप है – ऐसा कहते हैं, हाँ! अरे... भगवान! आनन्दसागर में से निकलना, (उसमें) चार गति का भय है कि अरे! यह मुझे न हो। यहाँ पर कहेंगे, हाँ! **योगीन्द्राचार्य मुनि ने आत्मा को समझाने के लिए....** आत्मा को समझाने के लिए। **एकाग्रचित्त से इन दोहों की रचना की है।**

ग्रन्थकर्ता योगीन्द्राचार्य ने प्रगट किया है कि उन्होंने अपने ही कल्याण के निमित्त से इन दोहों की रचना की है। दोहा कहे, उनमें से फिर (लोग) निकालते हैं देखो! इन्होंने दोहे रचे हैं या नहीं? भाई! यहाँ तो निमित्तपने हुआ, उसकी बात करते हैं। वह रजकण की दोहे की पर्याय तो अनन्त स्कन्ध की स्वतन्त्र हुई है। लिखा परन्तु यह लिखने का क्या आशय है? यह समझना चाहिए न! अरे... भगवान! क्या हो? 'यह कहा' देखो... स्वयं कह गये हैं कि किसी का – रजकण का कर्ता आत्मा नहीं है। कर्ता-हर्ता आत्मा एक रजकण की पर्याय का नहीं है और दोहा (कहे) दोहे मैंने किये... यहाँ तो दोहे के रचना काल में मेरा एक विकल्प जो था, निमित्त था उसमें मैं था – ऐसा बताते हैं। मैं तो उसके ज्ञान में, विकल्प के ज्ञान में मैं हूँ। विकल्प में नहीं तो उसमें – पर की पर्याय में मेरी पर्याय स्पर्शित हुई है और हुई है (–ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! समझ में आया?

शब्द में ताकत है स्व-पर वार्ता कहने की। यह शब्द उसरूप परिणमे हैं। भगवान आत्मा का भाव वहाँ स्पर्श नहीं होता। (कोई ऐसा पूछे कि) तब ऐसा ही भाव कैसे आया? परमाणु की ऐसी पर्याय उसके स्वयं के भावरूप परिणमित होने की है। क्या आत्मा का भाव वहाँ उसे छूता है? आत्मा की पर्याय वहाँ संक्रमित होती है रजकण की पर्याय में? कर्ता नहीं, भाई! जहाँ विकल्प उत्पन्न हुआ, उसका भी कर्ता नहीं, वहाँ दोहे की रचना (का

कर्ता कहाँ से होगा) ? मात्र रचना के काल में मेरी यह भावना थी, उसमें यह हुआ। इसलिए दोहे बनाये – ऐसा कहा जाता है, ऐसा है।

मुमुक्षु – लिखा तो सही न।

उत्तर – लिखा यही तो विवाद है न।

मुमुक्षु – अकर्ता है तो लिखे किस प्रकार?

उत्तर – कर्ता है नहीं तीन काल-तीन लोक में। भगवान आत्मा का स्वभाव, विभाव का कर्तृत्व भी जिसके स्वभाव में नहीं है। ऐसा कोई गुण नहीं कि विकार को करे। भगवान आत्मा, राग का अकर्तास्वभाववाला उसमें गुण है। समझ में आया? यह उसमें शक्ति है। सैंतालीस (शक्तियों में) अकर्तापने की शक्ति है। अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, पर का, हाँ! आहा...हा...! राग को और भोग को, विकार को, अनुभव करना – ऐसा कोई गुण नहीं है। गुण हो तब तो त्रिकाल राग का कर्तृत्व खड़ा रहेगा और कभी मुक्ति नहीं होगी, सम्यग्दर्शन नहीं होगा। उसका गुण-धर्म यदि दुःख भोगने का हो, तब तो दुःख से मुक्त अर्थात् दुःख से मुक्त जैसा स्वरूप है, वह सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में आयेगा ही नहीं। सम्यग्दर्शन ही नहीं होगा। भाई! ऐसी बात है। आत्मा और आत्मा का कोई गुण कर्ता-भोक्ता है ही नहीं। ऐसा भी यहाँ परमाणु की पर्याय का रचना काल में एक यह ज्ञान ऐसा था कि ऐसा होता है। इससे उन्हें मैंने रचे – ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

कहते हैं कि – **वे कहते हैं कि मुझे संसार भ्रमण का भय है।** सन्त भवभीरु थे। भगे, तीर्थंकर जैसे तीन ज्ञान के स्वामी भी संसार को पीठ देकर भगे। आहा...हा...! जैसे अग्नि सुलगती हो और पीछे बाघ आता हो और मनुष्य भागे... आग लगी, आग। यह चार गति के भव और भव का भाव दुःखरूप है। वे भय को प्राप्त हुए हैं। स्वर्ग के सुख से भय को प्राप्त हैं। समझ में आया? इसलिए कहते हैं, **संसार में आत्मा को अनेक प्राण धारण करके अनेक कष्ट सहन करना पड़ते हैं, वहाँ परम निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं होती है।**

मिथ्यात्व का गाढ़पना रहता है, जिससे प्राणी अपने आत्मिक अतीन्द्रिय

सुख को नहीं पहचानता। मिथ्यात्व का पागलपन, जब पागलपन है, भ्रमणा है। शुभभाव में लाभ, पाप में मजा, संयोग अनुकूल हो तो सुविधा बहुत, प्रतिकूल हो तो हैरान-हैरान (हो गये) – ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव पागलपन है। **जिससे प्राणी अपने आत्मिक अतीन्द्रिय सुख को नहीं पहचानते, इन्द्रियसुख में आसक्त होकर रहते हैं।** वह तो इन्द्रिय के लोभी रहते हैं। समझ में आया? और विषय-भोग की इच्छा अथवा लोक के सुख की इच्छा है तो उसके निमित्त अनुकूल हों, उसका प्रेम उसे हटता नहीं है; प्रतिकूल हो उसका द्वेष हटता नहीं है। कोई अपने इन्द्रिय-विषय का प्रेमी को इन्द्रिय-विषय में विघ्न करनेवाला हो, उसके प्रति द्वेष हुए बिना नहीं रहे। मानता है न यह कि यहाँ से मुझे मिलता था। समझ में आया? और उसमें विघ्न करनेवाला होता है कि यह कहाँ से अभी आया? और उसके अनुकूल सामग्री साधनवाले पर उसे राग होता है।

मिथ्यादृष्टि ज्ञेय के दो भाग करके – इष्ट-अनिष्ट के भाग करके, मिथ्यात्व के राग-द्वेष करता है। ज्ञेय के भाग हैं ही नहीं। ज्ञेय तो जाननेयोग्य सब चीज एकरूप ही है। उसके सब अनुकूल, उसके सब प्रतिकूल – यह वस्तु कहाँ है? वस्तु में नहीं और ज्ञेय में नहीं। ज्ञेय में है – ऐसा स्वभाव? इष्ट होने का, अनिष्ट होने का – ऐसा वस्तु का स्वभाव है? समझ में आया?

कहते हैं, जिसकी चाहना रहती है, वह रोग है। **इच्छा की जलन होना वह एक प्रकार का रोग है।** आहा...हा...! विषय की अर्थात् बाहर की अनुकूलता में उल्लसित वीर्य स्फुरे, वह रोग है, रोग है। निरोग भगवान आत्मा, उसमें वह रोग है। उस रोग को जीतने का उपाय भगवान आत्मा की शरण है। **आचार्यदेव प्रगट करते हैं कि मुझे संसार का भय है अर्थात् मैं राग-द्वेष-मोह के विकार से भयभीत हूँ।** देखो, राग-द्वेष से भयभीत है, यह आकुलता... आकुलता दुःख है। **मैं उसमें पड़ना नहीं चाहता।** मैं राग -द्वेष में पड़ना नहीं चाहता। मैं राग-द्वेषरहित स्वभाव है, उसमें रहना चाहता हूँ। समझ में आया? अन्तिम श्लोक है न!

आत्मिक आनन्द का ही स्वाद लेना चाहिए। निराकुल अतीन्द्रिय सुख को भोगना चाहिए। आत्मा का दर्शन करना चाहिए। इस ग्रन्थ के भीतर आचार्य ने

इसी शुद्ध आत्मा की भावना कर अपने आत्मा का हित किया है। अध्यात्मतत्त्व का विवेचन परम हितकारी है, आत्मिक भावना का हेतु है। लो! **यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने अपने ही उपकार के लिए ग्रन्थ की रचना की है, तथापि शब्दों में भावों की स्थापना करने से व उनको लिपिबद्ध करने से पाठकों का भी परम उपकार किया है।** समझ में आया ? यह ग्रन्थ की बात की है, लो!

फिर अन्त में समयसार का कलश, तीसरा दिया है। **आचार्य कहते हैं कि निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति का धारक हूँ।** अमृतचन्द्राचार्य!

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते,
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥

अब, यह टीका करने में मेरा लक्ष्य तो आत्मा की एकाग्रता का है। इस टीका के काल में मेरी शुद्धि बढ़ो – ऐसी जो भावना है, वह आत्मा की भावना है, ऐसा। **अनादि काल से मेरी अनुभूति, विभावपरिणामों की उत्पत्ति के कारण मोहकर्म के उदय के प्रभाव से राग-द्वेष से निरन्तर मैली हो रही है।** अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि पर्याय में कर्म के निमित्त में लक्ष्य जाने से मेरी पर्याय उसके भाव से मलिन हो रही है।

मैं इस समयसार ग्रन्थ का व्याख्यान करके यही याचना करता हूँ कि यही मेरी अनुभूति परम शुद्ध हो जावे,... लो! ग्रन्थ पूर्ण करने का यह फल... देखो! तब दूसरे क्या कहते हैं ? देखो! यह शास्त्र-ग्रन्थ करते-करते जो विकल्प उठता है न, वह निर्जरा का कारण है। इस गाथा का ऐसा अर्थ करते हैं। परपरिणति... अरे... प्रभु! यह शब्द तो निमित्त से कथन है। उस समय मेरा स्वभाव तरफ का ऐसा अभेद, ऐसा एकाकार – ऐसा जो मेरा झुकाव है, वह इस विकल्प के काल में झुकाव इस ओर विशेष वर्तता है, उससे मेरी शुद्धि होओ, उसमें ऐसा कहा है कि यह टीका करते हुए मेरी शुद्धि होओ। ऐसे कथन कुछ और भाव कुछ... समझ में आया ?

वीतरागी हो जावे, परम शान्तरस से व्याप्त हो जावे, समभाव में तन्मयता

हो जावे, संसारमार्ग से मोक्षमार्गी हो जावे। लो! इस टीका के काल में मेरा यह होओ – ऐसी आचार्य भावना करते हैं।

मंगलमय अरहन्त को, मंगल सिद्ध महान।
आचारज पाठक यती, नमहुँ सुख दान॥
परम भाव परकाश का, कारण आत्मविचार।
जिस निमित्त से होय सो, वंदनीक हरबार॥

पाठक अर्थात् उपाध्याय। फिर पाँच मांगलिक करके अरहन्त भगवान आदि मंगलकारी हैं, भगवान हैं। ये पाँचों मंगलिक हैं। परमभाव प्रकाश कारण आत्मविचार है। यह आत्मा का अनुभव, वह परमभाव परमात्मा का प्रकाश करने का कारण है – ऐसा कहकर यह ग्रन्थ पूर्ण किया है।

(**मुमुक्षु :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

। इति योगसार प्रवचन।

जगत में बलिहारी है

अहो! सन्तों के श्रीमुख से आत्मा के आनन्द की अथवा सम्यग्दर्शन की बात सुनने पर भी आत्मार्थी जीव को कैसा उल्लास आता है! सन्तों के हृदय में से प्रवाहित वह आनन्द का झरना कैसी भी प्रतिकूलता को भूला देता है और परिणति को सुख-सागर स्वभाव की ओर ले जाता है। यही मुमुक्षु का जीवन ध्येय है।

अहा! सम्यग्दर्शन कैसी परम शरणभूत वस्तु है कि किसी भी प्रसङ्ग में उसे स्मरण करने से जगत का सम्पूर्ण दु:ख विस्मृत होकर आत्मा में आनन्द की स्फुरणा जागृत होती है। तब उस सम्यग्दर्शन के साक्षात् वेदन की क्या बात! वस्तुत: उन आनन्दमग्न समकिती सन्तों की जगत में बलिहारी है। *(रत्न संग्रह, पृष्ठ २)*